कृति : आचार्य हेमचन्द्र रचित
देशीनाममाला का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन

कृतिकार : डॉ० शिवमूर्ति शर्मा

संस्करण

मूल्य :

प्रकाशक : देवनागर प्रकाशन,
चौड़ा रास्ता, जयपुर

मुद्रक एलोरा प्रिन्टर्स, जयपुर

---

A LINGUISTIC STUDY OF DESHINAMAMALA ACHARYA HEMCHANDRA'S by Dr SHIVMURTI SHARMA

# प्राक्कथन

एक ग्रामीण अंचल का निवासी होने के कारण, प्रारम से ही मुझे ग्रामीण भाषा और उसमे व्यवहृत होने वाली शब्दावली से लगाव रहा है। सस्कृत के अध्ययन ने इस रुचि मे और भी परिष्कार किया। सस्कृत की स्नातकोत्तर कक्षा मे वैदिक साहित्य के विशिष्ट अध्ययन से यह रुचि और भी परिष्कृत हुई। वेदो मे व्यवहृत भाषा कितने जन-भाषा के तत्वो से मण्डित है। इन तत्वो की खोज करने की प्रेरणा और भी वलवती हो उठी। इसी बीच मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ के अध्ययन के बीच 'देशी' शब्दो पर ध्यान गया। स्वाभाविक रुचि होने के कारण मैंने इस विषय को शोध-कार्य के रूप मे ग्रहण करना चाहा। परमपूज्य गुरु डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ( अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग ) एव डा० माता बदल ( जायसवाल ) की कृपामयी अनुकम्पा से मुझे इस विषय पर कार्य करने का प्रोत्साहन भी मिल गया। प्रारम्भ मे समवेत रूप से 'देशी' शब्दो के आलोडन की भावना से अध्ययन प्रारम्भ किया। अध्ययन की इसी परम्परा मे आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' पर दृष्टि गयी। इस ग्रन्थ की क्लिष्टता और परम्परा के कारण विद्वानो द्वारा की गयी उपेक्षा ने पहले तो हतोत्साहित किया, पर गुरुओ की प्रेरणा ने कार्य को इसी ग्रन्थ तक सीमित कर आगे बढाने का साहस दिया।

आचार्य हेमचन्द्र की देशीनाममाला भारतीय कोश साहित्य मे तो अद्भुत है ही, समस्त विश्व के कोशो मे भी विलक्षण है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसकी रचना अपने व्याकरण ग्रन्थ 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के पूरक ग्रन्थ के रूप मे की थी। वे अपने शब्दानुशासन को पूर्णता तक पहुचाना चाहते थे, अत उन्होने तत्सम और तद्भव शब्दो का आख्यान कर लेने के बाद युग-युगो से जनभाषाओ मे व्यवहृत होते आये, एव समय-समय पर साहित्य मे स्थान पाने वाले असदर्भ्य 'देशी शब्दो' का प्रत्याख्यान 'देशीनाममाला' मे किया। समवेत रूप से देशीनाममाला के महत्व-निदर्शन का यह प्रथम प्रयास है। इस पर कार्य करने के बीच जितनी कठिनाइया सामने आयी हैं, सभी का उल्लेख कर पाना कठिन है , प्राकृत तथा अपभ्रंश के मर्मज्ञविद्वान् डा० माताबदल जायसवाल तथा प्रो. महावीरप्रसाद लखेडा जी ने पग-पग पर आने वाली कठिनाइयो का निवारण अत्यन्त उदारतापूर्वक किया है।

इस शोध–प्रबन्ध मे निहित अध्ययन को दो खण्डो मे बाट दिया गया है प्रथम खण्ड मे चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय–आचार्य हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और उनके कृतित्व का निदर्शन है। द्वितीय अध्याय–देशीनाममाला के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। तृतीय अध्याय–देशीनाममाला मे आयी हुई उदाहरण की गाथाओ के साहित्यिक सौन्दर्य पर प्रकाश डालता है। चतुर्थ अध्याय–देशीनाममाला के सास्कृतिक महत्व का निदर्शन है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का द्वितीय खण्ड देशीनाममाला के भाषावैज्ञानिक महत्व पर प्रकाश डालने वाला है। इस खण्ड मे कुल तीन अध्याय हैं। पचम अध्याय 'देशी' शब्दो के स्वरूप विवेचन तथा उनके उद्भव एव विकास की सैद्धान्तिक चर्चाओ से सबधित हैं। षष्ठ अध्याय मे देशीनाममाला के 168 देशी शब्दो को हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियो मे स्वल्प परिवर्तन के साथ ज्यो का त्यो व्यवहृत होते दिखाया गया है। सातवा अध्याय 'देशी शब्दो के भाषाशास्त्रीय अध्ययन से सबद्ध है। इस अध्याय का पूरा अध्ययन ध्वनिग्रामिक, पदात्मक एव अर्थ गत तीन खण्डो मे विभाजित है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का सारा अध्ययन कुल दो खण्डो और सात अध्यायो मे विभाजित है, जिनमे देशीनाममाला के विविध पक्षो का सुष्ठुप्रकाशन एव उसके महत्व–निदर्शन का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य को सम्पन्न करने की बलवती प्रेरणा मुझे अपने पूज्य गुरु डा० मातावदल जायसवाल जी से मिली। समय समय पर श्रद्धेय गुरु डा० लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय की कृपा–प्रेरणा ने भी मुझे आगे बढ़ने मे प्रोत्साहित किया है। सच पूछा जाये तो डा० वार्ष्णेयजी की स्नेहमयी प्रेरणा ने ही मुझे यह गुरुतर कार्य–भार उठाने की शक्ति दी थी। सस्कृत विभाग के प्रो० महावीरप्रसाद लखेडा जी ने नित्य मुझे विषय से सम्बन्धित नवीन सूचनाए देकर अनुग्रहीत किया है। अत इन सभी का मैं हृदय से आभारी हू। अन्य विभागीय गुरुओ से भी मुझे समय–समय पर प्रेरणा एव सहायता मिलती रही है, अत इन सभी का मैं हृदय से आभारी हू। परम आदरणीय श्री राजकिशोर सिंह (वरिष्ठ प्रवक्ता हिन्दी–विभाग यूइग क्रिश्चियन कालेज–इलाहाबाद) ने भी इस शोधकार्य मे पर्याप्त सहायता की है, अत मैं उनका भी हृदय से आभारी हू। मेरे परमहितैषी मित्र श्री सूर्यनारायण मिश्र डा० हरिशंकर तिवारी तथा डा० पद्माकर मिश्र ने भी पर्याप्त सहयोग दिया है अत मैं इनके प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता हू। इस शोधप्रबंध के टङ्कण का कार्य मेरे प्रिय मित्र श्री मेवालाल देखेकधी ने रुचि' लगन एव योग्यता के साथ किया है, अत' मैं इनका भी आभारी हू सहायक ग्रन्थो की सूची अन्त मे परिशिष्ट के रूप मे दे दी गयी है।

—डॉ० शिवमूर्ति शर्मा

# अनुक्रमणिका

# आमुख

आचार्य हेमचन्द्र का 'देशीनाममाला' नामक कोशग्रन्थ भारतीय कोशग्रन्थ परम्परा मे तो अद्‌भुत है ही, समस्त विश्व के कोषो मे भी अद्‌भुत एव विलक्षण है। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ पालि, प्राकृत अपभ्र श आदि की प्रकृति को भलीभाति समझने मे इस कोश ग्रन्थ का सूक्ष्म अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'देशीनाममाल' 'देशी' शब्दो का एक कोशग्रन्थ है। इसमे लगभग 4,000 देशी शब्दो का संकलन है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस कोश मे देशी शब्दो का अर्थ देने के साथ ही उनके प्रयोग निदर्शन के लिए अत्यन्त सुन्दर एव उच्चकोटि के साहित्यिक पद्यो की रचना भी की है। इसी कोष ग्रन्थ के साहित्यिक एव भाषावैज्ञानिक महत्व का प्रतिपादन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय रहा है। भारतीय साहित्य परम्परा मे आचार्य हेमचन्द्र वहुमुखी प्रतिभा से युक्त विद्वान रहे हैं। उन्होने धर्म, दर्शन, व्याकरण और साहित्य–लगभग सभी विपयो से सम्बन्धित ग्रन्थो की रचना की थी। देशीनाम-माला उनके प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ सिद्ध हैमशब्दानुशासन का पूरक ग्रन्थ है। आचार्य हेमचन्द्र ही अकेले ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होने, सस्कृत प्राकृत और अपभ्र श — सभी परम्परा प्रचलित साहित्यिक-भाषाओ का व्याकरण लिखा। एक ही ग्रन्थ सिद्ध हैमशब्दानुशासन मे उन्होंने तत्सम और तद्‌भव दोनो ही शब्दो का प्रत्याख्यान किया। तत्पश्चात् व्युत्पत्ति की दृष्टि से गूढ एव असदर्म्य देशी शब्दो का परिगणन देशीनाम-माला मे कर, अपने शब्दानुशासन को सभी दृष्टियो से पूर्ण बनाया।

आचार्य हेमचन्द्र के लगभग सभी ग्रन्थो पर अधिकारी विद्वानो ने कार्य किया है, पर देशीनाममाला लगभग उपेक्षित ही रहा है। 1874 ई के पहले तो सभवत. लोग इस ग्रन्थ के बारे मे जानते भी नही रहे होगे। बुल्हर ने पर्याप्त परिश्रम के बाद पिशेल के साथ मिलकर 1880 ई मे इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराया पर ये लोग प्रकाशन कार्य तक ही सीमित रहे, इस ग्रन्थ की महत्ता का

प्रतिपादन न कर सके। इस क्षेत्र मे रामानुजस्वामी ने पहला कदम रखा, पर वे भी देशीनाममाला की ग्लासरी तैयार करने और इसके शब्दो की सस्कृत से कुछ भ्रामक व्युत्पत्तिया देने के अतिरिक्त कुछ न कर सके। इसके बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० मुरलीधर बेनर्जी ने इस दिशा मे स्तुत्य प्रयास किया। उन्होने विस्तृत भूमिका और आलोचनात्मक टिप्पणिया तथा अग्रेजी अनुवाद के साथ इसे दो भागो मे विभक्त करके प्रकाशित कराया। परन्तु इसका प्रथम भाग (भूमिका तथा मूलपाठ) ही आज प्राप्त है। द्वितीय भाग सम्भवत वे पूरा नही कर सके। मुरलीधर बेनर्जी के बाद अनेको ग्रन्थो मे छिट पुट उल्लेखो के रूप मे ही देशीनाममाला का नाम आता है। देशी शब्दो का एकमात्र ग्रन्थ होने के कारण अधिकारी विद्वान् इसका उल्लेख तो करते रहे है, पर गहराई मे उतरकर किसी ने भी इसके महत्व-प्रतिपादन का प्रयास नही किया। इस दिशा मे इस शोध प्रबन्ध को प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। देशीनाममाला पर कार्य करते-करते, परम्परा प्रसिद्ध विद्वानो की अनेको भ्रान्तिया भी सामने आ गयी हैं, जिन्हे बिना किसी लाग-लपेट के साफ-साफ स्पष्ट कर दिया गया है। पूरे शोधकार्य के बीच शोधकर्त्ता का अपना एक निश्चित दृष्टिकोण रहा है सर्वत्र ग्रन्थकार के साथ चलकर ही समस्याओ पर प्रकाश डाला गया है। देशी-नाममाला को लेकर आचार्य हेमचन्द्र की तरह-तरह की आलोचनाएँ हुई हैं। बुल्हर ने तो इसे 'देशी' शब्दो का कम तद्भव शब्दो का अधिक कोष माना। परन्तु मैंने सर्वत्र हेमचन्द्र के दृष्टिकोण की रक्षा करने का प्रयास किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने जिस दृष्टि से इस ग्रन्थ का सकलन किया है, उनकी उसी दृष्टि को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

एक बात यहा और भी स्पष्ट कर देने की है— जहा तक देशी शब्दो के स्वरूप, उनके उद्भव और विकास का प्रश्न है, परम्परा के विद्वानो ने तरह-तरह का वितण्डा खडा किया है। कोई इन्हे आर्येतर शब्द बताता है तो कोई सस्कृत का ही विकार। परन्तु इन सभी विवादो से परे मैंने देशी शब्दो को युग युगो से चली आयी सामान्य जन-भाषा से सम्बन्धित माना है। आचार्य हेमचन्द्र का भी लगभग यही मत है। सामान्य जनजीवन मे प्रचलित बोलचाल के शब्द ही, देशी-नाममाला के सकलन के प्रमुख आधार रहे हैं हेमचन्द्र ने लोक में व्यवहृत और साहित्य मे अव्यवहृत शब्दो की ही गणना इस कोषग्रन्थ मे की है। ये तो हुए कुछ पूर्वनिश्चित दृष्टिकोण, जो अध्ययन की दिशा का निर्धारण करते हैं; शोध प्रबन्ध की विविध दिशाओ का सक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

पूरा शोध-कार्य दो खण्डो और सात अध्यायो मे बाट कर सम्पन्न किया गया है। प्रथम खण्ड आलोचनात्मक है—जिसमे लगातार चार अध्याय हैं। इन अध्यायों

मे हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व, देशीनाममाला के स्वरूप एव उसके साहित्यिक तथा सास्कृतिक महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड देशीनाममाला के भाषावैज्ञानिक महत्त्व पर प्रकाश डालता है। इसमे निहित तीन अध्यायो (5, 6, 7) मे क्रमश देशी शब्दो का स्वरूप-विवेचन उनका उद्भव तथा विकास, देशी शब्दो का हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे विकास एवं देशी शब्दो का भाषाशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। एक एक अध्याय मे निहित अध्ययन की दिशाओ का उल्लेख इस प्रकार है।

अध्याय 1—इस अध्याय मे आचार्य हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आचार्य हेमचन्द्र का विलक्षण व्यक्तित्व और उनके द्वारा की गयी रचनाओ का विस्तृत कलेवर आश्चर्य मे डाल देने वाला है। अकेले हेमचन्द्र इतने विशाल कार्य को पूर्ण कैसे कर सके? इसका रहस्य उनके जीवन-चरित्र से अवगत हुए बिना नही जाना जा सकता। हेमचन्द्र को दो महान् हिन्दू राजाओ सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का सहयोग प्राप्त हुआ था। वे इन दोनो राजाओ के पूज्यगुरु थे, अत हेमचन्द्र को उनसे समय-समय पर बहुत अधिक सहायता मिलती रही। इन राजाओ के आश्रय मे रहने वाली विद्वन्मण्डली ने भी हेमचन्द्र की पर्याप्त सहायता की होगी। ये ही कुछ स्थितियाँ थी जिन्होने हेमचन्द्र को एक ही जन्म मे इतने विशाल ग्रथो की रचना मे सक्षम बनाया। इस अध्याय मे आचार्य हेमचन्द्र की जीवनगत परिस्थितियो को केन्द्र मे रखकर उनके कृतित्व पर विस्तार से विचार किया गया है। सक्षेप मे पूरे अध्याय का अध्ययन क्रम इस प्रकार है-हेमचन्द्र का जीवनचरित विद्याध्ययन और व्यक्तित्व निर्माण, सिद्धराज जयसिंह से सम्पर्क तथा सिद्ध हैमशब्दानुशासन की रचना की प्रेरणा प्राप्त करना, कुमारपाल से सपर्क तथा प्राकृतद्व्याश्रय काव्य की रचना, कुमारपाल तथा उस युग के ख्याति प्राप्त विद्वानो से हेमचन्द्र का सम्पर्क और अन्त मे आचार्य हेमचन्द्र की सभी रचनाओ का सक्षिप्त विवरण एव तिथिक्रम निर्धारण। सक्षेप मे प्रथम अध्याय के अध्ययन की यही सीमा है। इस अध्याय मे निहित प्रयास लगभग पारस्परिक है। हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित पूर्व विद्वानो के प्रयास ही यहा निहित अध्ययन के मूल आधार है।

अध्याय 2—यह अध्याय देशीनाममाला के स्वरूप विवेचन से सम्बन्धित है। इस अध्याय मे निहित अध्ययनक्रम इस प्रकार है देशीनाममाला का स्वरूप तथा इसके नामकरण की समस्या एव उसका निराकरण, देशीनाममाला का रचना काल (वि स 1214–15 या 1150 ई) इसकी मूलप्रतियो का सक्षिप्त उल्लेख, इसकी विषयवस्तु तथा इसके स्वरूप पर विस्तार से विचार, देशीनाममाला की मूलगाथाओ तथा उदाहरण की गाथाओ का महत्त्व प्रकाशन, वृत्ति या टीका भाग पर विस्तृत विचार, उदाहरण की गाथाओ का वर्गीकरण, उनकी सख्या एव विषयवस्तु के विस्तृत प्रत्याख्यान के साथ-और अन्त मे देशीनाममाला के साहित्यिक एव भाषावैज्ञानिक महत्त्व का निदर्शन। सक्षेप मे यही द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य है। इस अध्याय के कुछ तथ्य पूर्व विद्वानो द्वारा प्रतिपादित हैं—जिन्हे ज्यो का त्यो मान लिया गया है। गाथाओ का वर्गीकरण और उनकी सख्या का निर्धारण प्रो. मुरलीधर बेनर्जी का उल्लेख मात्र है। अध्याय के अन्य प्रयास मेरे अपने है। स्वरूप

विवेचन के बीच पिशेल द्वारा सम्पादित देशीनाममाला के द्वितीय संस्करण को आधार बनाया गया है।

अध्याय 3—तीसरा अध्याय देशीनाममाला के साहित्यिक अध्ययन से सम्बन्धित है। देशी शब्दो का प्रयोग दिखाने की दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र ने पूरे कोश मे 634 गाथाओ की रचना की है। ये गाथाए साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि की है। इनकी भावतरलता, सरसता एव काव्यात्मक प्रभावात्मकता अत्यन्त सराहनीय है। इन पद्यो को देखते हुए, आचार्य द्वारा इस ग्रन्थ का, दिया गया रयणावली नाम भी सार्थक लगने लगता है। उदाहरण की इन गाथाओ मे ऐहिकतापरक शृ गार, रति-भावना, नख-शिख-चित्रण, रणाङ्गणगतवीरता, प्रकृति के सुन्दर मनमोहक चित्र तथा विविध लोकव्यवहारो एव उत्सवो का चित्रण हुआ है। हेमचन्द्र की इन गाथाओ की तुलना सभी दृष्टियो से 'हाल' की गाहासत्तसई' से की जा सकती है। गाथाओ की सख्या भी 'रयणावली' की सतसई ग्रन्थ परम्परा मे ला बैठाती है। विषयवस्तु की दृष्टि से 'रयणावली' (देशीनाममाला) की उदाहरण की गाथाओ को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—

(1) लौकिक प्रेम और शृ गार से सम्बन्धित पद्य।

(2) कुमारपाल की प्रशस्ति से सम्बन्धित वीर-भावना के उद्-भावक पद्य।

(3) विविध लोकाचारो, सामाजिक एव नैतिक नियमो, देवी-देवताओ तथा भिन्न-भिन्न प्रादेशिक रीति-रिवाजो व अ ध विश्वासो से सम्बन्धित पद्य।

इन तीन वर्गों मे बाँटकर देशीनाममाला के साहित्यिक महत्व का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है। विषय को भलीभांति स्पष्ट करने के बाद शास्त्रीय दृष्टि से रयणावली के छन्दो उसकी भाषा तथा अलकार योजना आदि पर भी विचार किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से 'देशीनाममाला' के अध्ययन का यह प्रथम प्रयास है। सभवत: इसकी गाथाओ की क्लिष्टता ने विद्वानो को इसके साहित्यिक सौ दर्य से अवगत होने से दूर ही रखा है। देशीनाममाला के पद्यो का अनुवाद सचमुच एक दु:साध्य कार्य है। इस अध्याय मे लगभग 100 पद्यो का अनुवाद दिया गया है। अध्ययन के एक निश्चित दायरे मे बधे होने के कारण, रयणावली के कितने ही सुन्दर पद्यो का समावेश नही किया जा सका। यह भविष्य के अनुसधित्सुओ के लिए एक सराहनीय कार्य हो सकता हैं। शोधकर्त्ता इस कार्य मे सलग्न भी हैं। यदि रयणावली के सभी पद्यो का अनुवाद कर दिया जाये तो यह निश्चित ही 'गाहासतसई' और 'वज्जालग्ग' जैसे श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थो की कोटि मे रखा जा सकता है। इस अध्याय मे निहित अध्ययन का यही निष्कर्ष हैं।

अध्याय 4 – इस अध्याय मे देशीनाममाला की शब्दावली का सास्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। देशीनाममाला की शब्दावली का सम्बन्ध युग-युगो से व्यवहृत होती आयी जन-भाषाओ से है। इन शब्दो मे पता नही कितने प्राचीन सास्कृतिक प्रतीक छिपे पडे हैं। इन्हीं प्रतीको का स्पष्टीकरण इस अध्याय का प्रमुख विषय रहा है। इस अध्याय का अध्ययन क्रम प्रकार है—

(1) देशीनाममाला का सामाजिक वातावरण—इसके अन्तर्गत सामाजिक एव पारिवारिक सम्बन्धो, रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा व खान-पान, द्यूत-

क्रीडा, घरेलू वस्तुओं, सामाजिक उत्सवो एव खेलों से सम्बन्धित शब्दो का उल्लेख किया गया है । इस वर्ग के शब्दो के माध्यम से जो सास्कृतिक चित्र बनता है, वह प्राय युग-युगो से चली आयी निम्नवर्गीय सस्कृति का चित्र है । स्पष्ट रूप से इसे किसी युग विशेष के समाज से नही सदर्भित किया जा सकता ।

(2) **धार्मिक आचार-विचार एव देवी-देवता**—देशीनाममाला मे अनेको ऐसे शब्द है जो युग-युगो से चले आये धार्मिक आचार-विचारो, देवी-देवीताओ एव अ धविश्वासो से सम्बन्धित है, इन्ही शब्दो का विवरणात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है ।

(3) **साहित्य-कला**—इसके अन्तर्गत विविध ज्ञान-विज्ञान एव कला से सम्बन्धित शब्दावली का उल्लेख किया गया है ।

(4) **ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित शब्दावली**—देशीनाममाला के अधिकाश शब्द ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित है, इन सभी का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है ।

(5) **राजनीति**—इस सन्दर्भ मे राजनीति और शासन व्यवस्था से सम्बन्धित शब्दो का विवरण दिया गया है । ऐसे शब्दो के माध्यम से जिस शासन व्यवस्था का चित्र सामने आता है वह प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था है । इसका सबध 11 वी और 12 वी सदी के गुजरात से भी जोडा जा सकता है ।

अन्त मे इस अध्ययन का निष्कर्ष यह दिया गया है कि देशीनाममाला के ये शब्द किसी एक युग विशेष की सस्कृति से सम्बद्ध न होकर, युगयुगो से चली आयी ग्रामीण निम्नवर्गीय सस्कृति से सम्बद्ध हैं ।

**अध्याय 5**—इस अध्याय से देशीनाममाला के अध्ययन का दूसरा पक्ष प्रारभ होता है । यह अध्याय 'देशी' शब्दो के सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बन्धित हैं । सबसे पहले 'देशी' शब्दो के स्वरूप को लेकर विभिन्न विद्वानो द्वारा व्यक्त किये गये मतो का उल्लेख किया गया है । निष्कर्ष रूप मे—सभी विद्वानो ने किसी न किसी रूप मे 'देशी' शब्दो को युग युगो से चली आयी जन-भाषाओ की सम्पत्ति स्वीकार किया हैं । ये ही जनभाषाए प्राकृत (प्राथमिक प्राकृत या लोक भाषाए) नाम से भी अभिहित की जा सकती हैं । देशी शब्दो और प्राकृतो की निकटस्थ स्थिति पर विचार करने की दृष्टि से प्राकृत और देशी शब्दो के सम्बन्ध पर विस्तार से विचार किया गया हे । इसी सदर्भ मे, प्राकृत को छान्दस (वैदिक) भाषा के मूल मे स्वीकार किया गया है । प्राकृत का तात्पर्य यहा प्रकृत (स्वाभाविक) रूप से उदभूत होने वाली जनभाषा से है । इसके बाद अपभ्र श और देशी शब्दो के सम्बन्ध पर विचार कर, यह निष्कर्ष निकाला गया है कि देशी शब्द सामान्य जनभाषा और लोकव्यवहार से सम्बन्धित हैं । जो भाषाए लोक जीवन से प्रेरणा लेकर आगे बढी, उनमे तो 'देशी' शब्दो की भरमार है—जैसे-प्राकृत और अपभ्र श—इसके विपरीत सस्कृत जैसी परिष्कृत साहित्यिक भाषा मे लोक अभिरुचि को प्रश्रय न मिलने के कारण 'देशी' शब्दो का व्यवहार बिल्कुल है ही नही, जो है भी, उसे परिष्कृत कर लिया गया है ।

देशीशब्दो के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर देने के बाद इन शब्दो को लेकर आचार्य हेमचन्द्र के पूर्व के आचार्यों स्वय हेमचन्द्र तथा उनके बाद के आचार्यों या भाषावैज्ञानिको का अभिमत प्रदर्शित किया गया है । निष्कर्ष रूप मे सभी ने देशी-

शब्दो को प्रान्तीय जनभाषाओ की शब्द सम्पत्ति स्वीकार किया है । इसके बाद देशी शब्दो के उद्भव और उनके विकास के कारणो का निरूपण किया गया है । देशी शब्दो के उदभव एव विकास के दो प्रमुख कारणो (भाषावैज्ञानिक एव सास्कृतिक) का विस्तृत उल्लेख किया गया है, और अन्त मे फिर यही निष्कर्ष दिया गया है कि देशी शब्द युग युगो से व्यवहृत होती आयी भारतीय जन भाषाओ से सम्बन्धित हैं । इनका ज्ञान लोकव्यवहार पर आधारित है । इन्हे व्याकरण गत सस्कारो के बन्धन में नही बाधा जा सकता ।

अध्याय 6—इस अध्याय मे देशीनाममाला के लगभग 168 शब्दो का हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियो मे विकास प्रदर्शित किया गया है । इन सभी शब्दो को आचार्य हेमचन्द्र ने देशी कहा है यहा भी इन्हे देशी ही माना गया है । इसका एक कारण है, शब्दो की प्रकृति और उनकी स्थिति का निर्धारण उनके प्रयोग के वातावरण को देखकर किया जाना चाहिए । उनकी ध्वनिगत और पदगत विशेषताओ को देखकर नही । इस अध्याय मे जितने शब्द आये हैं, उनमे अधिकाश विद्वानो की दृष्टि मे तद्भव हो सकते हैं । इस बात का सकेत भी कर दिया गया है परन्तु वातावरण की दृष्टि से ये सभी शब्द देशी लगते हैं । इनका व्यवहार साहित्यिक भाषाओ मे न होकर प्राय लोकभाषाओ मे होता देखा जा रहा है । हेमचन्द्र ने भी इन शब्दो का सकलन लोकभाषाओ की ही सम्पत्ति मानकर किया था, इसी मान्यता के अनुरूप इस अध्याय मे कुछ शब्दो का प्रयोग हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियो, अवधी ब्रज, भोजपुरी आदि मे दिखाया गया है । शब्दो का यह विकास निरूपण यद्यपि पारम्परिक नही है, फिर भी शोध की पारम्परिक लीक को तोडकर जो निष्कर्ष निकाले गये है वे भविष्य के अनुसधानो को दिशा निर्देश करने मे सहायक हो सकते हैं । इसी रीति से देशीनाममाला के सभी शब्द किसी न किसी प्रान्त की लोकभाषा मे सदर्भित किये जा सकते है । देशीशब्दो की व्युत्पत्ति ढू ढने के चक्कर मे न पडकर यदि इनके विकास का ज्ञान प्राप्त कर, इनकी प्रकृति का निर्धारण किया जाये तो अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम सामने आ सकता है ।

अध्याय 7—इस अध्याय मे देशी शब्दो का भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । पूरे अध्ययन को तीन खण्डो मे बाटा गया है—(1) ध्वनिग्रामिक अध्ययन (2) पदग्रामिक अध्ययन (3) अर्थगत अध्ययन । देशीनाममाला के शब्द या तो निर्विभक्तिक है, या फिर प्रथमान्त है, अतः इनका रुप-ग्रामिक अध्ययन सभव नही था, यही कारण है कि अध्ययन को तीन ही खण्डो तक सीमित रखा गया है प्रत्येक खण्ड का अध्ययन क्रम इस प्रकार है—

(1) ध्वनिग्रामिक अध्ययन—इसके अन्तर्गत देशीनाममाला के शब्दो मे व्यवहृत स्वर एव व्यजन ध्वनिग्रामो का ऐतिहासिक एव वर्णनात्मक विवेचन किया गया है । देशीनाममाला मे व्यवहृत स्वर ध्वनिग्राम एव व्यजन ध्वनिग्राम इस प्रकार हैं

स्वर ध्वनिग्राम—(खण्डीय)—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ । ऋ और लृ का प्रयोग बिल्कुल नही है । ऐ और औ का प्रयोग भी अइ और अउ स्वर-सयोगो के ही रूप मे मिलता हैं । प्राप्त स्वर ध्वनिग्रामो का आदि मध्य और अन्त्य स्थितियो मे वितरण भी दिखा दिया गया है ।

**खण्डेतर स्वर ध्वनिग्राम**—इसके अन्तर्गत अनुस्वार का प्रयोग, विसर्ग का अभाव, सधि का अभाव, स्वर सयोगो की भरमार य श्रुति और व श्रुति का बहुतायत से प्रयोग, स्वराघात या बलाघात का निरूपण आदि बाते प्रमुखतया प्रदर्शित है —

**व्यंजन ध्वनिग्राम**—देशीनाममाला के शब्दो मे व्यवहृत व्यंजन ध्वनिग्राम ये है

क, ख, ग, घ, (ङ० का सर्वथा अभाव है)
च, छ, ज, झ, (ञ का भी अभाव है )
ट, ठ, ड, ढ, ण तथा ण्ह
त, थ, द, ध, (न का प्रयोग नही है ) ।
प, फ, ब, भ, म तथा म्ह
य, र, ल, व तथा ल्ह
स, ह,

देशीनाममाला के ये व्यजन ध्वनिग्राम देशी शब्दो मे व्यवहृत होते हुए भी पूर्णतया मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के ध्वनिग्रामो का ही अनुकरण करते है। इन सभी के आदि, मध्य और अन्त्य तीनो ही स्थितियो मे प्रयोग का देशीनाममाला से उदाहरण भी दे दिया गया है ।

व्यजन ध्वनिग्रामो का ऐतिहासिक एव वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के बाद व्यजन–परिवर्तन की विविध दशाओ लोप, आगम, वर्णविपर्यय, समीकरण घोषीकरण महाप्राणीकरण आदि के भी उदाहरण दे दिये गये है। अन्त मे व्यजन–सयोगो और सयुक्ताक्षरो की भी विस्तृत चर्चा कर दी गयी है ।

(2) **पदग्रामिक अध्ययन**—देशीनाममाला के शब्दो का पदग्रामिक अध्ययन एक अत्यन्त दुरूह कार्य है। इसके अधिकतर शब्द प्रकृति–प्रत्यय निर्धारण प्रक्रिया की पहुच के बाहर हैं फिर भी ज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दो की प्रकृति और उनमे लगने वाले प्रत्ययो का प्रत्याख्यान करने का सभव प्रयास किया गया है । पदग्रामिक अध्ययन की दृष्टि से देशीनाममाला की पदावली तीन वर्गों मे बांटी गयी है सज्ञा, विशेषण तथा क्रियाविशेषण । पूरा पदग्रामिक अध्ययन क्रम इस प्रकार है—

शब्दो का स्वरूप-विवेचन, प्रत्यय-प्रक्रिया, विभक्ति प्रत्यय, निर्विभक्तिक शून्य प्रयोग व्युत्पादक प्रत्यय–व्युत्पादकपूर्वप्रत्यय या उपसर्गों का निरूपण, व्युत्पादक पर प्रत्यय–तद्धित और कृदन्ती प्रयोग । पदग्रामिक विवेचन के इस प्रयास मे देशीनाम–माला के सभी शब्द नही आ सके हैं । सभी शब्दो का विवेचन प्रस्तुत करने मे व्याकरणिक अपवादो की भरमार हो जाने की सम्भावना थी । व्युत्पादक प्रत्ययो के बीच लगभग सभी देशी प्रत्ययो का परिगणन कर दिया गया है । देशीनाममाला मे अनेको शब्द ऐसे है जिनमे न तो प्रकृति-अ श का पता चलता है और न ही प्रत्यय अ श का, ऐसे शब्दो का अर्थगत अध्ययन ही, सभव है, ये शब्द विशुद्ध 'देशी' हैं, इनका ज्ञान 'लोकात्' अर्थावधारण मात्र से ही हो सकता है ।

(3) **अर्थगत अध्ययन** – देशीनाममाला की शब्दावली का अध्ययन पूर्णतया अर्थविज्ञान का विषय है । इसका ध्वन्यात्मक एव पदात्मक अध्ययन किसी भी महत्व का नही है । आचार्य हेमचन्द्र स्वय ही इतने समर्थ थे कि, यदि चाहते तो इन शब्दो का प्रकृति-प्रत्यय निर्धारण कर सकते थे, पर उन्होने इन शब्दो की व्युत्पत्ति पर बल न देकर, मात्र इनके अर्थावधारण पर बल दिया है । देशीनामलाला के शब्दो को

लेकर विद्वानों ने तरह-तरह की भ्रान्त धारणाए फैलायी हैं। बुल्हर महोदय ने तो यहाँ तक बल दिया था कि देशीनाममाला के सारे शब्दो को सस्कृत से सदभित किया जा सकता है। इन्ही की परम्परा का पालन श्री रामानुजस्वामी ने अपने द्वारा बनायी गयी देशीनाममाला की ग्लासरी मे किया है। उन्होने देशीनाममाला के अनेको शब्दो की व्युत्पत्तिया दी हैं, जो पूर्णतया ध्वनि साम्य पर आधारित हैं। किसी भी शब्द का उसके अर्थ से शाश्वत सम्बन्ध होता है, ध्वनियो से नहीं। रामानुजस्वामी ने ध्वनि साम्य के आधार पर व्युत्पत्तिया दे तो दी, पर अर्थ की ओर ध्यान नही दिया। इस प्रकार की भ्रामक व्युत्पत्ति वाले लगभग 200 शब्दो का उदाहरण इस अध्याय मे दिया गया है और यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि देशीनाममाला के शब्दो की व्युत्पत्तिया ढूढना व्यर्थ है, अर्थ की दृष्टि से इनका अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन का सकलन भी इसी दृष्टिकोण से किया था।

पुन देशीनाममाला के कुछ शब्दो को आर्येतर भाषाओ की सम्पत्ति बताया गया है। इस मत का भी खण्डन इसी अध्याय मे किया गया है। जिन शब्दो को सुधी विद्वानो ने दक्षिणी भाषाओ तमिल, तैलगु, कन्नड आदि की सम्पत्ति बताया है, इन भाषाओं के व्याकरणकार भी इन्हे देशी ही मानते हैं। ऐसी स्थिति मे हेमचन्द्र की मान्यता गलत कहा हुई? इसी प्रकार देशीनाममाला के अरबी फारसी शब्द-ग्रहण की मान्यता का भी खण्डन किया गया है।

अन्त मे देशीनाममाला के शब्दो की प्रकृति का निर्धारण करते हुए पुन यही निष्कर्ष निकाला गया है कि ये शब्द युग युगो से प्रचलित जनभाषा से सम्बन्धित हैं। इनका अध्ययन किसी भाषा विशेष मे ध्वन्यात्मक या पदात्मक तुलना के आधार पर न किया जाकर अर्थ के आधार पर किया जाना चाहिए। देशीनाममाला का अध्ययन पूर्णतया अर्थ-विज्ञान का विषय है।

अस्तु! सक्षेप मे, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अध्ययन की ये कुछ दिशाए हैं। इनके अन्तर्गत देशीनाममाला से सम्बन्धित अध्ययन के जितने भी पक्ष हो सकते हैं, लगभग सभी को समाहित कर लिया गया है। देशीनाममाला पर समवेत रूप से कोई कार्य न होने के कारण, इसकी शोध दिशाओ का निर्धारण कही-कही सर्वथा स्वच्छन्द रीति से किया गया है। इस प्रयत्न के बीच अनेको विद्वनो की धारणाओ का खण्डन करना पड़ा है, आशा है वे मुझे क्षमा करेंगे। देशीनाममाला पर किये जाने वाले शोधकार्य का यह प्रारम्भ मात्र है। यह तो ऐसा ग्रन्थ है, जिसकी जितनी ही गहराई मे उतरा जाये, उतनी ही नयी नयी दिशाए खुलती जाती हैं।

—शिवमूर्ति शर्मा

1

# आचार्य हेमचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

भारत प्राचीन काल से स्वनामधन्य एव स्वसाधनापूत ऋषियो तथा महापुरुषो का देश रहा है । इन महामानवो ने अपनी सतत साधना द्वारा देश की साहित्यिक, सामाजिक और सास्कृतिक उन्नति मे अभूतपूर्व योग दिया । 12वी शताब्दी मे एक ऐसे ही महापुरुष का जन्म हुआ जिन्होने अपने युगान्तकारी और युग सस्थापक व्यक्तित्व के आधार पर तत्कालीन गुजरात के सामाजिक, साहित्यिक एव राजनीतिक इतिहास के निर्माण मे अद्‌भुत योग दिया । इनकी अप्रतिम प्रतिभा का सम्पर्क प्राप्त कर सम्पन्न परम्पराओ से युक्त गुर्जर धारित्री साहित्य और कला के नवविकसित सुमनो से प्रफुल्लित हो उठी । पाटलिपुत्र कान्यकुब्ज, वलभी, उज्जयिनी आदि की परम्परा मे गुजरात का अणहिलपुर भी साहित्य-कला और सगीत के साथ ही विविध विद्याओ का केन्द्र वना । गुजरात के दो पराक्रमशील राजाओ सिद्धराज जयसिंह और कुमार पाल के सरक्षण मे अणहिलपुर भोज की धारानगरी के वैभव को पहुचने लग गया । अणहिलपुर के इस उत्कर्ष मे इन दो राजाओ के अतिरिक्त वहाँ के विद्वानो का भी बहुत बडा हाथ रहा । आचार्य हेमचन्द्र जिन्हे कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित किया गया है, अणहिलपुर के विद्वत्‌रत्नो मे सर्वश्रेष्ठ थे ।

**हेमचन्द्र का जीवन-चरित .**

स्वर्गीय डा बूलर ने अपने "Life of Hemchandra"[1] नामक ग्रन्थ मे आचार्य हेमचन्द्र के जीवन का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है । हेमचन्द्र के

---

1. सिंघी जैन ग्रन्थमाला मे 1889 मे प्रकाशित ।

जीवन का विशद विवेचन करने मे डा बूलर ने निम्नलिखित चार ग्रन्थो की सहायता ली है :--

(1) प्रभाचन्द्र सूरि का प्रभावकचरित–समय 1278 ई० ।
(2) मेरुतुङ्ग कृत प्रबन्धचिन्तामणि ।
(3) राजशेखर का प्रबन्ध कोश ।
(4) जिनमण्डल उपाध्याय का कुमारपाल प्रतिबोध ।

इन विभिन्न ग्रन्थो से सहायता लेने के अतिरिक्त स्वय हेमचन्द्र द्वारा रचित द्वयाश्रय काव्य, सिद्धहैमव्याकरण की प्रशस्ति, त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरितान्तर्गत 'महावीरचरित' आदि से भी डा बूलर ने हेमचन्द्र के जीवन के प्रामाण्य एकत्र किये।

आधुनिक खोजो के आधार पर कुछ और भी ग्रन्थ सामने आये हैं, जिनसे हेमचद्र के जीवन पर प्रकाश पडता है । इनमे दो ग्रन्थ तो हेमचन्द्र के समकालीन है—

(1) सोमप्रभ सूरि कृत कुमारपाल प्रतिबोध ।
(2) यशपाल कृत मोहराज पराजय ।
(3) पुरातनप्रबन्ध सग्रह ।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थो मे प्रथम दो हेमचन्द्र के समकालीन ग्रन्थ हैं अन्तिम पुरातन प्रबन्धसग्रह अनेको विवरणो का एकत्र सलग्न मात्र है ।

ऊपर गिनाये गये ग्रन्थो मे सोमप्रभसूरि कृत कुमारपाल प्रतिबोध हेमचन्द्र की समसामयिक रचना होने के कारण उनकी जीवन विषयक प्रामाणिक सामग्री दे सकती थी, परन्तु लेखक स्वय ही इस बात को स्वीकार करता है कि 'मैंने दोनो (हेमचन्द्र और कुमारपाल) के जीवन से सम्बन्धित वही घटनाएँ ली हैं जिनका सम्बन्ध उनके जैनधर्म स्वीकार करने के बाद के जीवन से है । इस प्रकार यह ग्रन्थ हेमचन्द्र और कुमारपाल के मिलने तथा कुमारपाल के जैनधर्म स्वीकार करने के बाद की ही घटनाओ का उल्लेख करता है। यदि इस ग्रन्थ को आधार बनाकर हेमचन्द्र के जीवन का विवेचन किया जाये तो उनके जीवन की अनेको महत्त्वपूर्ण घटनायें अन्धकार मे रह जायेंगी। इसकी तुलना मे प्रभावकचरित इस दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी है।' कुमार पाल प्रतिबोध हेमचन्द्र के जीवन की जितनी घटनाओ का उल्लेख करता भी है सीधे नही घुमा फिरा कर करता है। इसके लिये लेखक एक नाटकीय स्थिति की आयोजना करता है–ब्राह्मण धर्म मे यज्ञो इत्यादि के बीच भयानक रक्तपात देखकर उसको वास्तविक धर्म न मानते हुए कुमारपाल का वास्तविक धर्म के ज्ञान की जिज्ञासा होती है। यह जिज्ञासा चिन्ता का रूप धारण कर लेती है। जब उसके मत्री वाहडदेव (वाग्भटदेव) को इस बात का पता चलता है तब वह

राजा के सामने पहुचकर विनम्रतापूर्वक अपने द्वारा कही जाने वाली कथा को सुनने का आग्रह करता है। उसकी यह कथा हेमचन्द्र के कुमारपाल के सम्पर्क मे आने के पहले के जीवन की कथा है। परन्तु यह घटना ऐतिहासिक नही प्रतीत होती। हो सकता है कुमारपाल प्रतिवोधकार ने अपनी रचना को कवितापूर्ण बनाने के लिए इस प्रसग की उद्भावना की हो।

पूर्णतल्लगच्छ[1] जिससे कि हेमचन्द्र का सम्बन्ध था तक की कथा बताने के वाद मत्री वाहड आगे की कथा कहता है—'एक समय देवाचन्द्राचार्य तीर्थयात्रा हेतु अणहिलपट्टन से धधूका गाव पहुचे और वहा मौढवशियो के वसही जैन मन्दिर मे देवदर्शन के लिये पधारे। धार्मिक उपदेशो की समाप्ति के बाद उनके पास एक आठ वर्ष का बालक आया और उसने देवचन्द्राचार्य से प्रार्थना की कि इस ससार-सागर के सतरण हेतु मुझे सुचरित रूपी नाव प्रदान कीजिये। अर्थात् मुझे भी साधु बनने की प्रेरणा दीजिये। देवचद्राचार्य बालक की चपलता और उसकी वैराग्यवृत्ति से बहुत अधिक प्रभावित हुए। उन्होने बच्चे का और उसके पिता का नाम पूछा। इस पर साथ आये हुये वच्चे के मामा नेमि ने वच्चे के बारे मे बताना प्रारम्भ किया—

"यहा (धधूका मे) चाचा (चाचिग) नाम का प्रसिद्ध व्यापारी रहता है। अपने पूर्वजो के धर्म और अपने कुल देवताओ का उपासक है। 'चाहिणी' नाम की उसकी पत्नी है जो मेरी बहिन भी है। यह लडका उसी का पुत्र है। इसके बाद नेमि चाहिणी द्वारा देखे गये स्वप्न का विवरण देते हुए बालक को उसी सत्स्वप्न का परिणाम बताता है। आगे नेमि कहता है–इन दिनो धर्म की बातो के अतिरिक्त बालक का मन और किसी बात मे नही लगता।[2]

इस पर गुरु देवचन्द्र बोले – 'यदि बालक को उचित दीक्षा दी जाये तो बहुत अच्छा होगा। हम उसे ले जाकर सभी शास्त्रो के धर्म का ज्ञान कराते हैं। यह तीर्थङ्करो के समान लोक कल्याण करेगा। अत तुम इसके पिता चाचा (चाचिग) से कहो कि वे इसकी नियमित दीक्षा की आज्ञा दें।[2]

पिता ने अत्यधिक प्रेम के कारण पुत्र को दीक्षा लेकर घर छोडने की आज्ञा नही दी परन्तु लडके ने साधु बनने का निश्चय कर लिया था। मामा के द्वारा प्रोत्साहन मिलने पर उसने घर छोड दिया। अपने के गुरु के साथ वह खम्भतीर्थ (स्कम्भतीर्थ, खम्भात) आया और वहा जैनधर्मानुकूल जीवन प्रारम्भ करने की दीक्षा

---

1 आचार्य हेमचन्द्र की माता पाहिणीया चाहिणी देवी ने एक अद्भुत स्वप्न देखा था। बालक चङ्गदेव उसी स्वप्न का परिणाम था। इसके आगे की कथा वाहड मत्री वताता है।

2 कु प्र. वो. पृ. 21

ली। दीक्षा के बाद उसका 'सोमचन्द' नाम पडा। जैनागमो मे बताये गये साधनो द्वारा कठिन तप करके बहुत शीघ्र ही उसने समस्त विद्या समुद्र का अवगाहन कर लिया। गुरुदेवचन्द्र ने जब सोमचन्द्र मे कुछ ऐसे गुण देखे जो इस घोर कलिकाल मे सभी के लिये सम्भव नही थे, तो उन्होने उसे गणधर (आचार्य) पदवी देकर सर्व भिक्षुओ का अगुआ बना दिया। सोमचन्द्र के शरीर का रंग सोने का था अतः उसका नाम हेमचन्द्र पडा।"[1]

हेमचन्द्र विभिन्न प्रान्तो मे घूमते रहे। परन्तु उपास्य देवी के गुर्जर-विषय (गुजरात प्रान्त) छोडकर न जाने, तथा यह कहने पर कि 'गुजरात मे रहकर तुम इसका बहुत हित करोगे' हेमचन्द्र ने अन्य प्रान्तो मे आना जाना बन्द कर दिया और गुजरात मे ही रहकर लोगो के बीच ज्ञान का प्रकाश फैलाते रहे।'

कुमारपाल के मन्त्री वाहड (वाग्भट) ने अपनी कथा जारी रखी - 'विश्व-प्रसिद्ध विद्वान् शिरोमणि गुजरात का पराक्रमी राजा सिद्धराज जयसिंह इन्ही आचार्य हेमचन्द्र से अपनी समस्त शकाओ का निवारण करवाता था। इसके बाद वह हेमचन्द्र के सकेत पर बनवाये गये अणहिलपुर के 'राजविहार' और सिद्धपुर के 'सिद्धविहार' की चर्चा करता है। यही वह यह भी बताता है कि सिद्धराज की ही प्रार्थना पर आचार्य ने सिद्धहैम जैसे महान् व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। वह कहता है सिद्धराज सदैव इन आचार्य की स्वर्गिक वाणी सुनने के लिए लालायित रहता था।

'अत यदि आप (कुमारपाल) धर्मो का रहस्य जानना चाहते हैं तो मुनियो मे श्रेष्ठ हेमचन्द्र की पवित्र वाणी का श्रवण भक्तिपूर्वक कीजिए।'[1]

'कुमारपाल प्रतिबोध' द्वारा दिया गया हेमचन्द्र विषयक यह विवरण यद्यपि सक्षिप्त है फिर भी उनके जीवन की प्रसिद्ध घटनाओ का द्योतन करने मे समर्थ है। ग्रन्थ का रचयिता हेमचन्द्र का समसामयिक है अत उसके द्वारा दी गयी घटनाए प्रामाणिक भी हो सकती हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन की प्रमुख घटनाओ की तिथिया प्रभावक चरित मे मिल जाती हैं। वे तिथिया इस प्रकार हैं—

(1) हेमचन्द्र का जन्म-वि स 1145 (1089 ई) कार्तिक पूर्णिमा।
(2) दीक्षा ग्रहण—वि स 1150 (1094 ई)
(3) सूरि या आचार्यपद ग्रहण—वि स 1166 (1110 ई) (प्र. च – पृ 347, 848, 849)

---

1. कु. प्र. बो. पृ 22

जहा तक हेमचन्द्र के जन्म का प्रश्न है, प्रत्येक ग्रन्थ मे तिथिया लगभग समान ही हैं। दीक्षा के सम्बन्ध मे दी गयी तिथियो मे मतभेद है। जैनशास्त्रो मे यह निर्देश है कि बिना 8 वर्ष की अवस्था पूर्ण किये कोई भी जैन धर्म मे दीक्षित नही हो सकता। प्रभावकचरित, पुरातनप्रबन्ध सग्रह तथा प्रबन्ध कोश के अनुसार दीक्षा के समय हेमचन्द्र लगभग 8 वर्ष के थे। परन्तु कुमारपाल प्रतिबोध के अनुसार इनकी दीक्षा वि स 1154 (1098)[1] मे हुई। यह तिथि ठीक भी लगती है। गुरु देवचन्द्र सूरि का धन्धू का आगमन वि स 1150 (1194 ई) मे हुआ था। अब मे लेकर हेमचन्द्र के पिता से आज्ञा प्राप्त करने के बीच कुछ समय अवश्य लगा होगा। प्रभावकचरित के अनुसार घर से निकलने के वाद हेमचन्द्र का पालन पोषण खम्भात के एक अधिकारी उदयन के यहा हुआ था। इसी उदयन ने हेमचन्द्र के पिता को तीन लाख रुपये देकर खुश भी करना चाहा था। हेमचन्द्र के पिता के रुपया न स्वीकार करने तथा पुत्र की दीक्षा के लिए आज्ञा दे देने की घटना वि. स 1154 (सन् 1098) मे हुई थी। अत हेमचन्द्र का यही दीक्षा काल प्रामाणिक है।

जहा तक 'सूरिपद' प्राप्त करने का प्रश्न है, सभी ग्रन्थ एक मत हैं। प्रभावक चरित मे यह तिथि वि. स 1166 (सन् 1110 दी गयी है यही तिथि कुमार-पाल-प्रबन्ध[2] की भी है। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने 8 वर्ष की अवस्था मे जैन धर्म की दीक्षा ली और 21 वर्ष की अवस्था मे 'सूरिपद' प्राप्त किया।

**विद्याध्ययन और व्यक्तित्व निर्माण**

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख घटनाओ की तिथियो के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व निर्माण और शिक्षा दीक्षा सम्बन्धी बातो का विवरण भी विभिन्न ग्रन्थो मे प्राप्त हो जाता है। कुमारपाल प्रतिबोध के अनुसार गुरुदेवचन्द्रसूरि ने बालक चङ्गदेव के मामा 'नेमि' से कहा कि दीक्षा प्राप्त करने के बाद बालक बहुत थोडे ही समय मे शास्त्रो के तथ्य से अवगत हो जायेगा। हुआ भी कुछ इसी प्रकार। चङ्गदेव ने बहुत शीघ्र ही सभी विद्याओ के समुद्र को पार कर लिया। आचार्य-पद प्राप्त करने के बाद वे विभिन्न प्रान्तो मे घूमते रहे परन्तु बाद मे वे गुजरात से कभी बाहर नही गये। 'हेमचन्द्र के विद्याध्ययन के बारे मे केवल इतना ही उल्लेख कुमारपाल प्रतिबोध मे मिलता है।

अपने विद्याध्ययन का सारा श्रेय हेमचन्द अपने गुरु देवचन्द्र सूरि को देते

---

1. कु प्र वो पृ. 12
2. वही, पृ 13

हैं। 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' की प्रशस्ति मे वे इस बात को स्वीकार भी करते हैं—

'तत्प्रसादादधिगतज्ञान सम्पन्न महोदयः।'[1] परन्तु उन्होंने किस प्रकार गुरु से विद्या सीखी इसका कोई उल्लेख नही किया अत इस सन्दर्भ म उनकी यह स्वीकारोक्ति कोई महत्त्व नही रखती।

आचार्य हेमचन्द्र के ज्ञानार्जन और व्यक्तित्व निर्माण का कुछ विस्तृत उल्लेख प्रभावकचरित मे प्राप्त होता है–'सोमचन्द्र ने शीघ्र ही तर्क-लक्षण और साहित्य मे अधिकार प्राप्त कर लिया। परन्तु कुछ हजार पदो को कण्ठस्थ मात्र कर लेने से सोमचन्द्र को सतोष नही मिला अत अपने गुरु से विद्या प्राप्ति के लिए 'काश्मीर-देशवासिनी' देवी को जाकर प्रसन्न करने की आज्ञा मागी। वे ताम्रलिप्ति (खम्भात) से चले और रात विताने के लिए 'श्रीरैवतावतार' नामक एक जैन मन्दिर मे रुके। अर्धरात्रि के समय जब वे ध्यानावस्था मे वैठे थे, ब्राह्मी देवी प्रकट हुई और उन्हे काश्मीर जाने का कष्ट उठाने से रोक दिया क्योकि सोमचन्द्र की साधना से वे अत्यन्त प्रसन्न थी। ब्राह्मी देवी ने उन्हे इच्छित फल प्रदान करने का वचन दिया। सारी रात ब्राह्मी देवी की प्रशसात्मक स्तुति मे विताकर सोमचन्द्र सुवह अपने स्थान को वापस लौट आये। 'इसके वाद से ही वे' सिद्ध सारस्वत '(अनायास सिद्धसारस्वत भी) कहे जाने लगे।'[2] 'इसके वाद ही उन्होने सूरि पद प्राप्त किया।'[3]

'कुमारपालप्रवन्ध' के रचयिता जिनमण्डल उपर्युक्त घटना से ही मिलती-जुलती एक अत्यन्त रहस्यात्मक घटना का उल्लेख करते हैं।

अव देखना यह है कि इन कथाओ मे वास्तविक तथ्य कहा है। सोमचन्द्र के गुरु देवचन्द्र सूरि निश्चित रूप से एक उद्भट विद्वान् थे परन्तु प्रश्न यह है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अध्ययन की जिन विभिन्न शाखाओ का पाडित्यपूर्ण प्रदर्शन अपनी रचनाओ मे किया है क्या इतना सारा ज्ञान अकेले देवचन्द्र उन्हें दे सके थे? इस शका का समाधान अत्यन्त सरल है। यदि हम हेमचन्द्र के जीवन काल के गुजरात के इतिहास को देखें तो वात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। हेमचन्द्र खम्भात मे रहते थे। उस समय खम्भात एक सुन्दर वन्दरगाह होने के कारण व्यापार का केन्द्र तो था ही साथ ही समृद्ध होने के कारण-साहित्य और कला के क्षेत्र मे भी अद्वितीय था। वहा अनेको उद्भट विद्वान् अध्ययन और अध्यापन मे रत थे। आचाय हेमचन्द्र

---

1 त्रि पु च श्लोक सख्या 15
2 प्रभाकचरित–श्लोक सख्या, 37–46
3 वही, श्लोक सख्या, 48–59

ने इन सभी से प्रेरणा ग्रहण की। अणहिलपुर आने पर तो निश्चित ही वे बहुत बडे-बडे विद्वानो के सम्पर्क मे आये।

'प्रभावकचरित' का हेमचन्द्र से सम्बन्धित काश्मीर यात्रा प्रसग भी उनकी अध्ययनशीलता और जिज्ञासा का परिचायक है। उन दिनो काश्मीर विद्याध्ययन का बहुत बडा केन्द्र था अत हेमचन्द्र वहा अध्ययन करने के लिए जाना चाहते थे। परन्तु यात्रा मे अनेको कठिनाइया होने के कारण वे काश्मीर जाने से रोक दिये गये। उनके काश्मीर जाने का एकमात्र उद्देश्य अध्ययन ही था इस बात की पुष्टि काश्मीर देशवासिनी देवी (सरस्वती) के उल्लेख से ही हो जाती है। काश्मीर स्थित सरस्वती का मदिर उस समय विविध दिशाओ से आये हुए विद्वान् पण्डितो का केन्द्र था। इन्ही पण्डितो के सम्पर्क मे रहकर ज्ञानवृद्धि करना हेमचन्द्र का प्रमुख उद्देश्य था। जब इन पण्डितो के सम्पर्क मे जाकर अध्ययन करना सम्भव न हुआ तो गुजरात मे ही स्थित काश्मीरी पण्डितो से हेमचन्द्र ने बहुत कुछ सीखा होगा। ऐतिहासिक प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि सिद्धराज जयसिह के दरबार मे उस समय अनेको उद्भट विद्वान् रहते थे। बिल्हण के एक उल्लेख से विदित होता है कि उस समय जयसिह के दरबार मे अनेको काश्मीरी पण्डित भी थे। उनमे 'उत्साह' नाम के पण्डित सर्वप्रसिद्ध थे। ये वैय्याकरण थे। सिद्धहैम शब्दानुशासन की रचना के पहले इन्ही 'उत्साह' पण्डित के हाथ ही काश्मीर के विभिन्न पुस्तकालयो से व्याकरण के आठ प्रसिद्ध ग्रन्थ हेमचन्द्र को प्राप्त हुए थे।

आचार्य हेमचन्द्र सिद्धराज जयसिह के समकालीन हैं सिद्धराज जयसिह विद्वानो का बहुत अधिक आदर करने वाला राजा था। धारानगरी के शासक भोज के दरबार की विद्वता की कहानिया आज भी चलती हैं। ऐसे ही विद्वानो का जमघट जयसिह के दरबार मे भी था। उस समय विद्या की कोई ऐसी शाखा नही थी जिसका प्रचार गुजरात मे न रहा हो। आचार्य हेमचन्द्र ने इन विद्वानो के सम्पर्क मे रह कर बहुत कुछ सीखा था।

सिद्धराज जयसिह के विद्वतापूर्ण दरबार का उल्लेख रसिकलाल सी पारिख ने 'काव्यानुशासन' की भुमिका मे किया है।[1]

---

1. 'Tarka Sahıtya and lakshana logıc and the art of dılectıcs, lıterature and poetıes Grammar and the phılosophy of language were the subjects practıced by the cultured cıtızens of Anhıllapura and profıcıency ın these subjects was a pass post to the Royal Courts and the assemblıes of the learned the (*Contd*)

पारिखजी के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र के चारो तरफ उद्भट विद्वानों की एक शृंखला थी। उन्होंने ऐसे वातावरण के प्रभाव के कारण ही व्याकरण,–साहित्य,–प्रमाण–शास्त्र, काव्य, छन्द शास्त्र आदि लगभग काव्य तथा भाषा सम्बन्धी साहित्य के सभी अंगो पर कार्य किया। यदि उन्हें स्वस्थ साहित्यिक परम्परा का वातावरण न मिला होता तो शायद वे इतने विपुल और विविधात्मक ज्ञान–विज्ञान पूर्ण ग्रन्थो का निर्माण न कर पाते।

हेमचन्द्रसूरि और सिद्धराज जयसिंह :

पिता का घर छोड कर बालक चङ्गदेव गुरु के आदेशानुसार खम्भात के एक अधिकारी उदयन मन्त्री के यहा रहने लगा था। वही मन्त्री पुत्र वाहड (वाग्भट) के साथ ही उसके अध्ययन अध्यापन का प्रबन्ध हुआ। यह बात पहले ही बतायी जा चुकी है। 'सूरि' पद प्राप्त करने के बाद हेमचन्द्र अणहिल्लपुर गये।[1] यहा दो प्रश्न अपने आप ही उठ खडे होते है–क्या हेमचन्द्र पहली बार अणहिल्लपुर गये या पहले गये थे ? दूसरी बात वे सूरिपद प्राप्त करने के कितने दिन बाद अण-हिल्लपुर गये ? इन दोनो ही प्रश्नो का कोई समाधान प्राप्त नही होता।

आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह से प्रथम भेंट की कथा प्रभावक चरित मे इस प्रकार वर्णित है–'एक दिन सिद्धराज जयसिंह अपने हाथी पर बैठ कर नगर भ्रमण के लिए निकले। जाते समय एक दुकान के सामने उन्हे हेमचन्द्र दिखायी पडे। उन्होने हाथी रोककर उनसे कुछ कहने का आग्रह किया। इस पर हेमचन्द्र ने एक श्लोक पढा—

---

chaityas and the Mathas of the different sects in fact were the academics and the colleges where these subjects were discussed and taught We reffered to the great dialectician Santisuri who had thirty two students studying under him Pramana-sastra which included the Buddhist logic, whose cotegories were difficult to grasp This atmosphere of learning of public debates and of literary criticism as also of literary compositions was a significant feature of the times which became more and more marked with the spread of political power of Anahillapura......It was in this entelectual milien that Hemchandra the greatest intelectual of the age lived and did his work. He must have received immence benefit and impetus from such an environment but he must have also found it very difficult to shine out amongst such a glaxy of learned men."

1. प्र० च० श्लो० 64

'कारय प्रसर सिद्धहस्तिराजमशङ्कितम् ।
त्रस्यन्तु दिग्गजा कि तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यत ।।

'हे सिद्धराज ! अपने गजराज को नि शक होकर आगे बढने दो । इसके भय से दिशाओ के दिग्गज भयभीत होकर कापते हैं तो कापे–पृथ्वी की कोई हानि नही होगी क्योकि उसका भार तुम्हारे कन्धो पर है (दिग्गजो के नही ) । बुद्धिमान राजा हेमचन्द्र की इस प्रशस्ति से वहुत अधिक प्रभावित हुआ और उसने दोपहर के वाद मिलने के लिए हेमचन्द्र को आमन्त्रित किया ।'[1]

इस प्रकार प्रभावकचरित के अनुसार युग के दो महान् व्यक्तित्व–एक राजा दूसरा सूरिपद प्राप्त अद्भुत विद्वान् साधु, दोनो आपस मे मिले और दोनो मे शीघ्र घनिष्टता भी हो गयी । इन दो महान् व्यक्तियो के मिलन का बहुत ही अच्छा परिणाम हुआ ।

प्रभावकचरित के अनुसार हेमचन्द्र और सिद्धराज की दूसरी भेंट तब हुई जव मालवा विजय के उपलक्ष्य मे भिन्न-भिन्न मतावलम्बी सभी लोग राजा को साधुवाद देने गये । हेमचन्द्र जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप मे गये और उन्होने सिद्धराज की प्रशस्ति मे निम्न पक्तिया पढी—

भूमि कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा ।
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप ! त्व पूर्ण कुम्भीभव ।
धृत्वाकल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा-
न्याधत्तस्वकरैर्विजित्य जगती नन्वेति सिद्धाधिप ।।

इन पक्तियो ने राजा को और भी अधिक प्रभावित किया और उसने दोबारा आचार्य को, मिलने के लिए अपने महल मे बुलाया ।[2]

सिद्धराज जयसिंह से हेमचन्द्र की यह भेंट वि स 1191 के अन्तिम माह या 1292 के प्रथम माह (1136 ई.) मे हुई होगी ।

आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह की मित्रता का प्रथम साहित्यिक परिणाम 'सिद्ध हैमशब्दानुशासन' के रूप मे प्रकट हुआ । यह व्याकरण का अद्भुत ग्रन्थरत्न है । इस ग्रन्थ की समाप्ति पर हेमचन्द्र ने स्वय ही इसकी रचना का कारण-सिद्धराज के द्वारा बार-बार की गयी प्रार्थना बताया हैं। परम्परा मे प्राप्त अन्य व्याकरण ग्रन्थ बहुत विस्तृत, समझने मे कठिन तथा अधूरे हैं । इन सभी कमियो

---

1 प्र. च. वो , 65–69
2 वही, 70-73

को ध्यान मे रखते हुए "सिद्धहेमशब्दानुशासन" की रचना सरल सुबोध व्याकरण ग्रन्थ के रूप मे की गयी है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति को देखने से पता चलता है कि इसकी रचना सिद्धराज की मालवा विजय के बाद हुई थी। यह हो सकता है कि मालवा विजय के लिए प्रस्थान करने के पहले ही सिद्धराज ने हेमचन्द्र से इस ग्रन्थ की रचना करने की प्रार्थना की हो और उसके लौटने तक ग्रन्थ तैयार हो गया हो।

प्रभावकचरित मे इस ग्रन्थ की रचना से सम्बन्धित एक अत्यन्त विस्तृत विवरण दिया गया है जो सम्भवत ठीक ही लगता है क्योंकि यह विवरण स्वय हेमचन्द्र के द्वारा दिये गये कारणो का पूरक माना जा सकता है। इसका हेमचन्द्र से कोई विरोध नही है।

प्रभावक चरित का विवरण इस प्रकार है—

'एक बार सिद्धराज के राज्यकर्मचारी उसे 'अवन्ति' के पुस्तकालय से लायी गयी पुस्तकें दिखा रहे थे। सिद्धराज की दृष्टि एक 'लक्षण पुस्तक' (व्याकरण ग्रन्थ) पर पडी। सिद्धराज के पूछने पर कि यह क्या है ? हेमचन्द्र ने बताया कि महाराज! यह राजाभोज द्वारा लिखा गया व्याकरण ग्रन्थ है। यह इस समय का सबसे अधिक पढा जाने वाला व्याकरण ग्रन्थ है। इसके रचयिता भोज विद्वानो के शिरोभूषण थे। उनका दरबार देश के श्रेष्ठ विद्वानो से सुशोभित था। स्वय उन्होंने शब्दशास्त्र, अलकारशास्त्र, दैवज्ञशास्त्र (ज्योतिष) और तर्कशास्त्र तथा अन्यानेक ग्रन्थो की रचना की थी। इस प्रकार हेमचन्द्र ने भोज के द्वारा रचित अनेको ग्रन्थो का उल्लेख जारी रखा।'[1]

राजा भोज की साहित्यिक समृद्धि से सिद्धराज को स्वाभाविक ईर्ष्या हुई। उन्होंने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा, क्या इस प्रकार हमारे यहा ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ नही लिखे जा सकते ? क्या इसी तरह के विद्वान सारे गुजरात देश मे नही बनाये जा सकते ? सभा के सारे आदमियो ने एक साथ हेमचन्द्र की ओर देखा। इसके बाद स्वय राजा ने भी हेमचन्द्र से प्रार्थना की, हे महर्षि! मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिए। ऐसे वैज्ञानिक ग्रन्थ का निर्माण कीजिये जिससे भाषा सुकरता से सीखी जा सके। इस समय व्यवहार मे आने वाला 'कलापक' व्याकरण भाषाज्ञान कराने मे समर्थ नही है। पाणिनि का व्याकरण भी वैदिक होने तथा अनेको अपवादो एव सीमित भाषाओ का ज्ञापक होने से सर्वजन लभ्य नही है।

---

1 प्र च, श्लोक 74–78

अत हे मुनियो मे श्रेष्ठ मुनि ! आप एक ऐसे व्याकरण ग्रन्थ की रचना कीजिए जो सभी प्रकार के लोगो को लाभ पहुचा सके ।

प्रभावकचरित द्वारा वर्णित यह 'अभ्यर्थना' यद्यपि कवित्वपूर्ण है फिर भी तथ्यो से दूर नही कही जा सकती । आचार्य हेमचन्द्र का शब्दानुशासन निश्चित ही परम्परा मे लिखे गये एकागी व्याकरणो मे अद्वितीय है । सस्कृत-प्राकृत और अपभ्र श तीनो भाषाओ के व्याकरण का एकत्र समाहार सिद्धराज की अभ्यर्थना का फल भले ही न माना जाय परन्तु इस अवसर की ऐतिहासिकता मे सन्देह करना बिल्कुल गलत होगा । उज्जयिनी की विद्वत्परम्परा का प्रतिस्पर्द्धी सिद्धराज जयसिह यदि इस प्रकार के ग्रन्थ का निर्माण करवाकर भोज के समान या उससे भी बढ कर यशःकीर्ति पाना चाहे तो यह भी असभव नही । अस्तु प्रभावकचरित द्वारा दिया गया यह विवरण ऐतिहासिक माना जाना चाहिए ।

सिद्धराज की इस अभ्यर्थना को सुनकर आचार्य बोले 'आपके द्वारा इच्छित कार्य की पूर्ति हमारा अपना कर्त्तव्य भी है । काशमीर देश मे स्थित 'श्री भारतीदेवी' के पुस्तकालय मे आठ व्याकरण के ग्रन्थ हैं । उन्हे अपने आदमियो द्वारा मगवा लीजिये । इनकी सहायता से भाषा का व्याकरण वैज्ञानिक रीति से तथा सुकरतापूर्वक लिखा जा सकेगा ।"[1]

उपर्युक्त विवरण कुछ नवीन तथ्यो पर प्रकाश डालता है । एक तो इससे हेमचन्द्र की काश्मीर यात्रा का कारण मालूम हो जाता है, दूसरे यह भी ध्वनित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र की व्याकरण के ग्रन्थनिर्माण मे पहले ही से रुचि थी परन्तु उसके लिये अध्ययन की आवश्यक सामग्री न होने से वे इस कार्य को न कर सके होगे । सिद्धराज जयसिह के सहयोग से उन्हे पूर्व वैयाकरणो की आठो पुस्तकें मिली और उन्होने इन ग्रन्थो की कमियो को ध्यान मे रखते हुए एक सर्वथा नवीन व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण कर दिया । सिद्ध हैमशब्दानुशासन का सस्कृत व्याकरण से सम्बन्धित भाग सराहनीय होते हुए भी पूर्ववैय्याकरणो का अनुसरण कहा जा सकता है । परन्तु इसका प्राकृत व्याकरण से सम्बन्धित भाग, अपभ्र श व्याकरण, लिंगानुशासन आदि सर्वथा नवीन और प्रशसनीय हैं । भाषाशास्त्र के विभिन्न अ गो का जितना साङ्गोपाङ्ग विवेचन आचार्य हेमचन्द्र ने इस एक ही ग्रन्थ और उसके परिशिष्टो (लिंगानुशासन) आदि को मिलाकर कर दिया, इसके पहले कोई भी वैय्याकरण ऐसा करने का साहस न कर सका था ।

---

1 प्र च., श्लोक 25, 26, 27

कश्मीर प्रदेश के आठ व्याकरणो के मगाने की वात को लेकर पिशेल जैसे कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने आचार्य हेमचन्द्र की मौलिकता पर आक्षेप करना चाहा है। उनका यह आक्षेप हेमचन्द्र द्वारा लिखे गये सस्कृत व्याकरण पर भले ही लागू हो, परन्तु इसी व्याकरण के अ गभूत प्राकृत-व्याकरण, अपभ्र श-व्याकरण, धातुपाठ, गणपाठ, उणादि सूत्र, लिगानुशासन देशीशब्दसग्रह, पर्यायवाची शब्दो का सग्रह (अभिधान चिन्तामणि) आदि इस वात को स्पष्ट कर देते हैं कि आचार्य हेमचन्द्र व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय ज्ञाता थे। भाषा के विभिन्न अ गों का इस भाति एकत्र विवेचन परम्परा मे किसी आचार्य ने नही किया है।

प्रभावक चरित मे आगे की घटनायें भी उल्लिखित हैं।

'हेमचन्द्र ने काश्मीर देश से लाये गये आठो व्याकरण के ग्रन्थो का भली-भाति अध्ययन कर एक आश्चर्यजनक एव सर्वथा नवीन व्याकरण ग्रथ की रचना कर दी, जिसका नाम 'सिद्ध हेमचन्द्रशब्दानुशासन'[1] रखा गया। सभी व्याकरण के ग्रन्थो मे इसे श्रेष्ठ माना गया। उस युग के पण्डितो ने भी इसे व्याकरण का अधिकारी ग्रथ स्वीकार किया।'[2]

इस व्याकरण के प्रत्येक पद के अन्त मे उन्होंने चालुक्यवशीय नरेशो की प्रशसा मे एक-एक श्लोक लिखा। पूरे ग्रन्थ की कई प्रतिया बनाकर भारत के प्रत्येक प्रदेश मे भेजी गयी। वीस प्रतिया काश्मीर देश भी भेजी गयी जिन्हे 'वाग्देवी' (सरस्वती) ने वडे सम्मान के साथ अपने पुस्तकालय मे रखा।[3] काश्मीर से लाये गये आठ व्याकरण ग्रन्थो का सुष्ठु ज्ञान रखवे वाले एक कायस्थ विद्वान को हैमशब्दानुशासन के अध्यापन का भार राज्य की ओर से सौंपा गया। प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष की पचमी को इससे सम्बन्धित परीक्षाये ली जाती थी। इन परीक्षाओ मे सफल होने वाले विद्यार्थी राजा की ओर से सम्मानित किये जाते थे।'[4]

अपने व्याकरण की इस प्रशस्ति ने हेमचन्द्र को वहुत अधिक उत्साहित किया और उन्होंने और भी कई ग्रन्थ लिखे। इनमे कोशग्रन्थ काव्य के अ गो के विवेचक-ग्रन्थ तथा छन्द आदि से सम्बन्धित ग्रन्थ सम्मिलित किये जा सकते है। इनका विस्तृत विवेचन हेमचन्द्र की रचनाओ के विवेचन के सन्दर्भ मे किया जायेगा।

---

1 प्र च., श्लोक 96
2 वही, 98-100
3 वही, 101-111
4. वही, 112-115

प्रभावकचरित का उपर्युक्त विवेचन जयसिंह और हेमचन्द्र के साहित्यिक सम्बन्धो को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र का भाषाविद् व्यक्तित्व बहुत कुछ जयसिंह के सम्पर्क और सहयोग से निर्मित है। आचार्य हेमचन्द्र केवल बौद्धिक ही नही एक उच्चकोटि के नीतिज्ञ एव धार्मिक भी थे। नीति और धर्म के क्षेत्र मे भी जयसिंह आचार्य हेमचन्द्र से बहुत अधिक प्रभावित थे। इस आशय के विवरण प्रभावक चरित, कुमारपाल प्रबध तथा हेमचन्द्र और जयसिंह से सम्बन्धित अन्य प्रबन्धो मे प्राप्त हो जाते हैं। यहा सभी का उल्लेख न कर ऐसी ही एक घटना का उल्लेख समीचीन होगा—

मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा से एक बार जयसिंह ने विभिन्न धर्मों के ज्ञाताओ से ईश्वर, धर्म और मुक्ति का पात्र कौन हो सकता है आदि प्रश्न अपनी शका के रूप मे सामने रखे। प्रत्येक धर्म के पण्डितो ने अपनी धार्मिक मान्यताओ के अनुसार इन तत्त्वो की व्याख्या की। जयसिंह किसी भी की व्याख्या से सतुष्ट न हो सके। उन्होने हार-थक कर आचार्य हेमचन्द्र की शरण ली। आचार्य ने उन्हे एक पौराणिक कथा सुनायी —

"शेखपुर मे शाम्ब नामक एक सेठ और यशोमति नाम की उसकी स्त्री रहती थी। पति ने अपनी पत्नी से अप्रसन्न होकर एक दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया। अब वह नवोढा के वश मे होकर बेचारी यशोमति को फूटी आखो से देखना भी बुरा समझने लगा। यशोमति को अपने पति के इस व्यवहार से बडा कष्ट हुआ और वह प्रतिकार का उपाय सोचने लगी।

एक बार कोई कलाकार गौड देश से आया। यशोमति ने पूर्ण श्रद्धा भक्ति मे उसकी सेवा की, और उससे एक ऐसी औषधि ले ली, जिसके द्वारा पुरुष पशु बन सकता था। यशोमति ने आवेशवश एक दिन भोजन मे मिलाकर उक्त औषधि को अपने पति को खिला दिया, जिससे वह तत्काल बैल बन गया। अब उसे अपने इस अधूरे ज्ञान पर बडा दु ख हुआ और वह सोचने लगी कि बैल को पुरुष किस प्रकार बनावे। लज्जित और दु खित वह जगल मे पास वाली भूमि मे एक वृक्ष के नीचे बैल रूपी पति को घास चराया करती थी और बैठी-बैठी विलाप करती रहती थी। दैवयोग से एक दिन शिव और पार्वती विमान पर बैठे हुए आकाश मार्ग से जा रहे थे। पार्वती ने उसका करुण विलाप सुनकर शकर भगवान से पूछा स्वामिन! इसके दु ख का कारण क्या है? शकर ने पार्वती का समाधान किया और कहा कि—इस वृक्ष की छाया मे ही इस प्रकार की औषधि विद्यमान है जिसके सेवन से यह पुन पुरुष बन सकता है। इस सवाद को यशोमति ने भी सुन लिया। उसने तत्काल ही

उस छाया को रेखांकित कर लिया और उसके मध्यवर्ती तमाम घास के अकुरों को तोड-तोड कर बैल के मुख मे डाल दिया। घास के साथ औषधि के चले जाने पर बैल पुन पुरुष बन गया।

इस प्रकार आचार्य ने आख्यान का उपसहार करते हुए कहा— "राजन्, जिस प्रकार नाना प्रकार की घासो के मिल जाने से औषधि की पहिचान नही हो सकी, उसी प्रकार इस युग मे कई धर्मों के प्रचलन से सत्य धर्म तिरोभूत हो रहा है। परन्तु समस्त धर्मों के सेवन से उस दिव्य औषधि की प्राप्ति के समान पुरुष को कभी न कभी शुद्ध धर्म की प्राप्ति हो ही जाती है। जीव-दया, सत्य-अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सेवन से, बिना किसी विरोध के, समस्त धर्मों का आराधन हो जाता है।"[1]

इस कथा के आधार पर आचार्य हेमचन्द्र का एक सर्वथा नवीन धार्मिक दृष्टिकोण सामने आता है। जैन धर्म के अनुयायी होते हुए भी उन्हे किसी धर्म मे विद्वेष नही था। प्राणिमात्र को वे धर्म की सीमा से ऊपर मानते थे। मानवहित सम्बन्धी सभी बातें उन्हे मान्य हैं, भले उनका उल्लेख जैन धर्म मे न हो। इस प्रकार सर्वधर्म समन्वय की भावना ने आचार्य हेमचन्द्र को और भी उच्चासन पर बैठा दिया था। धर्म के प्रति उनका यह उदारतापूर्ण दृष्टिकोण कई स्थलो पर स्पष्ट हुआ है। सोमनाथ पट्टन मे उनके द्वारा की गयी शिव की प्रार्थना उनके इसी दृष्टिकोण का परिणाम कही जा सकती है। उन्होंने अपने "द्वयाश्रय काव्य"[2] मे भी कहा है कि "जिन" का दर्शन अर्हत्, शिव, विष्णु और ब्रह्मा सभी मे किया जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र के ही समान उनके पूर्व के कुछ जैनाचार्यो का भी धर्म के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण है। चालुक्यवशी भीम प्रथम के समकालीन कवि ज्ञानदेव "शिव ही जिन हैं" ऐसा कहकर अपना उदार दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। उनके अनुसार शिव और जैन मे भेद करना मिथ्यामति मात्र है। इसी प्रकार सोमेश्वर[3] नाम के जैन विद्वान् भी ऐसी ही दृष्टि रखते हैं। आचार्य हेमचन्द्र का यह विलक्षण धार्मिक दृष्टिकोण उनकी रचनाओ मे भी देखा जा सकता है। सस्कृत द्वयाश्रय काव्य का समस्त वातावरण सनातनी है तथा प्राकृत द्वयाश्रय काव्य जैन धर्म का गुणगान करता है। इसी प्रकार अन्य कृतियो मे भी उनके उदार धार्मिक दृष्टिकोण को परिलक्षित किया जा सकता है। आचाय का सम्पूर्ण जीवनकाल भी धार्मिक समन्वय ही

1 प्रभावक चरित पृ 70
2 द्वया का, प्रथम अध्याय, श्लोक 79
3 सुरथोत्सव के रचयिता तथा मत्री वस्तुपाल के मित्र।

कहा जाना चाहिए । वे जिस परिवार के सदस्य थे उस परिवार मे भी भिन्न-भिन्न धर्मो को मानने वाले लौग सौहार्द से रहते थे । उनके पिता शैव थे, माता तथा मातुल जैन थे । वे जैन धर्म मे दीक्षित होने के बाद भी जयसिंह जैसे कट्टर शैव नृपति के सम्माननीय उपदेशक रहे । हेमचन्द्र के साहित्यिक जीवन का उत्तरार्द्ध भाग कुमारपाल के आश्रय मे बीता । कुमारपाल भी शैव था । आचार्य के उदार दृष्टिकोण ने ही उसे जैन धर्म की सेवा मे रत किया । इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र का बौद्धिक जीवन ही नही उनका व्यावहारिक एव भावात्मक जीवन भी विभिन्न धर्मो की समन्वयात्मक दृढ नीव पर स्थित है ।

अस्तु आचार्य हेमचन्द्र के आदर्श उदारतावादी धार्मिक दृष्टिकोण ने जयसिंह को बहुत अधिक प्रभावित किया । प्राकृत द्वयाश्रयकाव्य से हमे इस आशय की सूचना मिल जाती है कि जयसिंह ने "रुद्रमहालय" का पुनर्निर्माण (सिद्धपुर मे) करवाने के बाद एक जैन मन्दिर का भी निर्माण कराया और इसकी देखभाल के लिए बहुत से ब्राह्मणो की नियुक्ति भी की । इस घटना की पुष्टि सोमप्रभाचार्य के "कुमारपाल प्रतिबोध" से भी हो जाती है । अरब के एक भूगोलवेत्ता "अलइदरीसी" के अनुसार जीवन के अन्तिम दिनो मे जयसिंह जैन धर्म की ओर आकृष्ट हो रहा था । उसी से सूचना मिलती है कि वह बुद्ध की मूर्ति की भी पूजा करता था । परन्तु इन विवरणो से यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि जयसिंह किसी धर्मविशेष की ओर आकृष्ट था । जयसिंह एक प्रजापालक राजा था । प्रजा द्वारा माने जाने वाले भिन्न-भिन्न धर्मो का यथोचित सम्मान उसका राजोचित धर्म था । यदि जीवन के अन्तिम दिनो मे उसका विशेष झुकाव जैन धर्म की ओर था तो इसका कारण आचार्य हेमचन्द्र और इन्ही के समान विद्वान् वीराचार्य तथा मालाधारी हेमचन्द्र (एक अन्य हेमचन्द्र) आदि से सम्पर्क रहा होगा । वीराचार्य बचपन से ही जयसिंह के मित्र थे । मालाधारी हेमचन्द्र ने भी जयसिंह को प्रभावित कर लिया था । जयसिंह ने उन्हे धर्मध्वज फहराने तथा जैन मन्दिरो पर अण्डाकार सुनहरे गोलक रखने की आज्ञा दी थी । मालाधारी हेमचन्द्र ने जयसिंह से एक ताम्रपत्र भी प्राप्त किया था जिस पर वर्ष के 80 दिनो मे जीवो की हत्या न करने का राज्यादेश अकित था[1] ।

इस प्रकार जयसिंह जैसे योग्य राजा के दरबार मे रहकर आचार्य हेमचन्द्र ने अपने साहित्यिक जीवन का अत्यधिक भाग यापन करते हुए अपने महान् व्यक्तित्व का निर्माण किया । इन दो महान् व्यक्तियो के एकत्र सहयोग ने "अणहिल्लपुर" की

---

1. डा. बूलर—लाइफ आफ हेमचन्द्र, पृ 84–84 नोट न 53

साहित्य और कला साधना को उज्जयिनी आदि प्रसिद्ध सांस्कृतिक नगरो मे भी अधिक ऊ चाई पर पहु चा दिया ।

## आचार्य हेमचन्द्र और कुमारपाल

आचार्य हेमचन्द्र की साहित्य साधना दो महान् राजाओ की छाया मे परि-वर्द्धित एव विकसित हुई । प्रथम राजा सिद्धराज जयसिंह (वि० स० 1151-1199) तथा दूसरा राजा कुमार पाल जो कि सिद्धराज के बाद अणहिल्लपुर के सिंहासन का अधिकारी हुआ । इन दोनो राजाओ की छत्रछाया मे रहकर हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ रत्नो का निर्माण किया । सिद्धराज और हेमचन्द्र के सम्बन्धो की चर्चा ऊपर की जा चुकी है यहा कुमारपाल और हेमचन्द्र के सम्बन्धो पर विस्तार से विचार कर लेना समीचीन होगा ।

सिद्धराज जयसिंह के पश्चात् अणहिल्लपुर की गद्दी का उत्तराधिकारी कोई नही था क्योकि जयसिंह की अपनी कोई भी सन्तान नही थी । पुरातन प्रबन्ध सग्रह के अनुसार जयसिंह की मृत्यु के बाद 18 दिनो तक राज्य सिंहासन पर उसकी पादुका रखी गयी । 19 वें दिन कुमार पाल ने अपने बहनोई कान्हडदेव की सहायता से उस पर अधिकार प्राप्त किया । कुमार पाल प्राप्त प्रमाणो के आधार पर जयसिंह का भतीजा था परन्तु जयसिंह उसका कट्टर शत्रु था । अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे वह बराबर कुमारपाल को मरवा डालने का प्रयत्न करता रहा था । जयसिंह की इस शत्रुता का क्या कारण था इसे जानने के लिए कुमार पाल के जीवन चरित पर सक्षिप्त दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा । आचार्य हेमचन्द्र के साथ उसके प्रथम साक्षात्कार की समस्या भी इसी सन्दर्भ मे हल हो जायेगी ।

## कुमारपाल

कुमारपाल के शासनकाल तथा उसके जीवन का विस्तृत परिचय देने वाले अब तक 21 अभिलेख गुजरात से प्राप्त हो चुके हैं । इनमे दो ताम्रपत्रो पर तथा शेष शिलाओ पर अकित है । इनमे 1151 तथा 1125 ई० के दो प्रस्तर लेख तथा 1156 ई० का एक ताम्रपत्र कुमार पाल के जीवन से सबधित विवरण प्रस्तुत करने वाले है । शेष उसके शासन काल का विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

कुमार पाल से जीवन का विस्तृत परिचय साहित्यिक कृतियो द्वारा प्राप्त होता है । इनमे तीन ग्रन्थ स्वय कुमार पाल के समकालीन हैं—

(१) आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत-द्वयाश्रयकाव्य या कुमारपाल चरित ।

(2) सोमप्रभाचार्य का कुमारपाल-प्रतिबोध तथा मोहराजपराजय नामक नाटक ।[1]

(3) स्वय हेमचन्द्र के अन्य ग्रन्थो मे प्राप्त विवरण । आचार्य के छन्दोऽनुशासन के 20 श्लोक, देशी नाममाला या रमणावली के 105 पद त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित की कुछ पक्तिया इसी ग्रन्थ का प्रशस्तिपर्व आदि सभी कुमारपाल के जीवन पर प्रकाश डालते हैं ।

द्व्याश्रयकाव्य[2] के अनुसार भीम प्रथम के बडे पुत्र का नाम क्षेमराज था । छोटे पुत्र का नाम कर्ण था । क्षेमराज ने अपनी धार्मिक वृत्ति के कारण राज्य शासन स्वीकार न कर कर्ण को सौप दिया और सरस्वती के किनारे दधिस्थली मे तपस्या करने लगे । क्षेमराज को देवप्रसाद नाम का एक पुत्र था । जब कर्ण ने अपनी गद्दी सिद्धराज को सौपी तो उसने उसे यह निर्देश किया कि वह देव प्रसाद पर दयादृष्टि रखते हुए उसकी देखभाल करता रहे । परन्तु देवप्रसाद कर्ण के साथ ही परलोक-गामी हुआ । मरने के पहले उसने अपने पुत्र त्रिभुवनपाल को जयसिंह की रक्षा मे छोड दिया था । कुमारपाल इसी त्रिभुवनपाल का पुत्र था । इसी प्रकार का विवरण चित्तौडगढ मे प्राप्त एक अप्रकाशित अभिलेख[3] तथा कुमारपाल प्रतिबोध मे मिलता है ।

उपर्युक्त घटना को एक ऐतिहासिक तथ्य मानने मे कुछ आपत्तिया अवश्य हैं । यदि कुमारपाल जयसिंह के ही परिवार का था तो फिर जयसिंह ने स्वेच्छा से उसे अधिकार क्यो नही दे दिया । वह उसको मरवा डालने के लिए क्यो प्रयत्नशील रहा ? प्रभावक चरित मे दिये गये कुमारपाल से सम्बन्धित विवरण से इस समस्या पर थोडा प्रकाश पडता है अत उसका विवेचन समीचीन होगा—

"महाराज भीम ने अपनी एक अत्यन्त स्वामिभक्त दासी बकुला देवी या चौला देवी से विवाह कर लिया । इस दासी से हरिपाल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । हरिपाल के पुत्र का नाम त्रिभुवनपाल था । कुमारपाल इसी त्रिभुवनपाल का पुत्र था । माता की ओर से निम्न वर्ग का होने के कारण ही कुमारपाल जयसिंह की घृणा का पात्र बन गया था ।[4]

---

1 यशपाल कृत ।
2 प्राकृमद्व्याश्रय काव्य–श्लोक सख्या 70-77 ।
3 इस अभिलेख का उद्धरण डा0 गौरीशकर हीराचन्द्र ओझा ने अपने ग्रन्थ "राजपूताने का इतिहास (भाग 1, पृ0 318-19) मे दिया है ।
4. प्रभावक चरित पृ0 77 ।

प्राकृतद्व्याश्रयकाव्य और प्रभावक-चरित के इस विवरण में बहुत बड़ा अन्तर है। रसिकलाल सी० पारिख के अनुसार—

"This account of Prabhavakcharita gives a cradible explanation of Jaisingha's hostile attitude to Kumarpal, but differs in its geneology from contemporary accounts[1] and Flatly contradicts D.K (Dvyashraya Kavya) according to which Kshamraj was fully legible for the throne. We don't know what was the authority of the P C (Prabhavak-Charit) for such a humiliating origin to a king who according to the Jaina sources was a Paramarhat (परमार्हत) a great Jain King As it is we can not accept it in face of contemporary authorities"[2]

प्रभावक चरित्र से ही मिलता-जुलता और कुछ आगे बढ़ा हुआ विवरण जिनमण्डल कृत कुमारपाल प्रबन्ध मे भी मिलता है। कुमारपाल के समस्त परिवार का विवेचन इस ग्रन्थ का अतिरिक्त विवरण हैं। शेष प्रभावक चरित का ही अनुसरण है।

समसामयिक साक्ष्यो के आधार पर कुमारपाल राज परिवार से ही सम्बन्धित था। द्व्याश्रय काव्य मे कई स्थलो पर उसे 'भैमी" कहकर सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है भीम का उत्तराधिकारी। इस शका का समाधान तो हो जाता है परन्तु जयसिंह और कुमारपाल की शत्रुता के कारण की समस्या ज्यो की त्यो बनी रहती है। यह भी विवरण मिलता है कि 20 वर्ष की अवस्था तक कुमारपाल जयसिंह के ही आश्रय मे रहा। परन्तु इसी बीच जयसिंह उसका शत्रु हो गया और उसको मरवा डालने की चेष्टा करने लगा। इस शत्रुता का एक मात्र कारण प्रतिद्वन्दिता की भावना थी। प्रभावक चरित के अनुसार कुमारपाल जिस समय (1199 वि० स०) मे गद्दी पर बैठा उसकी अवस्था 50 वर्ष की थी अर्थात् उसका जन्म 1149 वि० स० मे हुआ था। 1149 वि० स० मे ही सिद्धराज जयसिंह सिंहासनारूढ हुआ, उस समय उसकी अवस्था केवल ८ वर्ष की थी। इस तरह चाचा जयसिंह और भतीजे कुमारपाल की अवस्था मे बहुत कम अन्तर था। जयसिंह को

1. हेमचन्द्रकृत प्राकृतद्व्याश्रयकाव्य यशपालकृत 'मोहराजपराजय', सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपालप्रतिबोध' तथा आ० हे० च० द्वारा अन्य ग्रन्थो मे दिये गये विवरण, समकालीन होने के कारण अधिक विश्वसनीय है।
2 काव्यानुशासन भूमिका पृष्ठ 9/9।

कुमारपाल द्वारा सिंहासन छीन लिये जाने का डर लगा रहता रहा होगा अत वह उसको मरवा डालने मे ही अपना कल्याण समझता था। "पुरातन प्रबन्ध सग्रह" के अनुसार कुमारपाल ने मार डाले जाने के भय से २० वर्ष की अवस्था मे ही अणहिल्लपुर छोड दिया था। वह भारत के विभिन्न भागो मे घूमता रहा। सात बार केदारनाथ की यात्रा की। इस प्रकार वह ३० वर्ष तक छिपकर अपनी रक्षा करता रहा। उज्जयिनी मे एक मोची की दुकान पर जयसिंह की मृत्यु की चर्चा सुनकर वह पुन अणहिल्लपुर वापस आया।[1]

### हेमचन्द्र और कुमारपाल की प्रथम भेट

"सिद्धराज-जयसिंह से डर कर प्राण बचाकर भागता हुआ कुमारपाल स्तम्भ-तीर्थ पहुँचा। यहा पर वह उदयन मत्री और आचाय हेमचन्द्र से मिला।[2] दु खी कुमारपाल ने आचार्य से पूछा—'प्रभो ! क्या मेरे भाग्य मे इसी तरह कष्ट भोगना लिखा है कि और कुछ भी है ?

आचार्य ने कहा—भवता कियतापि त्व कालेन क्षितिनायक ॥

—जयसिंह सूरि कृत कुमारपालचरित

आचार्य के इस कथन पर उसे विश्वास नही हुआ। सूरीश्वर ने थोडी देर विचार कर कहा—"मार्गशीर्ष कृष्ण १४ वि०स० ११९९ मे आप राज्याधिकारी होगे। मेरा यह कथन कभी असत्य नही हो सकता।" यह तिथि उन्होंने एक पत्रक पर लिखकर कुमारपाल तथा उदयन मत्री दोनो को दे दी। इस पर कुमारपाल बोला—"प्रभो ! यदि आपका वचन सत्य हुआ तो आप ही पृथ्वीनाथ होगे। मैं तो आपके पाद पद्मो का सेवक बनू गा। "हँसते हुए सूरीश्वर बोले "हमे राज्य से क्या काम ? यदि आप राजा होकर जैन धर्म की सेवा करेंगे तो हमे प्रसन्नता होगी।"

---

1 पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृष्ठ 38।

2 जिनमण्डन कृत कुमार पाल प्रबन्ध मे (पृ० 18-22), इसके पहले भी एक वार हेमचन्द्र और कुमारपाल की भेंट वर्णित है—"एक बार कुमारपाल जयसिंह से मिलने गया था। उसने मुनि हेमचन्द्र को वहा सिंहासन पर बैठे देखा। वह उनके व्यक्तित्व से बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उनके भाषण कक्ष मे जाकर भाषण सुनने लगा। उसने आचाय से पूछा—मनुष्य का सबसे बडा गुण क्या है ? आचार्य ने कहा— 'दूसरो की स्त्रियो मैं मा बहिन की भावना रखना सबसे बडा गुण है।" यदि इस घटना को ऐतिहासिक माना जाये तो यह स० 1169 के पहले की होगी या लगभग इसी समय की होगी। क्योंकि इस समय तक कमारपाल निश्चित होकर जयसिंह के राज्य मे रह रहा था। ऊपर की कथा का इस कथा से कोई विरोध भी नहीं है। कुमारपाल का एकाएक हेमचन्द्र से अपनी समस्या का समाधान पूछने का ढग भी बताता है कि वह उनसे पूव परिचित था।

विमृश्याभिदधे सूरिर्नवाङ्०केश्वरवत्सरे ।
चतुर्थ्यां मार्गशीर्षस्य श्यामाया पुष्यगे तिथौ ॥ 184 ॥
अपराह्ले तवैश्वर्य यदि नोर्जस्वि जायते,
निमित्तालोक सन्त्यास (?) स्तर्ह्य त . परमस्तुमे ॥ 185 ॥
प्रतिज्ञायेति सूरीन्द्रस्तदा तद्दिन पत्रकम् ।
लेखित्वा प्रददौ तस्मै सचिवोदयनाय च ॥ 186 ॥
तेन तस्य सुरस्येव ज्ञानेनातिचमत्कृत ।
चौलुक्यस्तमुवाचेव घटिताजलि मजुल ॥ 187 ॥
यद्येतत्त्वद्वच सत्य त्वमेव क्षितिपस्तदा ।
अह तु त्वत्पदाम्भोज सेविष्ये राज हसवत् ॥ 188 ॥
वदन्तमिति त सूरिर्जगौ राज्येन किं मम ।
भानुनेव त्वयोद्भास्य शश्वज्जैन मताम्बुजम् ॥ 189 ॥

—"कुमारपाल चरित"

इसके ठीक बाद ही जयसिंह के आदमी कुमारपाल को ढूंढते हुए पहुँचे। आचार्य ने वसति के भूमिगृह (तहखाने) मे कुमारपाल को छिपा दिया और उसके द्वार को पुस्तको से वन्द कर दिया। तत्पश्चात् जव जयसिंह की मृत्यु हुई आचार्य की भविष्यवाणी के अनुसार कुमारपाल सिंहासनारूढ हुआ। यह घटना वि स 1199 की है। इस समय कुमारपाल की अवस्था 50 वर्ष थी।

कुमारपाल के राजा हो जाने के वाद हेमचन्द्र कर्णावती से अणहिल्लपुर आये। मन्त्री उदयन ने उनका प्रवेशोत्सव किया। उनके यह पूछने पर कि कुमारपाल उन्हे याद करता है या नही ? मन्त्री ने वताया कि वह आचार्य को भूल चुका है। इस पर हेमचन्द्र ने कहा कि "आज आप जाकर राजा से कहे कि वह अपनी नयी रानी के महल मे न जाये वहा आज दैवी उत्पात होगा।" उन्होने मन्त्री को इस वात के लिए समझा दिया कि वह वहुत पूछने पर ही राजा से यह वतायें कि मेरे द्वारा यह वात वताई गई है। मन्त्री ने जाकर राजा से कहा। रात्रि को महल पर बिजली गिरी और रानी की मृत्यु हो गयी। चमत्कृत कुमारपाल को जव आचार्य द्वारा वताई गई इस चमत्कारपूर्ण वात का पता चला, वह अतीव प्रमुदित हुआ और उन्हे वुलाकर महल मे ले आया—उसने अपनी प्रतीज्ञा के अनुसार सूरीश्वर को राज्य देने की इच्छा की। सूरि ने कहा—"राजन् अगर आप कृतज्ञता स्मरण कर प्रत्युपकार करना चाहते हैं तो जैन धर्म स्वीकार कर उसका प्रसार करें। राजा ने धीरे-धीरे यह धर्म स्वीकार किया। उसने अपने राज्य मे प्राणिवध, मासाहार, असत्य भाषण, द्यूत-

व्यसन, वेश्यागमन, परधनहरण आदि का निषेध कर दिया। इस तरह अपने जीवन के अन्तिम समय मे कुमारपाल ने हेमचन्द्र के प्रभाव से जैन धर्म स्वीकार कर लिया।

डा० बूलर[1] की मान्यता है कि हेमचन्द्र कुमारपाल से तब मिले जब उसने राज्य प्राप्त कर लिया था। इस मत की पुष्टि मे वे "महावीर चरित" के 53 वे श्लोक का सहारा लेते हैं। इसी ग्रन्थ मे[2] ही यह उल्लेख मिलता है जब राज्य का विस्तार हो गया और सारी विजये भी प्राप्त हो गयी इसके बाद ही कुमारपाल और आचार्य हेमचन्द्र सम्पर्क मे आये। डा० बूलर प्रबन्ध सग्रहो द्वारा दिया गया विवरण ऐतिहासिक नही मानते।

डा० बूलर के इस मत की आलोचना डा० रसिकलाल पारिख[3] ने की है। उनका कथन है कि अपने मत की स्थापना मे डा० बूलर ने महावीर चरित[1] केजिन श्लोको का आधार लेकर निष्कर्ष निकालना चाहा है वह सर्वथा विवादास्पद है। इसके 45-51 तक के श्लोक स्वय कुमारपाल और उसके सुन्दर शासन का विवरण देते हैं श्लोक 52 मे उसके राज्य विस्तार का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। 53-58 तक के श्लोक आचार्य हेमचन्द्र और कुमारपाल के बीच प्रत्येक दिन होने वाली वार्ता का विवरण प्रस्तुत करते हैं डा० बूलर ने भ्रम से यह समझ लिया कि दोनो के बीच हुई यह वार्ता प्रथम वार्ता है, परन्तु यह उनकी भ्राति मात्र है। इस तथ्य से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस तरह की नित्य होने वाली वार्ता अवश्य ही कुमारपाल की महत्त्वपूर्ण विजयो के बाद ही शुरू हुई होगी। पहले अपनी व्यस्तता के कारण कुमारपाल को इस तरह आचार्य के उपाश्रय मे बैठकर शिक्षा ग्रहण करने का अवसर न मिलता रहा होगा।

प्राप्त उल्लेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र से पूर्व परिचित होते हुए भी अर्णोराज पर आक्रमण करने के बाद ही कुमारपाल आचार्य तथा उनके माध्यम से जैन धर्म से घनिष्टतम रूप से सम्बन्धित होने लगा था। अर्णोराज पर किये गये आक्रमण मे असफलता मिलने पर कुमारपाल ने अपने मत्री बाहड की सलाह से अजितनाथ स्वामी की प्रतिमा का स्थापन समारोह कराया। इसकी सारी विधि आचार्य ने ही सम्पन्न कराई लगभग वि स 1207 तक कुमारपाल जयसिंह के पुराने अधिकारियो द्वारा किये जाने वाले षडयन्त्रो से निश्चित होकर तथा युद्धो से भी छुटकारा पाकर धीरे-धीरे आध्यात्मिकता की ओर झुकने

---

1 डा0 बलर लाइफ आफ हेमचन्द्र, पृ0 83-84।
2 महावीरचरित, पृ0 34।
3 काव्यानुशासन, भूमिका, पृष्ठ सी0 सी0 एल0 33।

लगा था और उसके इस परिवर्तन मे आचार्य हेमचन्द्र का बहुत कुछ हाथ था। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र का सम्पर्क कुमारपाल से बहुत पहले ही हो चुका था और राजा होने के लगभग 16 वर्ष बाद उसने जैन धर्म स्वीकार किया, यही कारण है कि "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित"[1] और "अभिधान-चिन्तामणि" मे हेमचन्द्र ने कुमारपाल की प्रशस्ति दी है।

जिस प्रकार सिद्धराज जयसिंह की प्रार्थना पर हेमचन्द्र ने "सिद्ध हेम-शब्दानुशासन" की रचना की थी उसी प्रकार कुमारपाल के प्रार्थना करने पर उन्होंने "योगशास्त्र", "वीतराग स्तुति" "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित" तथा "अभिधानचिन्ता-मणि" आदि ग्रन्थो की रचना की।

## हेमचन्द्र का कुमारपाल पर प्रभाव

जयसिंह के प्रसग मे इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि हेमचन्द्र जैन आचार्य होते हुए भी सभी धर्मो का समान रूप से आदर करते थे। उनकी इस भावना का प्रभाव कुमारपाल पर भी पड़ा। खम्भात मे कुमारपाल ने आचार्य के समक्ष यह शर्त मान ली थी कि यदि वह भविष्यवाणी के अनुसार निश्चित समय पर राजा हो गया तो जैन धर्म की सेवा करेगा। इसके अतिरिक्त 20 वर्ष की अवस्था से ही उस पर आचार्य की विद्वत्ता का प्रभाव पड चुका था। राज्य प्राप्त करने के बाद हेमचन्द्र की इच्छानुसार उसने जैन धर्म स्वीकार भी कर लिया।

कुमारपाल ने जैन धम स्वीकार किया था या नही इस बात को लेकर कुछ विवाद भी है। शिलालेखो मे कुमारपाल को "महेश्वरनृपाग्रणी" कहा गया है।[2] इन प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कुमारपाल की चिन्तन धारा मे परिवर्तन आया फिर भी उसने अपनी पारम्परिक पूजा पद्धति को पूरी तरह नही छोड दिया। यज्ञो आदि के अवसर पर उसने पशुवलि भले ही वन्द करा दी हो लेकिन अपने कुलदेव शिव का सदैव भक्त बना रहा। कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र को अपना गुरु मानता था। जैन धर्म की अच्छाइयो को देखकर उसका सम्मान भी करता था। कई अवसरो पर उसने जैन मन्दिरो मे पूजा भी अर्पित की। परन्तु उसने पूर्णत जैन धर्म स्वीकार कर लिया था इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण विरोध करते हैं। प्रत्येक राजा का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपने राज्य के सभी

---

1 त्रिपष्टिशलाका पुरुपचरित मे हेमचन्द्र ने कुमारपाल को 'परमाहत' कहकर सम्बोधित किया है।

2. कुमारपाल के शासनकाल मे लिखा गया भाववृहस्पति का शिलालेख। इसका उल्लेख रसिक-लाल सी पारिख ने काव्यानुशासन की भूमिका पृ० 287 पर किया है।

धर्मों की समृद्धि मे योग देने के साथ ही उनका सम्मान भी करे । राजा होने के बाद कुमारपाल ने भी इसी परम्परा का पालन किया ।

इन ऐतिहासिक प्रमाणो से अलग कुछ साहित्यिक प्रमाण और स्वय आचार्य हेमचन्द्र की उक्तिया हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि कुमारपाल ने अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे जैन धर्म स्वीकार कर लिया था । यशपाल द्वारा रचित "मोहराज पराजय" नामक नाटक मे कुमारपाल के सात्विक और आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण झाकी मिलती है । अत कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, इसमे आशका नही रहती । राजा कुमारपाल ने अनेक मन्दिर बनवाये । भिन्न-भिन्न स्थानो पर 1440 विहार बनवा कर धर्म प्रचार के लिए बहुत बडा प्रयास किया ।

यदि इन दोनो मतो को एकत्र समन्वित कर देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि कुमारपाल यद्यपि जीवन भर शैव था फिर भी हेमचन्द्र के प्रभाव से उसने अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे जैन धर्म मे आस्था दिखायी होगी । कुमारपाल के जीवन मे आचार्य हेमचन्द्र का बहुत बडा स्थान था । वे उसके पूज्य धर्म गुरु ही नही, रक्षक भी थे । अत उनका सम्मान करने के लिए कुमारपाल द्वारा जैन धर्म का स्वीकार किया जाना न तो असभव ही लगता है और न असगत ही ।

"त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित" की प्रशस्ति से उपयुक्त तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है—

"चेदि दशार्ण, मालवा, कुरु, सिन्धु इत्यादि दुर्गम प्रदेशो का विजेता चालुक्य-राजा कुमारपाल जो मूलराज का उत्तराधिकारी तथा परमार्हत था एक दिन आचार्य के समक्ष विनम्रतापूर्वक झुककर कहने लगा—

मुनिश्रेष्ठ ! आपके द्वारा आज्ञा पाकर मैंने अपने राज्य मे उन सभी कार्यो को बन्द करा दिया है जो नरक की ओर ले जाने वाले है जैसे जुआ खेलना, मदिरा पीना, नि सतान मृतव्यक्ति की सम्पत्ति का हडप लेना आदि । मैंने पृथ्वी को अर्हत् (जैन) मन्दिरो से भर दिया है आदि ।[1]

इन सभी प्रमाणो को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कुमार-पाल के जीवन पर हेमचन्द्र का बहुत बडा प्रभाव था । "प्रबन्ध कोश" के अनुसार कुमारपाल राजनैतिक मामलो मे भी हेमचन्द्र की सलाह लेता था, यहा तक कि राज्य शासन के उत्तराधिकार से सम्बन्धित समस्याए भी वह आचार्य के सामने रखता था ।

---

1 त्रिष्टिशलाकापुरुषचरित-श्लोक पृष्ठ 16-18 ।

दूसरी अन्य बातें जिनका सम्बन्ध प्रजा के कल्याण से रहता था, वे भी आचार्य की आज्ञा लेकर की जाती थी।

**आचार्य हेमचन्द्र और उस युग के अन्य ख्याति प्राप्त व्यक्तित्व**

सिद्धराज जयसिह और कुमारपाल जैसे दो पराक्रमी राजाओ से घनिष्टतम रूप से सम्बन्धित होने के अतिरिक्त हेमचन्द्र उस युग के अन्य प्रसिद्ध लोगो से भी अच्छी तरह परिचित थे। ऐसे लोगो मे बुद्धिमान मत्री उदयन और उसके पुत्र वाहड तथा आभड आदि इनसे निकटतम रूप से सम्बन्धित थे। जैन धर्म के विद्वानो के अतिरिक्त वे अन्य धर्म के मानने वाले विद्वानो से भी अच्छी तरह परिचित थे। भागवत धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् देवबोध के वे बहुत बडे प्रशसक थे। देवबोध और श्रीपाल मे मैत्री कराने मे इन्होने बहुत बडी सहायता की। हम पहले इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि आचार्य हेमचन्द्र के समय का गुजरात विद्वानो से भरा हुआ था। आये दिन विद्वानो मे विवाद होते रहते थे। आचार्य हेमचन्द्र भी इन विवादो मे सम्मिलित होते थे परन्तु अपने प्रभाव के कारण इनकी कभी किसी से कटुता नही हुई। केवल "आमिग" नाम के विद्वान्, एक ऐसे व्यक्ति थे जिनसे हेमचन्द्र के सम्बन्ध अच्छे नही बताये जाते। इनके कई शिष्य[1] भी थे।

प्रभावक चरित के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र की मृत्यु 84 वर्ष की परिपक्व अवस्था मे वि स 1229 (1173) मे हुई थी। कुमारपाल की मृत्यु इनकी मृत्यु के छ महीने बाद 1174 ई मे हुई थी। आचार्य की मृत्यु से कुमारपाल को बहुत बडा धक्का लगा।

**आचार्य हेमचन्द्र की रचनाऐं**

"आचार्य हेमचन्द्र का व्यत्तित्व बहुमुखी था। ये एक साथ ही महान् सन्त, शास्त्रीय विद्वान्, वैयाकरण, दार्शनिक, काव्यकार, योग्य लेखक और लोक चरित्र के अमर सुधारक थे। जैन धर्म परम्परा इन्हे एक अवतारी पुरुष के रूप मे मानकर

---

1 Hemchandra had a group of Disciple who were very learned and who helped him in his work Of these Ramchandra (रामचन्द्र) deserves special mention He is reputed to be the author of hundred Prabandhas that is composition Some of his plays are published, they are good as literature and show considerable skill in the technique af play writing His Natya Darpana (नाट्यदर्पण) a work of Dramaturgy has been published .. His kumarviharsatak (कुमारविहारशतक) is a fine description."
—Introduction to Kavyanusasan. pp CCXIC & CCXC

इनके द्वारा प्रणीत असख्य ग्रन्थो का उल्लेख करती है। कही-कही तो इन्हे लगभग साढे तीन करोड श्लोको का निर्माता बताया गया है। परन्तु हेमचन्द्र के नाम से मिलने वाली ऐमी रचनाओ मे अनेको सदिग्ध है। अब तक की खोजो के आधार पर उनके जितने प्रामाणिक ग्रन्थ सामने आये हैं उन्हे देखकर यह कहना पडता है कि सचमुच वे "कलिकाल सर्वज्ञ" थे। उनकी विविध ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य और कला आदि से सम्बन्धित रचनाओ को देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पडता है। एक ही व्यक्ति द्वारा इतने सारे ग्रन्थो का निर्माण वह भी अत्यधिक विस्तार से भारतीय साहित्य परम्परा के लिए एक नयी बात थी।

"त्रिषष्टिशलाका पुरुपचरित" की प्रशस्ति मे आचार्य हेमचन्द्र अपनी प्रमुख रचनाओ का उल्लेख स्वय करते हैं। वहा कुमारपाल हेमचन्द्र के द्वारा दी गई आज्ञाओ का पालन करने के बाद आकर आचार्य को उनका आदेश पूरा हो जाने की सूचना देने के वाद उनके द्वारा सिद्धराज जयसिह के राज्यकाल मे तथा स्वय अपने राज्य-काल मे रचे गये ग्रन्थो की सूचना देने के बाद आचार्य से जैन तीर्थङ्करो के जीवन से सम्बन्धित एक लोकहितकारी ग्रन्थ के निर्माण की प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना के अनुसार हेमचन्द्र ने 63 महापुरुषो की जीवन कथाओ का समाहार त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित मे किया। इस विवरण के आधार पर हेमचन्द्र के सात ग्रन्थो का उल्लेख इस प्रकार है —

(1) सिद्धहैमशब्दानुशासन—उसकी वृत्नि तथा व्याख्या भी।
(2) योग शास्त्र।
(3) द्व्याश्रय काव्य।
(4) छन्दोऽनुशासन।
(5) काव्यानुशासन।
(6) नाम सग्रह—इनमे अभिधानचिन्तामणि-देशीनाममाला इत्यादि कोष-ग्रन्थ आते हैं।
(7) त्रिषष्टिशलाका पुरुपचरित।

ये रचनाए कालक्रम से वर्णित नही हैं।

"कुमारपालप्रतिबोध" के रचयिता सोमप्रभसूरि और "मोहराजपराजय" नाटक के रचयिता यशपाल की सूचनाओ के आधार पर हेमचन्द्र की तीन अन्य कृतिया भी प्राप्त होती हैं—

(8) वीतराग स्तुति।
(9) द्वात्रिंशिका। (स्तोत्र)
(10) प्रमाण मीमासा।

इन महत्त्वपूर्ण रचनाओ के अतिरिक्त अनेको छोटी-छोटी रचनाओ का उल्लेख भी प्राप्त हो जाता है। विषय की दृष्टि मे आचार्य की रचनाए अत्यन्त विस्तृत और विविधता लिये हुए हैं।

### सिद्धहैमशब्दानुशासन

"सिद्धहैमशब्दानुशासन" की रचना के कारणो पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है।[1] अब तक प्राप्त प्रमाणो के आधार पर यह आचार्य हेमचन्द्र की प्रथम रचना है। इस ग्रन्थ की रचना एक वर्ष के अन्दर हुई थी। ऐसा उल्लेख प्रभावक चरित में आता है। परन्तु यह सर्वथा असम्भव सा लगता। हा इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसकी रचना सिद्धराज की मृत्यु अर्थात् वि स 1199 या 1143 ई के पहले हो चुकी थी।[2]

### सिद्धहैमशब्दानुसान का स्वरूप

सिद्धहैमशब्दानुशासन के कुल पाच भाग हैं—

(1) सूत्र, (2) गण पाठ (3) धातु पाठ (4) उणादि सूत्र (5) लिंगानुशासन। परम्परा मे जितने भी व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये थे, उनमे सूत्र किसी के द्वारा लिखा गया, तो वृत्ति किसी अन्य ने लिखी। गण पाठ, उणादि सूत्र, लिङ्गानुशासन आदि भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा प्रणीत हुए, परन्तु सिद्धहैम व्याकरण के ये सारे भाग एक व्यक्ति की रचना हैं। यह एक विशेष उल्लेखनीय बात है। इतना ही नही आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्वारा रचे गये सूत्रो पर लघु तथा वृहद्वृत्तिया भी स्वय ही लिखी। इस प्रकार सस्कृत के विभिन्न वैयाकरणो, पाणिनि, भट्टोजिदीक्षित और भट्टि का कार्य अकेले ही हेमचन्द्र ने सम्पादित किया। इस शब्दानुशासन की महत्ता एक बात मे और भी है कि इसमे सस्कृत व्याकरण के साथ ही प्राकृत का भी व्याकरण समाहित है। इसके प्रारम्भ के सात अध्याय सस्कृत व्याकरण से सम्बन्धित हैं। अन्तिम आठवा अध्याय प्राकृत व्याकरण का आख्यान करता है। इस ग्रन्थ के पूरक रूप मे धातु पाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन का आख्यान कर देने के बाद भी आचार्य को सतोष नही हुआ। उन्होने तत्कालीन राजाओ जयसिंह और कुमारपाल के चरित को लेकर एक अद्भुत ग्रन्थ "द्वयाश्रय काव्य' की भी रचना की। जिसके शुरू के अध्याय चालुक्य वशीय राजाओ की कीर्ति का ख्यापन करने के साथ ही सस्कृत शब्दानुशासन के सूत्रो की व्याख्या

---

1. देखें प्रस्तुत प्रबध के इसी अध्याय का ' सिद्धराज जयसिंह आचार्य हेमचन्द्र" प्रसग।
2. आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओ का तिथिक्रम निर्धारण आगे किया जायेगा।

भी प्रस्तुत करते है । अन्तिम जिसे "प्राकृत द्व्याश्रय काव्य" कहा जाता है-कुमारपाल से सम्बन्धित है । इसमे प्राकृत व्याकरण से सम्बन्धित सूत्रो की व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही कुमारपाल का यश भी वर्णित है । सस्कृत और प्राकृत व्याकरण की रचना के बाद आचार्य ने अपभ्र श व्याकरण की भी रचना की । अपभ्र श भाषा की दुरूहताओ को समझाने के लिए आचार्य ने जो अपभ्र श की गाथाए[1] सयोजित की हैं । वे उनकी अद्भुत प्रतिभा का दिग्दर्शन कराने के लिए काफी हैं । इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण सम्बन्धी कमियो को दूर करते हुए एक ही ग्रन्थ मे सब कुछ देकर सस्कृत और उससे नि सृत भाषाओ के व्याख्यान मे अभूतपूर्व योग दिया ।

सिद्धहैमशब्दानुशासन मे कुल आठ अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय चार चार पादो मे विभाजित है । इसमे कुल 4685 सूत्र है । इनमे 3566 सूत्र सस्कृत व्याकरण से तथा 1119 सूत्र प्राकृत भाषा के व्याकरण से सम्बन्धित हैं । इन सूत्रो पर आचार्य ने लघुवृत्ति और बृहद्वृत्ति नाम की दो वृत्तिया (व्याख्याए या टीकाए) भी लिखी है । धातुपारायण उणादि तथा लिङ्गानुशासन (बृहद्टीका सहित) वृत्तियो सहित इस ग्रन्थ के पूरक भाग है ।

डा० पारिख[2] ने उसी ग्रन्थ पर लिखे गये एक "बृहन्न्यास" नामक ग्रन्थ की भी सूचना दी है जिसका थोडा सा भाग प भगवानदास दोषी द्वारा खोज कर सम्पादित भी किया गया है । परम्परा मे चलने वाली चर्चाओ के आधार पर यह ग्रन्थ 84000 श्लोक प्रमाण था । इसके प्राप्त भाग को देखकर यह बात सत्य भी प्रतीत होती है । इस ग्रन्थ का निर्माण बहुत कुछ पतजलि के महाभाष्य के अनुरूप किया गया लगता है ।

सिद्धहैमशब्दानुशासन के अत्यन्त विस्तृत बाह्यरूप का विवेचन हो जाने के बाद इसके आन्तरिक रूप का प्रतिपादन भी असगत न होगा । यदि हम इस व्याकरण के निर्माण के उद्देश्य की ओर देखे तो हमे पता चलता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने पठनीय व्याकरण की दुरूहताओ से बचने के लिए इस व्याकरण की रचना की है । इस बात को उन्होने सिद्धहैम के प्रथम अध्याय मे प्रथम पाद के तृतीय सूत्र "लौकात"[3] मे स्पष्ट की । उन्हे व्याकरण शास्त्र के लिए लौकिक व्यवहार की उपयोगिता अभीष्ट है । इसी प्रकार सधिप्रकरण-समास प्रकरण तथा सज्ञाओ आदि के प्रकरणो मे उनकी कुछ निजी उपलब्धिया हैं । पाणिनि द्वारा प्रणीत अष्टाध्यायी

1 अपभ्र श व्याकरण मे उदाहरण के के रूप मे आये हुए दोहे आचार्य कृत नही हैं । ऐसा विद्वानो का मत है ।
2 काव्यानुशासन-भूमिका, पृ0 सी0 सी0 एक्स0 सी0 3
3 सि0 है0-1।1।3

तथा अन्य पारम्परिक जैनेन्द्र आदि व्याकरणो की दुरूहताओ को दूर करना ही उनका प्रमुख उद्देश्य था। पाणिनि ने दीर्घ संधि का आख्यान "अक सवर्णे दीर्घ" कह कर किया था। यह सूत्र सामान्य पाठक की समझ मे तब तक नही आ सकता जब तक कि वह "माहेश्वर-प्रत्याहार सूत्र"[1] का भली भाति पारायण न कर ले। आचार्य ने इसी बात को अत्यन्त सरल शब्दो मे प्रतिपादित कर दिया—समानाना तेन दीर्घ 1।2।1।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र का यह व्याकरण ग्रन्थ उनके गहन एव विस्तृत अध्ययन का परिणाम होने के साथ ही विभिन्न स्तर के व्याकरण पढने वालो के लिऐ अत्यन्त सरल भी है। परम्परा मे चली आती हुई अनेको कमियो की पूर्ति इस एक ही ग्रन्थ ने कर दी। इस ग्रन्थ को लेकर कुछ लोगो ने यह भी कहने का प्रयत्न किया है कि इसमे विषयगत मौलिकता नही है। आचार्य हेमचन्द्र ने पाणिनि तथा अन्य संस्कृत और प्राकृत वैयाकरणो द्वारा कही गयी बातो का पुनराख्यान मात्र कर दिया है। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाये तो यह तर्क हेमचन्द्र के पक्ष मे ही आता है। हेमचन्द्र का उद्देश्य यह नही था कि वे सर्वथा नवीन व्याकरण शास्त्र की रचना करें वे तो चाहते थे कि परम्परा मे प्रचलित व्याकरण ग्रन्थो की दुरूहताओ को दूर कर उन्हे सर्वजन सवैद्य बनाया जाये। व्याकरणगत दुरूहताओ के ज्ञान के लिए ही उन्होने काश्मीर पुस्तकालय से आठ व्याकरण के ग्रन्थ मगाये थे। उनका गम्भीर अध्ययन कर उन्होंने व्याकरणिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन सरलतम रूप मे किया। उनमे विषयगत नवीनता भले ही न हो परन्तु उनकी प्रतिपादन शैली तो मौलिक है ही। इसके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओ के व्याकरण का एकत्र समाहार भी उनकी मौलिकता ही कही जायेगी। अपभ्रंश भाषा का सर्वप्रथम हेमचन्द्र ने ही विवेचन किया। इस प्रकार 'हैमशब्दानुशासन' आचार्य हेमचन्द्र की एक अभूतपूर्व व्याकरणिक कृति है जिसका जोड न तो परम्परा मे कही प्राप्त और न सम्भवतः प्राप्त ही होगा।

आचार्य हेमचन्द्र के कोष ग्रन्थ .

संस्कृत और प्राकृत शब्दानुशासन की समाप्ति के बाद आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत तथा देशी शब्दो का आख्यान करने के लिये कोष ग्रन्थो की रचना की। "अभिधानचिन्तामणि के आरम्भ मे उन्होने स्वय ही कहा—" अपने अंशो सहित शब्दानुशासन का निर्माण करने के बाद मै नाममाला (सज्ञा शब्दो के समूह) का आख्यान करता हू। इनमे कुछ नामपद ऐसे हैं जिनकी व्युत्पत्ति नही दी जा सकती,

1. अइउण ऋलृक आदि।

कुछ को अनुमति व्याकरण सम्मत है ' कुछ को व्याकरण सम्मत है भी और नही भी है।" नामशब्दो के इन संग्रह ग्रन्थ का नाम हेमचन्द्र "अभिधान चिन्तामणि" देते है। इस परिपाटी पर लिखे गये उनके अधोलिखित ग्रन्थ प्राप्त होते है—

(2) अभिधानचिन्तामणि—यह संस्कृत के अमर-कोष की भांति एक शब्द का अनेको पर्याय द्योतित करने वाला कोश है। हेमचन्द्र का यह कोष-ग्रन्थ अमर-कोष के समान ही प्रसिद्ध हुआ। संस्कृत साहित्य परम्परा मे "हेमचन्द्रश्चरुद्रश्चामरोऽय सनातन" कहकर इनके इस ग्रन्थ की महत्ता स्वीकार की गयी है। हेमचन्द्र ने "तत्वबोध विधायिनी" नाम की एक टीका भी स्वय ही इस ग्रन्थ पर लिखी।

(3) अनेकार्थसंग्रह—एक शब्द के अनेको पर्यायवाची शब्दो का अभिधान कर चुकने के बाद आचार्य ने एक ही शब्द के कई अर्थों से सम्बन्वित कोष ग्रन्थ का भी निर्माण किया। यह कोष छ अध्यायो मे विभाजित है। इस काष की टीका हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्रसूरि ने स्वय हेमचन्द्र के नाम[1] से लिखी है।

(4) देशी नाममाला[2] जिस प्रकार "शब्दानुशासन" मे प्राकृत व्याकरण से सम्बन्धित एक अध्याय जोडकर हेमचन्द्र ने उस व्याकरण ग्रन्थ को अद्‌भुत और सर्वथा नवीन बना दिया था उसी प्रकार कोष-शास्त्र को पूर्ण और नवीन बनाने के लिये उन्होने देशी शब्दो का एकत्र सकलन कर एक नवीन ग्रन्थ निर्मित कर दिया। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम "रमणावली" भी है। इसकी टीका भी इन्होने स्वय ही लिखी। शब्दो का उदाहरण प्रस्तुत करने वाले दोहे भी इन्ही द्वारा रचे गये बताये जाते है।[3]

(5) निघण्टु—आचार्य हेमचन्द्र ने वनस्पतियो के नामो को लेकर एक सर्वथा नवीन कोष का निर्माण भी किया। इसे ही उन्होने निघण्टु नाम दिया। हेमचन्द्र के निघण्टु पर अब तक कोई टीका प्राप्त नही हुई है।

इस प्रकार समस्त अशो और उनकी वृत्तियो सहित हैमव्याकरण तथा चार उपर्युक्त कोषो का निर्माण कर आचार्य हेमचन्द्र ने अपना शब्दानुशासन या शब्द विज्ञान शास्त्र सम्पूर्ण किया। इतने विस्तृत एव महत्त्वपूर्ण कार्य को पूर्ण कर हेमचन्द्र ने गुजरात के विद्यागौरव को ऊचा उठाया और साथ ही वहाँ के अध्येताओ के लिए भाषा के सरल एव सुबोध मार्ग का निर्माण कार्य भी सम्पन्न किया। आचार्य हेमचन्द्र ने इन महान् ग्रन्थो की रचना कर सिद्धराज जयसिंह की अभ्यर्थना पूर्ण कर

---

1 अनेकार्थ सग्रह, पृ० 86 एडिटेड बाई द Th. Tachriac
2 विस्तृत परिचय के लिये प्रस्तुत प्रबन्ध का 'द्वितीय अध्याय' देखें।
3 इस विषय पर विभिन्न विद्वान् एक मत नही हैं–विस्तृत चर्चा द्वितीय अध्याय मे की गई है।

दी। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि आचार्य हेमचन्द्र की सफलता का बहुत कुछ श्रेय सिद्धराज की "अभ्यर्थना" और उसके द्वारा दी गई सुविधाओं को है। गुजरात के प्रो रामनारायण पाठक नामक एक कवि ने अपनी "रणकदेवी" नामक कविता मे कहा है—

हेमप्रदीपप्रगटावी सरस्वतीनो सार्थक्यकीवुं निज नामनु सिद्धराजे ।।

सरस्वती का हेम रूपी प्रदीप जलाकर सिद्धराज ने अपने नाम को सार्थक कर दिया।

(6) द्व्याश्रयकाव्य :

हेमचन्द्र कृत द्व्याश्रय काव्य 20 सर्गों मे विभाजित है। इसके अन्तिम पाच सर्ग "प्राकृतद्व्याश्रय काव्य" या कुमारपाल का विवरण प्रस्तुत करने के कारण "कुमारपाल चरित" के नाम से अभिहित किये जाते हैं। पूरा ग्रन्थ एक महाकाव्य होने के साथ ही हेमशब्दानुशासन मे आये हुए व्याकरणिक सूत्रो की व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। इस काव्य की रचना शब्दानुशासन की रचना समाप्त हो जाने के बाद शुरू हुई होगी। काव्य के तेरह सर्ग कुमारपाल के शासन के पहले के है। 14वा सर्ग कुमारपाल के राज्यकाल के प्रारम्भिक भाग मे लिखा गया लगता है। शेष सर्ग तो निश्चित रूप से कुमारपाल के ही राज्यकाल मे लिखे गये।

यह काव्य अणहिल्लपुर के चालुक्यवशी राजाओ का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। इसका विवरण ऐतिहासिक तथ्यो पर निर्धारित होने के कारण मान्य भी है। जिस प्रकार अन्त के पाच सर्गों मे कुमारपाल का वर्णन होने के कारण उन्हे "कुमारपाल चरित" सज्ञा दी गयी है इसी प्रकार पूरे काव्य को चालुक्यवशी राजाओ का विवरण प्रस्तुत करने के कारण 'चालुक्यवशोत्कीर्तन" नाम भी दिया गया है।

(7) काव्यानुशासन :

यह काव्यांगो का विवेचन प्रस्तुत करने वाला मम्मट के काव्य प्रकाश की परम्परा मे लिखा गया अलकार शास्त्र का ग्रन्थ है। हेमचन्द्र ने स्वय ही सूत्र, अलकार चूडामणि नाम की वृत्ति और विवेक नाम की टीका भी लिखी है। इसमे मम्मट की अपेक्षा काव्य के प्रयोजन हेतु अर्थालकार गुण, दोष ध्वनि आदि सिद्धान्तो का हेमचन्द्र ने विस्तार से विवेचन किया है।

काव्यानुशासन मे कुल आठ अध्याय और 208 सूत्र हैं। अध्याय क्रम से सूत्रों की संख्या इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय मे 25 सूत्र, द्वितीय मे 59, तृतीय में 10, चतुर्थ मे 9, पचम में 9, षष्ठ मे 31, सप्तम मे 52 और अष्टम मे 13 सूत्र हैं। इन सीमित 208 सूत्रो मे ही आचार्य हेमचन्द्र ने समस्त सस्कृत काव्यशास्त्र का सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। इन छोटे छोटे सूत्रो का विस्तार अलकार चूडामणि नामक वृत्ति मे भली-भाति प्राप्त हो जाता है। इस अलकार "चूडामणि" नामक वृत्ति का भी विस्तार ग्रन्थकार ने "विवेक" नामक टीका के रूप मे किया है। हेमचन्द्र स्वय ही वृत्ति को "प्रतन्नयते" (Extended) और टीका (विवेक) को "प्रवितन्यते" (Extended in detail) कहकर स्पष्ट कर देते है। विवेक टीका की रचना उन्होने दुरूह स्थलो की व्याख्या और नवीन तथ्यो के सकेत के लिए की और इस कार्य मे वे बहुत कुछ सफल भी है। समस्त काव्यानुशासन मे दिये गये उद्धरणो की सख्या 1632[1] है।

सस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भी यह कृति बहुत महत्त्वपूर्ण है। पूरे ग्रन्थ मे हेमचन्द्र ने 50 के लगभग ग्रन्थकारो और लगभग 81 ग्रन्थो की सूचना दी है। इसके अतिरिक्त कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं जिनके मूल ग्रन्थ और ग्रन्थकार का नाम नही प्राप्त होता। इन ग्रन्थो और ग्रन्थकारो तथा विभिन्न उद्धरणो से सम्बन्धित सूचनाए डा पारिख ने काव्यानुशासन पृ 521-526 मे दे दी हैं।

**विषय वस्तु**—प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र मे मागलिक नमस्कार के बाद द्वितीय सूत्र मे हेमचन्द्र अपने इस ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हैं। तृतीय सूत्र कविता के उद्देश्य का आख्यान प्रस्तुत करता है—काव्य का उद्देश्य है आनन्द, यश, और कान्तातुल्य उपदेश। चौथे सूत्र मे काव्य का कारण प्रतिभा बताया गया है। 5वे और छठे सूत्र मे "प्रतिभा" की जैन धर्म सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। 11वा सूत्र काव्य-प्रकृति का निर्णायक है।

काव्यानुशासन का द्वितीय अध्याय रस, भाव, रसाभास और भावाभास तथा काव्य कोटियो के निर्धारण से सम्बन्धित है। तृतीय अध्याय के दस सूत्रो मे काव्य-दोषो का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय काव्य-गुणो का आख्यान प्रस्तुत करता है। पाचवा अध्याय छ शब्दालकारो से सम्बन्धित है। छठें अध्याय मे इक्कीस अर्थालकारो का विवेचन है। इसमे कुछ अलकारो की परिभाषा अत्यन्त मनोरम एव विशिष्ट है। जैसे उपमा की "हृद्यम् साधर्म्यम् उपमा।"

सातवा अध्याय काव्यगत चरित्रो का विवेचन प्रस्तुत करता है—जैसे नायक प्रतिनायक, नायिका आदि। आठवा अध्याय प्रबन्धात्मक काव्य भेदो का उपस्थापन

---

1 काव्यानुशासन–भूमिका, पृ० सी० सी० सी० 15 (315)

करता है। इसके अन्तर्गत श्रव्य और दृश्यकाव्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार "काव्यानुशासन" संस्कृत काव्यशास्त्र की सरल, सुबोध व्याख्या प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल है।

(8) छन्दोऽनुशासन

इस ग्रन्थ में संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के छन्दों का सुष्ठु निरूपण किया गया है। मूल ग्रन्थ सूत्रों में है। हेमचन्द्र ने स्वयं ही इसकी व्याख्या भी लिखी है। छन्दों का उदाहरण इन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा दिया है।

(9) प्रमाणमीमांसा

यह प्रमेय और प्रमाण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने वाला न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है। अनेकान्तवाद, पारमार्थिक प्रत्यक्ष की तात्विकता, इन्द्रियज्ञान का व्यापार-क्रम, परोक्ष के प्रकार, निग्रह स्थान या जय-पराजय-व्यवस्था, प्रमेय प्रमाता का स्वरूप एवं सर्वज्ञत्व का समर्थन आदि विषयों पर विचार किया गया है।

(10) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित

यह ग्रन्थ पुराण और काव्य-कला का एकत्र समन्वय है। इसमें जैन धर्म के 24 तीर्थंकरों 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण तथा 9 बलदेव कुल 63 व्यक्तियों के चरित का वर्णन है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास की गवेषणा में अत्यन्त सहायक ग्रन्थ है।

(11) योगशास्त्र एवं स्तोत्र

यह पातंजलयोगभाष्य के समान जैन शब्दावली में लिखा गया उच्चकोटि का योगशास्त्रीय ग्रन्थ है। शैली में पतंजलि का अनुकरण होते हुए भी विषय और उसके वर्णन क्रम में मौलिकता है। वीतराग, महावीर स्तोत्र और स्तोत्र द्वात्रिंशिका हेमचंद्र के उच्चकोटि के स्तोत्र-ग्रन्थ हैं।

आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओं का तिथिक्रम

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी रचनाओं के क्रम का निर्देश करते हुए भी किसी भी रचना की कोई निश्चित तिथि नहीं दी। आचार्य हेमचन्द्र के जीवन से संबंधित घटनाओं का उल्लेख करने वाले किसी उनके अन्य समकालीन ग्रन्थ में भी उनकी रचनाओं के तिथि निर्णय पर विचार नहीं किया गया। डा० बूलर[1] ने हेमचन्द्र की

---

1 लाइफ आफ हेमचन्द्र, पृ० 1

रचनाओ के तिथिक्रम का निर्धारण करने का प्रयास किया और वे बहुत कुछ इस प्रयास मे सफल भी हैं ।

'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की प्रशस्ति मे एक तीर्थयात्रा का उल्लेख देखकर डा० बूलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस तीर्थ यात्रा के बाद कभी भी इस व्याकरण की रचना पूर्ण हुई होगी । वे इसका रचनाकाल इस तीर्थ यात्रा और मालवा विजय के बीच रखते हैं । इन दोनो के बीच उन्होने दो वर्ष का समय दिया है । डा० बूलर जयसिंह के मालवा से लौटने का समय वि. स 1194 या 1138 ई बताते है । इस प्रकार इस व्याकरण ग्रन्थ की रचना लगभग वि. स 1197 या 1141 ई के लगभग हुई होगी ।[1] डा० पारिख[2] मालवाविजय वि स 1191–1192 ई के लगभग सिद्ध करते है । उनकी यह मान्यता समसामयिक प्रमाणो के आधार पर है । ये प्रमाण डा बूलर को उपलब्ध नही थे । इस तरह डा० पारिख का मत है कि यदि हम मालवा विजय के दो या तीन वर्षो के बीच इस ग्रन्थ की रचना का समय मानें तो यह वि. स 1195 (1139) पडेगा ।

डा बूलर हेमचन्द्र के कोष ग्रन्थो की रचना जयसिंह की मृत्यु के पहले मानते हैं ।[3] सस्कृत द्व्याश्रय काव्य के 14 सर्गों की रचना भी वे जयसिंह की मृत्यु के पहले मानते हैं ।[4] डा बूलर के अनुसार पूरे द्व्याश्रय काव्य की रचना वि स 1220 (1164) ई के पहले हो चुकी होगी ।[5] "काव्यानुशासन और छन्दोऽनुशासन की रचना वे कुमारपाल के शासन मे हुई मानते है ।[6] परन्तु डा पारिख का कथन है कि छन्दोनुशासन जयसिंह और कुमारपाल दोनो का उल्लेख करने के अतिरिक्त चार अन्य चालुक्य राजाओ का भी उल्लेख करता है । अत इससे कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता ।

हेमचन्द्र के सस्कृत कोष-ग्रन्थो के पूरक रूप मे लिखी गयी "रयणावली" या देशीनाममाला का रचना काल डा बूलर कुमारपाल के राज्यकाल के प्रारम्भ मे मानते है । लेकिन उनका कहना है कि समस्त व्याख्या एव उदाहरणो सहित "रयणावली" की रचना वि स 1214-15 (1159 ई ) के लगभग हुई होगी ।[7]

---

1. लाइफ आफ हेमचन्द्र, पृ० 18
2 काव्यानुशासन-भूमिका पृ० 328
3. लाइफ आफ हेमचन्द्र, पृ० 18
4 वही, पृ० 19
5. वही, पृ० 19
6 वही, पृ० 19 से 36
7. वही, पृ० 37

कुमारपाल के प्रारंभिक शासनकाल मे केवल "रयणावली" की कारिकाओ का निर्माण हुआ रहा होगा। व्याख्या और उदाहरण बाद के होगे। योग शास्त्र और वीतराग स्तोत्र के मूल पाठ की रचना डा बूलर वि स 1216 (1160 ईसवी) मे मानते हैं। इसकी व्याख्या कुछ वर्षों बाद लिखी गयी होगी।[1]

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित की रचना वि स 1216-1229 (1160-1173) मे हुई होगी। द्वयाश्रय काव्य के अन्तिम पाच सर्गों प्राकृत द्वयाश्रय काव्य या "कुमारपाल चरित" की रचना का भी यही समय रहा होगा। प्रमाण मीमासा की रचना भी इसी समय के बीच हुई होगी।

सक्षेप मे आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओ को तिथिक्रम की दृष्टि से दो भागो मे बाटा जा सकता है। (1) सिद्धराज जयसिंह के शासनकाल मे की गयी रचनाए इसके अन्तर्गत शब्दानुशासन, उनके प्रसिद्ध दो सस्कृत के कोष-ग्रन्थ तथा द्व्याश्रय-काव्य के तेरह सर्ग रखे जा सकते हैं। (2) कुमारपाल के शासनकाल मे की गयी रचनाए—इसके अन्तर्गत देशीनाममाला, निघण्टुकोश, प्राकृत द्व्याश्रयकाव्य, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित, प्रमाण मीमासा, योगशास्त्र, वीतराग स्तुति आदि रखे जा सकते है।

आचार्य हेमचन्द्र एक सिद्ध पुरुष थे। अपने जीवन काल मे उन्होने जितने विपुल वाङ्मय की रचना की वह भारतीय साहित्य परम्परा के लिए अनूठा उदाहरण है। इन्होंने जिस किसी विषय को उठाया समस्त अगो सहित उसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया। उनकी इस अद्भुत प्रतिभा एव दुर्लभ मनोयोग को देखकर उनकी कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि सर्वथा उचित दिखायी देती है। भारतीय साहित्य परम्परा आचार्य हेमचन्द्र सूरि की चिर ऋणी रहेगी।

———

1. लाइफ आफ हेमचन्द्र, पृ० 40

# 2

# देशीनाममाला : स्वरूप-विवेचन

आचार्य हेमचन्द्र एक महान् भाषाविद् थे। उन्होने भाषा विवेचन से सम्बन्धित कोई भी समस्या अधूरी नही छोडी। सस्कृत भाषा का व्याकरण लिखने के बाद उन्होने प्राकृत तथा अपभ्र श का व्याकरण लिखकर इस क्षेत्र मे स्ववैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया। उन्होने इस व्याकरण की पूर्ति के लिए बाद मे धातुपाठ, उणादि प्रकरण, लिङ्गानुशासन आदि भी जोडा। इतना कर लेने पर भी वे रुके नही। उन्होने भाषा मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो का अनुशासन पूर्ण करने के लिए कुछ कोश भी लिखे।[1] "देशीनाममाला" एक ऐसा ही कोशग्रन्थ है जिसकी रचना आचार्य ने अपने व्याकरण ग्रन्थ "सिद्ध हेमशब्दानुशासन" के अष्टम अध्याय[2] की पूर्ति के लिए की। इस बात का उल्लेख वे "देशीनाममाला" के अष्टमवर्ग की अन्तिम कारिका और उसकी व्याख्या मे स्पष्ट रूप मे कर देते है—

> इअ रयणावलिणामो देशीसद्दाण सगहो एसो।
> वायरणसेसलेसो रइओ सिरि हेमचन्द्र मुनिवइणा॥
>
> दे०ना० 8।77, पृ 77

इत्येष देशी शब्द सग्रह स्वोपज्ञशब्दानुशासनाष्टमाध्यायशेषलेशो रत्नावलीनामाचार्य श्री हेमचन्द्रेण विरचित इतिभद्रम्।"

आचार्य कृत प्रस्तुत देशीकोश ही इस अध्याय की चर्चा का प्रमुख विषय है।

---

1. अभिधानचिन्तामणि 2 अनेकार्थ सग्रह, 3 निघण्टुशेष 4 'रयणावली'
2 जो प्राकृत और अपभ्र श भाषाओ के व्याकरण का आख्यान करता है।

**देशीनाममाला—नामकरण की समस्या:—**

देशीनाममाला के स्वरूप एवं उसकी विषय-वस्तु का विवेचन प्रस्तुत करने के पहले इसके नामकरण की समस्या सुलझा लेना समीचीन होगा। जहा तक आचार्य हेमचन्द्र का सम्बन्ध है उन्होंने इस ग्रन्थ के दो नाम दिये है—(1) देसीसद्दसंगहो (देसी शब्द संग्रह) (2) रयणावली (रत्नावली)।

प्रस्तुत कोश के प्रथम सर्ग की दूसरी ही कारिका मे आचार्य कहते हैं—
णीसेसदेसिपरिमल पल्लवि अकुऊहलाउलत्तेण।
विरइज्जइ देसीसद्दसंगहो वण्णकमसुहओ॥
--दे०ना० 1। 2। पृ० 2

इस कारिका मे वे ग्रन्थ का नाम "देसी सद्दसंगहो" लिखते हैं। इसी प्रकार ग्रन्थ की समाप्ति के समय अन्तिम कारिका से दोनो ही नामो का उल्लेख मिलता है—

इअ रयणावलिणामो देसी सद्दाण संगहो एसो।

.... .... .... ....

परन्तु इन दो नामो के अतिरिक्त प्रत्येक अध्याय की समाप्ति के बाद लिखी गयी पुष्पिकाओ मे "देशीनाममाला" नाम भी मिलता है। प्रथमवर्ग की पुष्पिका को छोड़कर लगभग सभी पुष्पिकाए एक समान है। इस वर्ग की पुष्पिका मे "स्वोपज्ञ" शब्द अधिक जुड गया है—

"इत्याचार्य श्री हेमचन्द्र विरचितायां स्वोपज्ञ देशीनाममालायां प्रथमोवर्ग।"
अन्य वर्गों की समाप्ति पर दी गयी पुष्पिकाए इस प्रकार हैं—

"इत्याचार्य श्री हेमचन्द्र विरचितायां देशीनाममालायां .... वर्ग।"
अस्तु! हम देखते है कि इस ग्रन्थ के तीनो ही नामो का उल्लेख ग्रन्थ के अन्तर्गत ही हुआ है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि एक ही ग्रन्थ के तीन नाम क्यो दिये गये? क्या ये तीनो नाम सार्थक है? इन प्रश्नो का उत्तर अत्यन्त सरल होते हुए भी कुछ गुत्थियो से भरा हुआ है। जहा तक 'देशीशब्दसंग्रह" नाम का प्रश्न है, यह निर्विवाद रूप से ग्रन्थ का उचित नामकरण है। "रयणावली" नाम भी ग्रन्थ मे निबद्ध कारिकाओ की महत्ता एवं उदाहरणो के रूप मे आयी हुई आर्याओ के साहित्यिक सौन्दर्य को देखते हुए, लाक्षणिक होते हुए भी सर्वथा उपयुक्त है। परन्तु पुष्पिकाओ मे आया हुआ "देशीनाममाला" नाम सर्वथा असंगत है। प्रथम तो यह स्वयं आचार्य द्वारा दिया गया नाम नही है क्योंकि ग्रन्थो की पुष्पिकाए प्रतिलिपिकारो द्वारा लिखी होने

---

1. 1938 ई० बाम्बे संस्कृत सीरीज मे प्रकाशित तथा आर० पिशल द्वारा प्रकाशित 'देशीनाममाला' का द्वितीय संस्करण।

की अधिक सम्भावना रहती है । अत पुष्पिका मे आया हुआ यह नाम हो सकता है प्रतिलिपिकारो के द्वारा लिखा गया हो । दूसरे आचार्य हेमचन्द्र जैसा प्रसिद्ध भाषाविद् उस प्रकार के विवादास्पद नामो से सावधान भी रहेगा । अब इस नाम से उत्पन्न होने वाले भ्रमो का विवेचन कर लेना भी समीचन होगा ।

व्याकरण शास्त्र के अन्तर्गत भाषा मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो के चार विभाग किये गये हैं (1) नाम (सज्ञा), (2) आख्यात (क्रिया), (3) निपात (4) अव्यय । इस विभाजन को ध्यान मे रखकर यदि हम उपर्युक्त ग्रन्थ के नामकरण पर विचार करें तो उसे केवल नाम (सज्ञा) पदो का ही कोश होना चाहिए । परन्तु ग्रन्थ मे विवेचित शब्दो को देखने से पता चलता ह कि इसमे अनेको आख्यात पद भी आये हैं । अत सिद्धान्तत यह नामकरण भ्रम पैदा करने वाला है । आचार्य हेमचन्द्र इन आपत्तियो से परिचित थे अत उन्होने पूरे ग्रन्थ मे कही भी यह नाम नही दिया । उनके द्वारा दिये गये दोनो नाम ग्रन्थ का स्वरूप स्पष्ट रूप से सकेतित करते हैं ।

अब देखना यह है कि "पुष्पिका" मे ग्रन्थकार से अलग हटकर नया नाम क्यो दिया गया ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमे हेमचन्द्र के पहले के कोश साहित्य की ओर दृष्टिपात करना होगा । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने इस कोश ग्रन्थ मे कई देशी कोश के निर्माताओ का उल्लेख किया है । इन्ही मे धनपाल भी एक हैं । इनका एक ग्रन्थ 'पाइअलच्छी"[1] या "पाइअलच्छीनाममाला" के नाम से प्रसिद्ध है । इस ग्रन्थ की रचना वि०स० 1029 (972 ई ) मे धारा नगरी मे हुई । प्रारम्भ मे ही ग्रन्थकार बताता है कि उसने इस ग्रन्थ की रचना अपनी छोटी "बहिन" "अवन्ति सुन्दरी' को शब्द ज्ञान कराने के लिए की है । ग्रन्थ के प्रथम श्लोक मे ही उसने इसे 'नाममाला' कहकर सम्बोधित किया है । 278वे श्लोक मे वह इसे 'देसी' भी बताता है परन्तु इसमे केवल एक चौथाई ही देशी शब्द है । धनपाल की इस 'पाइअलच्छी नाममाला' से हेमचन्द्र की 'रयणावली' के प्रतिलिपिकार अवश्य ही परिचित रहे होगे । जिस प्रकार धनपाल ने अपने प्राकृत शब्दो के सकलन ग्रन्थ को 'नाममाला' कहा उसी प्रकार सम्भवत 'रयणावली' के प्रतिलिपिकारो ने भी देशी शब्दो के इस सकलन ग्रन्थ को 'देशीनाममाला' नाम दे दिया होगा । उनका ध्यान परम्परा मे प्रचलित शब्द पर अधिक गया होगा । इस शब्द (नाम) के व्याकरणलभ्य अर्थ को उन्होने ध्यान मे न रखा होगा । इस प्रकार 'देशीनाममाला' नामकरण मे प्रयुक्त 'नाम'

---

1 आरम्भ मे यह पुस्तक वेर्गेर्स वाइ चेने त्सूर कुण्डे डेर इण्डोगर्मानिशन् स्प्राखन 4,20 से 166 ए तक मे प्रकाशित हुई थी । इसके बाद गोएटिंगन से 1878 मे पुस्तक रूप मे छपी । बाद मे गिओर्ग बूलर ने आलोचनात्मक टिप्पणी सहित प्रकाशित किया ।

शब्द 'संज्ञापद' मात्र का वाचक न होकर 'शब्द' मात्र के वाचक नामकरण में भी ग्रहण किया गया है । यह बात परवर्ती कोशों के नामकरण में भी देखी जा सकती है । 'नाममाला' पद आगे चलकर 'शब्दकोश' का वाचक भी बन गया ।

इस नामकरण के समर्थन में दूसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि कोश-ग्रन्थों में चूंकि संज्ञापद अधिक संकलित होते हैं अतः उनकी प्रधानता के आधार पर यह नामकरण किया गया होगा—'प्राधान्येनव्यपदेशा भवन्ति ।'

डा० पिशेल[1] और मुरलीधर बनर्जी[2] प्रस्तुत ग्रन्थ का 'देशीनाममाला' नाम अधिक उचित मानते हैं । अतः इन दोनों विद्वानों ने अपने द्वारा सम्पादित ग्रन्थ का नाम 'देशीनाममाला' ही रखना उचित समझा है । इन विद्वानों का मत है कि यह नाम अत्यधिक स्पष्ट और क्षेत्र विस्तार में 'देशीशब्दसंग्रह' से कहीं अधिक है । 'देशी-शब्दसंग्रह' में आया हुआ 'शब्द' पद 'नाम' और 'धातु' दोनों का समाहार कर लेता है जबकि आचार्य हेमचन्द्र 'धातु' पदों को इस कोश के अन्तर्गत नहीं ग्रहण करते । प्रथम वर्ग की तृतीय गाथा (कारिका) की संस्कृत व्याख्या में वे लिखते हैं—
' . ... . . । ये तु वज्जर-पज्जर-उप्फाल पिसुण-संघ-बोल्लः चव जप-सीस-साहादय कथ्यादीनामादेशत्वेन साधितास् (सिद्ध हेमचन्द्र 4,2) तेऽन्यैर्देशीषु परि-गृहीताअप्यस्माभिर्न निबद्धा ।[3]

उपर्युक्त मतों का यदि एकत्र समाहार किया जाये तो अद्भुत विरोधाभास दिखायी पड़ता है । यदि हेमचन्द्र को इस ग्रन्थ से 'आख्यात' पदों को बाहर ही रखना था तो उन्होंने इसके नाम में 'शब्द' पद का प्रयोग क्यों किया ? दूसरी ओर यदि 'देशीनाममाला' नामकरण सार्थक है तो इसके अन्तर्गत आये हुए 'आख्यातपद' कहाँ जायेंगे ? दोनों ही स्थितियाँ अपनी जगह महत्त्वपूर्ण हैं । ऐसी दशा में किसी मध्यम मार्ग का ही सहारा लेना उचित होगा । आचार्य द्वारा किया गया नामकरण विवाद ग्रस्त होते हुए भी आर्षप्रयोग' की आड़ में छिपाया जा सकता है । दूसरी ओर 'देशीनाममाला' नामकरण की प्रसिद्धि और कई मूलप्रतियों पर इसका पाया जाना इसके औचित्य को सिद्ध करता है ।[4] परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो आचार्य

---

1. पिशेल द्वारा सम्पादित और बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित देशीनाममाला ।
2. मुरलीधर बनर्जी द्वारा सम्पादित कलकत्ता युनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित देशीनाममाला ।
3. देशीनाममाला—द्वारा सम्पादित पिशेल 1 3 व्याख्या पृ० 3 ।
4. "I have called the work देशीनाममाला properly it ought to have been called रयणावली as this is the name given to the work by Hemchandra himself (VIII 77) 'देशीनाममाला' it is termed in best MSS of the AE and in the margin of the single folios of H

*(Contd )*

हेमचन्द्र जैसा प्रकाण्ड भाषाविद् जिस बात की प्रतिज्ञा करता है उसका निर्वाह भी करता है। पिशेल प्रभृति विद्वानो ने आचार्य पर यह आक्षेप किया है कि उन्होने अनेको देशी आख्यात पदो का आख्यान करते हुए भी स्वीकार नही किया। इस विवाद को दूर करने के लिए मेरी विनम्र सहमति है कि आचार्य ने यदि कही 'आख्यात पदो' का प्रयोग किया भी है तो वे मूल आख्यात पद न होकर 'कृदन्ती' पद है। उनका आख्यान सज्ञा या विशेषण पद के रूप मे है न कि 'आख्यात पद' के रूप मे, एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मोरे अल्लल्लो कुक्कुडे अलपो अयालि दुद्दिणये
विण्णेहम्मि अअलो अज्झस्स सविअमअजए अणह ॥ 1 13

इस कारिका मे 'अज्झस्स' पद यद्यपि धात्वादेश है—आचार्य इसे स्वीकार भी करते हैं— ... अज्झस्स आक्रुन्टम्। अय धात्वादेश । अज्झसइ। अज्झस्सिअ। इत्यादि प्रयोगादर्शनात्। पूर्वाचार्यानुरोधात्त्विह निवद्ध .... . 1 13 व्याख्या। परन्तु प्रस्तुत कारिका मे इसका प्रयोग एक विशेषण पद के रूप मे हुआ है। इसी प्रकार अन्य 'आख्यात पदो' की भी स्थिति है यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो प्रतिलिपिकारो द्वारा लिखा गया (सम्भावित) तथा डा० पिशेल और मुरलीधर बनर्जी द्वारा स्वीकार किया गया 'देशीनाममाला' नाम सर्वथा सार्थक और विस्तृत अर्थ देने वाला है।'

देशीनाममाला का रचनाकाल

अन्त साक्ष्य —'देशीनाममाला' की रचना आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत शब्दानुशासन (हेमशब्दानुशासन का 8वा अध्याय) के पूरक ग्रन्थ के रूप मे किया है। इसे वे 'देशीनाममाला' के अष्टम सर्ग की अन्तिम कारिका की व्याख्या मे स्पष्ट कर देते हैं—

"इत्येष देशीशब्द सग्रह स्वोपज्ञशब्दानुशासनाष्टमाध्यायशेषलेशो रत्नावली नामाचार्य श्री हेमचन्द्र विरचित इति भद्रम्।"

इसी आशय की बात वे ग्रन्थ के प्रारम्भ मे प्रथम वर्ग की प्रारम्भिक आर्या की व्याख्या मे करते हैं—

---

In I-2 and VIII-77 it is styled देशीशब्दसग्रह a name which is also intimated by the MSS B D C F G I as they call the Vritti देशीशब्दसग्रहवृत्ति, रत्नावली being too unexpressive a name and देशीनाममाला the usual appelation of works of the kind. I have followed the best Mss
—R Pishel Deshinammala Introduction P 9.

समग्रशब्दानामनुशासने चिकीर्षिते संस्कृतादि भाषाणा पण्णा शब्दानुशासने सिद्ध हेमचन्द्र नाम्नि सिद्धि उपनिवद्धा। इदानी लोपागमवर्ण विकारादिना क्रमेण पूर्वे आराधितपूर्वा देश्या शब्दा अवशिष्यन्ते। तत्सग्रहार्थमयमारम्भ। इन उल्लेखो के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि देशीनाममाला की रचना अपने विभागो सहित सिद्ध हेमशब्दानुशासन तथा सस्कृत के कोशो अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ सग्रह आदि के हो जाने के बाद हुई। सिद्ध हेमशब्दानुशासन की रचना सिद्धराज की मृत्यु के पहले हो चुकी थी। सिद्धराज की मृत्यु वि स० 1199 मे हुई थी इसके बाद ही कुमारपाल के प्रारम्भिक शासनकाल मे हेमचन्द्र के अन्य कोश ग्रन्थो का समय रखा जा सकता है। जहा तक देशीनाममाला की रचना का सम्बन्ध है यह अवश्य ही कुमारपाल के शासनकाल मे लिखी गयी होगी। पूरे ग्रन्थ मे आयी हुई उदाहरण की आर्याओ मे 105 आर्याए कुमारपाल के यश और शौर्य वर्णन से सबन्धित हैं। अत यह निश्चित हो जाता है कि "देशीनाममाला" की रचना अभिधान चिन्तामणि के बाद और काव्यानुशासन के पहले हुई होगी।

बहिर्साक्ष्य—डा० बूलर ने अपने ग्रन्थ "लाइफ आफ हेमचन्द्र" मे आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओ के तिथि निर्धारण पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। डा० बूलर हेमचन्द्र के दोनो कोशो अभिधानचिन्तामणि और अनेकार्थ सग्रह को सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु (वि० स० 1199) के पहले रचित बताते हैं।[1] सिद्धराज की मृत्यु के बाद और कुमारपाल के शासन काल मे वे इन दोनो कोश ग्रन्थो के विभिन्न पूरक ग्रन्थो का निर्माण बताते हैं। उनके अनुसार "शेषाख्यानाममाला[2] जो कि अभिधान चिन्तामणि का पूरक ग्रन्थ है[3] और परम्परा मे प्रसिद्ध हेमचन्द्र द्वारा लिखे गये तीन निघण्टु कोश तथा रयणावली (देशीनाममाला) की मूल गाथाए—ये सभी कुमारपाल के शासन काल के प्रारम्भिक काल मे लिखे गये होगे। डा० बूलर की यह दृढ मान्यता है कि सस्कृत व्याख्या और उदाहरण की आर्याओ सहित 'रयणावली' या देशीनाममाला की रचना वि स 1214-15[4] (1159 ई०) मे हुई होगी। डा बूलर का यह मत बहुत कुछ मान्य भी है। 'रयणावली' मे कुमारपाल से सम्बन्धित उदाहरण की आर्याए उसके शौर्य और पराक्रम का वर्णन जिस प्रशसा के साथ करती है, उन प्रशसा के योग्य बनने मे सिंहासन प्राप्त करने के बाद कुमारपाल को अवश्य ही कुछ दिन लगे होगे। अत साक्ष्य मे मिलाने पर भी बूलर

---

1 लाइफ आफ हेमचन्द्र, इगलिश ट्रासलेशन, पृ० 18
2 वही, पृ० 36
3 इसमें आये हुए [illegible] पर [illegible] मे लिखे गये है।
4 लाइफ आफ हेमचन्द्र, इगलिश ट्रासलेशन, पृ० 37

का यह बहुत कुछ उचित लगता है। 'शब्दानुशासन' सम्बन्धी ग्रन्थो से सम्बन्धित आचार्य हेमचद्र की ग्रन्थमाला की अन्तिम कडी के रूप मे इस ग्रन्थ की रचना हुई है। आचार्य स्वय ही उस तथ्य को यत्र-तत्र उल्लिखित करते चलते हैं। 'रयणावली' की रचना तक आचार्य हेमचद्र का भाषाविद् का व्यक्तित्व स्थिर हो जाता है। इसके बाद उनका आचार्य का व्यक्तित्व प्रमुख रूप धारण करने लगता है। जहा तक आचार्य का कुमारपाल के जीवन से सम्बन्ध है। वे वि स 1216[1] के वाद से उसके निकट सम्पर्क मे आने लगे थे। अत इसी के आस पास इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण रचना का समय निर्धारित किया जाना उचित है।

### परवर्ती व्याकरणकारो का उल्लेख

जहा तक बहिर्साक्ष्य से सम्बन्धित हेमचन्द्र के समकालीन या उनके परवर्ती ग्रन्थो का सम्बन्ध है ये सभी उनकी रचनाओ की क्रमिक चर्चा करते हुए भी उनका कोई निश्चित समय नही देते। स्वय आचार्य हेमचन्द्र भी अपने ग्रन्थो का क्रम तो उल्लिखित कर देते हैं परन्तु कही भी उन्होने निश्चित तिथि देने का प्रयास नही किया। केवल डा० बूलर ने ही इस दिशा मे प्रयास किया है जो स्तुत्य भी है। डा० बूलर के मतो को लेकर काव्यानुशासन की भूमिका मे डा० पारिख ने कुछ आलोचनायें अवश्य की है परन्तु उनकी नवीन उपलब्धि कुछ भी नही है।

### देशीनाममाला की मूलप्रतिया

आचार्य हेमचद्र के इस कोश ग्रन्थ की सर्वप्रथम सूचना डा० बूल्हर ने 1874 मे इण्डियन एक्टीक्विरी भाग 2, पृ० 17 पर दी। उनकी यह सूचना अपने द्वारा प्राप्त की गयी 'सी' (C) मूलप्रति के आधार पर थी। अपनी अथक खोजो के आधार पर उन्होने 1877 ई० मे डा. पिशेल के सहयोग से इस ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ किया। इन दोनो विद्वानो के सतत प्रयत्न के परिणामस्वरूप 1880 ई मे 'बाम्बे एजूकेशन सोसायटी प्रेस से देशीनाममाला का प्रकाशन हुआ। बाद मे 1938 मे इसका द्वितीय सस्करण महाराजा सस्कृत कालेज विजयानगरम् के प्रधानाचार्य प्रवस्तुवेङ्कटरामानुजस्वामी एम ए. द्वारा लिखी गई विस्तृत भूमिका,

---

1 डा0 बूलर ने द्वयाश्रय काव्य के उत्तरार्द्ध भाग 'या' कुमारपालचरित' की रचना का काल 1216 वि. स. के बाद बताया है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि कुमारपाल और हेमचन्द्र का निकट का सम्बन्ध था।

आलोचनात्मक टिप्पणियो तथा शब्दकोश के साथ प्रकाशित हुआ ।[1]

डा० बुल्हर और आर. पिशेल के सम्मिलित सहयोग से प्रकाशित 'देशीनाममाला' के प्रथम सस्करण के तैयार करने मे निम्नलिखित मूल प्रतियो की सहायता ली गयी है । इनका उल्लेख आर. पिशेल ने स्वय ही ग्रन्थ के भूमिका भाग मे कर दिया है ।

(1) ए (A) हस्तलिखित प्रति—यह मूल प्रति बीकानेर मे प्राप्त हुई थी । इसकी सख्या 271 है । केवल 17 पृष्ठ हैं । इसका समय सोमवत् 1549 उल्लिखित है । इसमे केवल मूलपाठ है और उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रति कही जा सकती है ।

(2) बी (B) हस्तलिखित प्रति–इस प्रति पर 724 सख्या दी हुई है । यह सुस्पष्ट अक्षरो मे लिखी गयी है और 'वाढवान' (Vadhavan) नामक स्थान से प्राप्त हुई है । इसमे कुल पृष्ठ सख्या 90 दी गयी है । परन्तु 53 के दो बार लिखे होने से इसकी सही पृष्ठ सख्या 91 हो जाती है । इसमे मूल पाठ के साथ ही टीका भाग भी है । पूरी प्रति मे तिथि का कोई निर्देश नही है । कुल मिलाकर यह अत्यन्त शुद्ध होते हुए भी 'च' और 'व', 'थ' और 'घ' 'ज्झ' और 'ब्म', 'च्छ' और त्य, द्, ध, ठ्ठ, ट्ठ, ड्ढ मे लगातार परिवर्तन होते रहने के कारण अधिक विश्वास योग्य नही है ।

(3) सी (C) प्रति–इसकी एक नवीन प्रति डा बुल्हर के लिए अहमदाबाद मे तैयारी की गयी थी । डा० बुल्हर ने इसी के आधार पर इण्डियन एण्टिक्विरी भाग-2, पृष्ठ 17 पर प्रथम बार इस ग्रन्थ का परिचय दिया था । इस पर लिखी गयी सख्या 184 है । ग्रन्थाकार (पोथी के समान) 315 पृष्ठ है ।

इसमे टीका और मूलपाठ दोनो ही है । इसका समय सख्या 1857 है । यह यद्यपि बहुत सावधानी से तैयार की गयी है फिर भी ऐसा लगता है जैसे प्रतिलिपिकार जैन पाण्डुलिपि पढने का अभ्यस्त न हो क्योंकि जैन लिपि मे लिखे गये वर्ण प्राय गलत पढे गये हैं । किसी दूसरे व्यक्ति ने यद्यपि इन भूलो के सुधारने की कोशिश की है परन्तु वह कुछ ही भूलो को सुधारने मे सफल हो सका है ।

---

1. आर० पिशेल के प्रथम संस्करण मे निहित असावधानियो और भूलप्रतियो की जैनलिपि को गलत पढ जाने के कारण उत्पन्न हुई कमियो को ध्यान मे रखते हुए कलकत्ता के डा० मुरलीधर बनर्जी ने 1931 में 'देशीनाममाला' का अपने सपादकत्व मे प्रकाशन कराया । डा० बनर्जी का यह संस्करण पिशेल के सस्करण से कही अधिक परिशोधित एव परिमार्जित है । इसका प्रकाशन कलकत्ता युनिवर्सिटी प्रस से हुआ था ।

(4) डी (D) प्रति—यह प्रति मारवाड मे जोधपुर के निकट पाली स्थान मे प्राप्त हुई थी। इनकी सख्या 270 है। कुल 32 पृष्ठ है। मूल पाठ और टीका दोनो ही हैं। परन्तु यह प्रति पूर्ण नही है। इसकी लिखावट बहुत ही खराब और अशुद्धियो से भरी हुई है।

(5) ई (E) प्रति—यह प्रति डा बुल्हर की अपनी है और उन्हे अहमदा-बाद मे मिली थी। इनमे केवल मूलपाठ है। पृष्ठो की सख्या 20 है। इसकी पुष्पिका मे निर्माण काल 1575 दिया गया है जो सम्भवतः सम्वत् ही होगा। इसमे मूलपाठ और टीका दोनो ही है। यह सभी प्रतियो मे अच्छी और शुद्ध है परन्तु इसके 1-19 तक के पृष्ठ गायब है। इस तरह यह भी अपूर्ण प्रति है। आर पिशेल के अपने द्वारा सम्पादित 'देशीनाममाला' के मूलपाठ निर्माण मे इसके शेष भाग से बहुत अधिक सहायता ली है।

(6) एफ (F) प्रति—यह प्रति 'लिमडी' नामक स्थान से प्राप्त हुई थी। डा बुल्हर के सहायक पण्डितो ने इसका परिशोधन भी किया था। थोडे से अन्तर के साथ यह 'वाढवान' मे प्राप्त 'व'–प्रति से बहुत कुछ मिलती-जुलती प्रति है।

(7) जी (G) प्रति—यह बीकानेर से प्राप्त प्रति है। इसकी सख्या भी 271 है। 'ए' प्रति की ही सख्या होने के कारण पहले इसे लोगो ने 'ए' की टीका समझ लिया था। परन्तु यह उससे अलग प्रति है। मूलपाठ और टीका सहित इसमे कुल 46 पृष्ठ है। इसका टीका भाग अत्यन्त शुद्ध और उच्चकोटि का है। परन्तु इसके अधिकतर पृष्ठ चूहो के द्वारा खा डाले गये हैं। बीच-बीच मे क्षत पृष्ठो (15,24,42) के अतिरिक्त अष्टम वर्ग की 21वी गाथा के 'डमुहो' शब्द के बाद का भाग पूर्ण रूप से गायब है। इसके क्षत-विक्षत पत्रो को जोडकर रिचर्ड-पिशेल ने लगभग सभी वर्णों को ठीक-ठाक पढ लिया था।

इन सात मूल प्रतियो के अतिरिक्त डा बुल्हर ने दो और भी प्रतिया प्राप्त की थी–

(8) एच (H) प्रति—यह प्रति 1879 मे भारत सरकार के लिए अहमदा-बाद से खरीदी गयी थी। इसमे कुल 62 पृष्ठ हैं। समय सम्वत् 1628 दिया गया है। इसमे मूलपाठ और टीका दोनो ही हैं। रिचर्ड पिशेल इसे बहुत असावधानी से लिखी होने के कारण महत्त्वहीन बताते हैं।

(9) आई (I) प्रति—यह प्रति भगवानलाल इन्द्राजी की अपनी प्रति है। मूलपाठ और टीका सहित इसकी पृष्ठ सख्या 86 है। बीच के 8-27 और अन्त मे

अष्टम वर्ग की 72 गाथा के 'यदाह भरत'—वाक्य के बाद के पृष्ठ गायब हैं। पिशेल ने इस प्रति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। परन्तु यह उन्हे 'देशीनाममाला' के प्रथम सस्करण के प्रकाशन के बाद प्राप्त हुई थी।

पिशेल द्वारा उल्लिखित ये सभी मूलप्रतिया जैन लिपि मे लिखी गयी हैं। इसलिये उन्हे च, व, व, त्थ और च्छ, थ और घ ब्म तथा ज्झ, द्द, द्ध, ह्ढ, ट्ठ, ट्ठ आदि जहा भी आये हैं, इन्हे शुद्ध शुद्ध पढने मे बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पडा है।

पिशेल द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त मूल प्रतियो के अतिरिक्त 'देशीनाममाला' के द्वितीय सस्करण की भूमिका मे प्रवस्तु वेङ्कटरामानुजस्वामी ने 'सात' और प्रतियो का उल्लेख किया है। ये प्रतिया उन्हे ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना के अधिकारियो से मिली थी। इनमे एक 'देशीनाममाला' के शब्दो की वर्णक्रम मे बनायी गयी सूची थी। इसमे पहले दो अक्षर वाले और फिर तीन अक्षरो वाले और फिर इसी तरह क्रम से 8 अक्षरो (केवल 4 शब्द) तक के शब्द उसी क्रम से सकलित हैं जिस क्रम से मूल पाठ मे उनका उल्लेख हुआ है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

।।60।। श्री वीतरागायनम ।। अर्हं ।। श्री हेमचन्द्र सूर्युक्त देश्य शब्द समुच्चयात्। अकाराद्यादय शब्दा लिख्यते द्विस्वरादिका ।।1।। औदीदूदेदनुस्वाराद्य यत्रस्यादियोगत शब्दनामक्षराधिक्यमपिकपत्वयादिह ।।2।। अथ द्विस्वरा । अज्जो जिन । गौरीति आ .... . ...

इसके अन्त मे—

श्रीहेमसूरेरभिधानकोशाद्देश्यात्पदान्यर्थ समन्वितानि। उद्धृत्य वर्णक्रमतोऽखिलानि लिलेप सूरिर्विमलाभिधान ।।1।। वाध जाड्यतमश्छन्नान् ग्रन्यान्तर गृहस्थितान्। अनेन देश्य दीप्तेन पश्यत्वर्थान् जना स्फुटान् ।।2।। ग्रन्याग्र 1200 ।। इस सूची मे केवल 18 पृष्ठ हैं। सख्या 857 तथा समय 1886-92 हैं। प्राप्त मूल प्रति अधिक प्राचीन न होने के कारण विश्वसनीय एव उपयोगी नही है।

दूसरी प्रतिया (सख्या 724, 1875-76 और सख्या 281, 1880-81) लगभग प्रथम सस्करण के प्रकाशन मे पिशेल द्वारा प्रयुक्त बी (B) ई (E) प्रतियो के समान ही हैं। एक तीसरी प्रति (सख्या 159, 1881-82) प्रथम सस्करण तथा डा० बुल्हर द्वारा प्रयुक्त सी (C) प्रति का मूल रूप मात्र है। इन चार प्रतियो के अतिरिक्त प्रवस्तु रामानुजस्वामी ने क्रमश एक्स (x) वाई (y) और जेड (z) इन तीन अन्य प्रतियो का भी उल्लेख किया है उनका विवरण इस प्रकार है —

एक्स (X) प्रति—

मूल पाठ और टीका सहित सुस्पष्ट अक्षरो मे लिखी हुई यह एक अपूर्ण मूल प्रति है। इसमे दी गई सख्या 856 (1886-92) है। पत्रो की उल्लिखित सख्या 45 है परन्तु 14 और 15 एक ही पृष्ठ पर लिख जाने के कारण इसकी वास्तविक पृष्ठ सख्या 44 ही ठहरती है। इसका प्रतिलिपि कार जैन लिपि का अभ्यस्त नही मालूम पडता अत उसने भूलें तो की ही है–साथ ही विना कुछ लिखे ही खाली स्थान छोड दिया है। इसमे कोई तिथि नही दी गयी है। कुछ ऐसी गिनतिया लिखी गयी है जो अत्यन्त अस्पष्ट और सर्वथा अवोध्य है—जैसे अन्त मे–भा 1, पृ 19 (यह लिखकर काट दिया गया है फिर अ० 19 (?) लिख दिया गया है। यह प्रति प्रथम सस्करण की सी (C) प्रति से निकटतम रूप से सम्वन्धित है।

वाई (Y) प्रति—

यह सम्पूर्ण मूलपाठ से युक्त है। टीका नही है। इसमे दी गयी सख्या 397, (1895-98) है। पृष्ठो की सख्या 21 है। यह वहुत सावधानी से लिखी गयी है, अत. भूलें कम हैं। कही-कही प्रतिलिपिकार त्त, व और व, उ और ओ, च्छ तथा त्थ के पढने मे प्रमाद अवश्य कर गया है फिर भी सामान्य रूप से शब्दो का आख्यान शुद्ध रूप से किया गया है। इसके हासिये मे कुछ टिप्पणिया दी हुई है जो प्राय देशी शब्दो का सस्कृत मे अर्थ द्योतित करती है। इसमे दी गयी तिथि सम्वत् 1636 शुक्र, फाल्गुन शुक्लपक्ष 5 मी है। यह प्रति जिनचन्द्र सूरि के शिष्य पडितरत्न निधान गणि के द्वारा लिखी गयी थी। इस मूल प्रति का सम्वन्ध प्रथम सस्करण मे प्रयुक्त वी (B) और एफ (F) प्रतियो से है।

जेड (Z) प्रति—

यह एक मूलपाठ और टीका सहित प्रति है। इस पर दी गयी सख्या 438, 1882-83 है। इसकी पृष्ठ सख्या साठ (60) है। परन्तु यह अपूर्ण प्रति है। अष्टम वर्ग की 12वी गाथा के 'साउलिअ' शब्द के वाद यह समाप्त हो जाती है। 40वे पृष्ठ से लेकर प्रत्येक पन्ने का दाहिना भाग चूहो द्वारा खा डाला गया है। यह एक सुस्पष्ट वर्णो मे लिखी गयी प्रति है और बहुत कुछ प्रथम सस्करण मे उल्लिखित जी (G) प्रति से मिलती जुलती प्रति है। अन्तिम पृष्ठो के खो जाने से इसकी तिथि का कुछ भी पता नही चलता। यह प्रति लगभग दो सौ वर्ष पुरानी है। इसका लिपिकार भी जैनलिपियो के पढने मे अभ्यस्त नही लगता क्योकि इस प्रति मे भी जैनलिपियो के पढने मे वही अशुद्धिया की गयी हैं जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है।

उपर्युक्त मूल प्रतियो के आधार पर देशीनाममाला के अब तक दो सस्करण निकल चुके हैं। इन दोनो सस्करणो की भूलो और भ्रान्तियो को ध्यान मे रखते हुए कलकत्ता विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ विद्वान् श्री मुरलीधर बनर्जी ने 1931 मे कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस से अपने सम्पादकत्व मे इसका पुन प्रकाशन कराया। उन्होंने इसका प्रकाशन दो भागो मे कराया। प्रथम भाग एक विस्तृत भूमिका सहित मूल पाठ और व्याख्या तथा आलोचनात्मक टिप्पणियो से युक्त है। इसके द्वितीय भाग मे उन्होंने प्रथम भाग का अग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है। मुरलीधर बनर्जी द्वारा सम्पादित 'देशीनाममाला' का प्रस्तुत सस्करण अत्यन्त परिशुद्ध और पिशेल के सस्करण से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सस्करण की महत्ता इस बात मे और भी है कि हेमचन्द्र द्वारा देशी शब्दो के उदाहरण के रूप मे लिखे गये जिन उदाहरणो को पिशेल ने निरर्थक और महत्त्वहीन कहकर छोड दिया था उनमे श्री बनर्जी ने पिशेल की भ्रान्तियो को सुधारते हुए अद्भुत काव्य सौन्दर्य देखने का प्रयास किया है। इस सस्करण की भूमिका तो अत्यन्त विस्तृत और विद्वतापूर्ण है। प्रथम भाग के परिशिष्ट के रूप मे अकारादि क्रम से दी गयी शब्दो की सूची अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[1]

'देशीनाममाला' का एक सस्करण गुजराती सभा, बम्बई द्वारा वि स 2003 (1946 ई ) मे प्रकाशित किया गया है।[2] यह सस्करण मुझे देखने को नही मिला। पिशेल के सस्करण के प्रभाव के कारण सम्भवत इसका अधिक प्रचार नही हो पाया।

### देशीनाममाला का स्वरूप और उसकी विषयवस्तु

आचार्य हेमचन्द्र का देशी शब्दो का यह कोश भारतीय आर्य भाषाओ के शब्दो की सागोपाग आत्मकथा प्रस्तुत करता है। मध्यकालीन भा० आ० भा० का शब्द भण्डार तीन प्रकार के शब्दो से युक्त है—तत्सम तद्भव और देशी। तत्सम शब्द वे हैं जिनकी ध्वनिया सस्कृत शब्दो के ही समान रहती हैं। उनमे कोई विकार नही होता जैसे नीर, कक, कठ ताल, तीर, देवी आदि। इसके विपरीत सस्कृत के वे शब्द जो वर्णागम वर्णलोप और वर्णविकार के कारण अपना स्वरूप परिवर्तित कर लेते हैं—"तद्भव" कहलाते हैं,—जैसे अग्ग ∠अग्र, इट्ठ ∠ इष्ट, धम्म ∠धर्म, गय ∠गज, घाण ∠ध्यान आदि। ऐसे प्राकृत शब्द जिनमे प्रकृति प्रत्यय का निर्धारण न हो सके तथा जिनकी कोई व्युत्पत्ति सम्भव न हो, बल्कि

---

1 इस संस्करण के द्वितीय भाग (अनुवाद भाग) के दुर्लभ होने के कारण उसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करना असम्भव है।

2 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डा0 नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ0 539

परम्परा मे प्रचलित अर्थ ही उन्हे व्याख्यायित कर सके, ऐसे रूढ शब्दो को "देशी" कहा गया, जैसे अगय=दैत्य, आकासिम=पर्याप्त, इराव=हस्ति, पलविल=धनाढ्य, चोड=बिल्व आदि। "देशीनाममाला" ऐसे ही देशी शब्दो का सकलन ग्रन्थ है। आचार्य हेमचन्द्र ने परम्परा मे प्रचलित एव प्रसिद्ध 3978 शब्दो का समाहार इस ग्रथ मे किया है।[1] इनमे सकलित शब्दो का स्वरूप निर्धारण करते हुए स्वय ही आचार्य लिखते हैं—

जे लक्खणे ण सिद्धा पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउण लक्खणा सत्तिसभवा ते इह णिवद्धा ॥1.3.[2]

जो शब्द न व्याकरण से व्युत्पन्न हैं और न सस्कृत कोशो मे निवद्ध है तथा लक्षणाशक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ सम्भव नही है, ऐसे शब्द इस कोश मे निवद्ध किये गए है। वे आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते है कि देशी शब्दो से विभिन्न प्रान्तो मे बोले जाने वाले (साहित्येतर या ग्रामीण) शब्दो का अर्थ नही लगा लेना चाहिए।

देस विसेसपसिद्धीइ भण्णा माणा अणन्तया हुन्ति।
तम्हा अणाइपाइअपयट्ठ भासाविसेसओ देसी ॥1 4 3.

देशी शब्दो से यहा महाराष्ट्र विदर्भ, आभीर आदि देशो मे प्रचलित शब्दो का संकलन भी नही समझ लेना चाहिए। क्योकि देश विशेष मे प्रसिद्ध शब्द अनन्त हैं। अत उनका सकलन सम्भव नही है। अनादिकाल से प्रचलित भाषा ही देशी है।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने स्वय ही अपने द्वारा सकलित तथा देशी कहे जाने वाले शब्दो की व्याख्या स्पष्ट रूप से कर दी है। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाये तो इस कोश के सभी शब्द देशी नही है।[3] देशी शब्दो के भ्रम मे या फिर पूर्व आचार्यो की मान्यता के कारण उन्होने देशी शब्दो के साथ ही अनेको तत्सम और तद्भव शब्दो का सकलन भी कर दिया है। यद्यपि उन्होने जगह-जगह "पूर्वाचार्यानुरोधात्" और "अप्रसिद्धत्वात्" जैसे वाक्यो का सहारा लिया है फिर भी कही-कही वे ऐसी भूले कर जाते हैं जो स्वय ही उनकी पूर्वमान्यताओ का खण्डन करती है। अनेको शब्द ऐसे आये है जिन्हे उन्होने अपने शब्दानुशासन (व्याकरण ग्रन्थ) मे तत्सम और तद्भव बताते हुए भी इस कोश मे "देशी शब्द के रूप मे सकलित कर दिया है। अब तक हुई खोजो के आधार पर 'देशीनाममाला' मे सकलित तत्सम तद्भव और देशी शब्दो की सख्या निम्न प्रकार से दी जा सकती है।

1. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डा0 नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ0 539
2 'अपभ्रंश' प्राकृतो की ही अन्तिम कडी है
3 पिशेल, बनर्जी रामानुजस्वामी आदि का यही मन्तव्य है।

"तत्सम शब्द—100 ।
संशययुक्त तद्भव—528 ।
गर्भित तद्भव 1850 ।
अव्युत्पादित शब्द (देशी) 1500 ।
... ... ........... . .... ... ... . .

कुल शब्दो की संख्या 3978

इन 1500 देशी शब्दो मे केवल 800 शब्द आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं मे प्राप्त होते है । 700 शब्द आर्येतर भाषाओ से सम्बन्धित बताये जाते है । यद्यपि इनकी पूरी खोज अत्यन्त दुरूह कार्य है । इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र द्वारा स्वय दी गयी परिभाषा के अनुसार इसमे केवल 1500 देशी शब्द है । शेष शब्द इस परिभाषा की सीमा के बाहर जा पडते है ।[1] इन "देशी" शब्दो के उद्भव और विकास तथा इनके स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के एक अलग अध्याय मे प्रस्तुत किया जायेगा इस ग्रन्थ मे सकलित शब्दो की विशेषताए सक्षेप मे इस प्रकार दी जा सकती है ।

(1) इस कोश मे सकलित शब्द का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया जा सकता है ।

(2) 'देशीनाममाला' दु सदर्भित शब्दो का अद्भुत सकलन ग्रन्थ है । इस बात को आचार्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे स्पष्ट भी कर दिया है—

देशी दुसदर्भा. प्राय सदर्भिता अपि दुर्बोधा ।
आचार्य हेमचन्द्रस्तत्ता सदभतिविभजति च ।।

(3) 'देशीनाममाला' एक ऐसा सकलन ग्रन्थ है जिसके समान समस्त भारतीय साहित्य-परम्परा मे कोई भी ग्रन्थ नही प्राप्त होता । 'पाइयलच्छीनाममाला' जैसे ग्रन्थ यद्यपि उपलब्ध हैं फिर भी उनमे प्रचलित शब्दो का आख्यान हुआ है । यह ऐसे शब्दो का सकलन ग्रन्थ है जो अन्यत्र कही उपलब्ध नही होते ।

(4) इस सग्रह मे सकलित शब्द तत्कालीन रहन-सहन और रीति-रिवाजो का सुष्ठु परिज्ञान कराने मे समर्थ हैं । ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित शब्दावली तो भारतीय ग्राम्य जीवन के स्वरूप एव उसके विश्वासो तथा परम्परित मान्यताओ का परित. दिग्दर्शन कराने मे अत्यन्त समर्थ हैं ।

(5) इस कोश मे अनेको ऐसे शब्द सकलित हैं जिनका आज तक की विकसित आर्य भाषाओ मे हुआ अर्थ परिवर्तन सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

1. परन्तु इस मान्यता मे कोई बल नही । इसका खण्डन 'अर्थगत अध्ययन' के अन्तर्गत किया गया है ।

सिद्ध हो सकता है। अनादिकाल से प्रचलित लौकिक रीति-रिवाजो को प्रदर्शित करने वाले कितने ही शब्द यत्र-तत्र इस कोश मे बिखरे पडे हैं। ये शब्द केवल आर्यों की ही प्राचीन परम्परा का द्योतन करने वाले न होकर आर्येतर, कोल, सथाल, मुण्डा तथा द्रविड जाति के लोक व्यवहार को प्रदर्शित करने मे समर्थ है। आजकल सामान्य जन-जीवन के बीच कितने ही ऐसे शब्द बिखरे पडे है जिन्हे इस कोश मे सचित शब्दो से सदर्भित किया जा सकता है। इस विषय की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत प्रवन्ध के एक अलग अध्याय मे विस्तार से की जायेगी।

### स्वरूप[1]

'देशीनाममाला' का मूलपाठ अपभ्रश के गाथा छन्द मे लिखा गया है। इन गाथाओ मे हेमचन्द्र ने 'देशी' शब्दो की गणना कराने के साथ ही उनका पर्यायवाची 'तद्भव' शब्द भी दे दिया है। इन गाथाओ पर उन्होने टीका भी लिखी है। यह सस्कृत मे है। इसके अन्तर्गत उन्होने प्रत्येक 'देशी' शब्द का समानार्थी सस्कृत शब्द देने के साथ ही उस शब्द को 'देशी' मानने के पक्ष मे तर्क भी दिया है। सस्कृत टीका मे वे अपने और अपने से पहले के आचार्यो के मतो का उल्लेख करते हुए शब्द के रूप और उसकी देसी सज्ञा के औचित्य को विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर देते हैं। मूल-गाथाओ की सस्कृत टीका लिखने के अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र ने 'देशी' शब्दो को और भी स्पष्ट करने के लिये, इन्ही शब्दो को लेकर, उदाहरण की गाथाओ की रचना की। प्रत्येक गाथा के बाद उसकी सस्कृत टीका और टीका के बाद इन शब्दो के उदाहरण के रूप मे गाथाए यही देशीनाममाला का मूल स्वरूप है। इनमे एक-एक को लेकर उनका विस्तृत विवेचन करना समीचन होगा।

### देशीनाममाला की गाथाएं

'देशीनाममाला' कुल 8 वर्गों मे विभाजित है। इन आठ वर्गों मे कुल 783 गाथाए हैं। इसका वर्ग विभाजन स्वरादि क्रम से है अर्थात् प्रथम वर्ग मे ऐसे शब्दो का सकलन है जो स्वरो अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ से शुरू होते हैं। वर्ग के प्रारम्भ मे द्व्यक्षर शब्द उसके बादत्र्यक्षर, चतुरक्षर, पचाक्षर और इसी तरह क्रम से कही कही आठ अक्षरो तक के शब्द सकलित है। इनका निर्देश हेमचन्द्र स्वय ही 'अथ' द्व्यक्षरा - त्र्यक्षरा इत्यादि कहकर कर देते है। एकार्थक और अनेकार्थक शब्दो का निर्देश भी वे करते चलते हैं।

---

1. स्वरूप की दृष्टि से 'देशीनाममाला' के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(1) मूलपाठ, इसमे गाथाए आती हैं जो देशी शब्दो और उनके पर्याय तद्भव शब्दो का प्रत्याख्यान करती है। (2) टीका भाग यह सस्कृत मे है। (3) उदाहरण ।

द्वितीय वर्ग कण्ठ्यव्यजनवर्ग कहलाता है इसके अन्तर्गत क्रमश क, ख, ग, घ व्यजनो से प्रारम्भ होने वाले 'देशी' शब्दो का सकलन किया गया है। तृतीय वर्ग मे तालव्य व्यजनो च, छ, ज, झ से प्रारम्भ होने वाले शब्दो का समाहार किया गया है। चतुर्थ वर्ग मूर्धन्य वर्णों ट, ठ, ड, ढ, ण से प्रारम्भ होने वाले शब्दो से युक्त है। पचमवर्ण दन्त्य त, थ, द, ध, न मे प्रारम्भ होने वाले शब्दो का समूह है षष्ठ वर्ग ओष्ठ्य प, फ, ब, भ, म वर्णों से प्रारम्भ होने वाले शब्दो का सकलित रूप है। सप्तम वर्ग अन्त स्थ व्यजनो य, र, ल, व तथा दन्त्य स मे प्रारम्भ होने वाले शब्दो का सकलन है। अष्टम वर्ग मे केवल ऊष्मवर्ण-ह से प्रारम्भ होने वाले शब्दो का सकलन हुआ है।

इस ऊपर गिनाये व्यजन वर्गो मे शब्दो का आख्यान व्यजनो मे निहित स्वरो के क्रम से किया गया है—जैसे कण्ठ्यवर्ग के क् से प्रारम्भ होने वाले शब्दो का आख्यान करते समय आचार्य सर्वप्रथम अकारान्त क् से प्रारम्भ होने वाले शब्दो का आख्यान करते हैं जैसे—

कल्ला कविस मज्जे कलिकल्लोला विवक्खम्मि ।
कच्च कोडुम्ब कज्जे कस्सोकच्छरो अ पड्कम्मि ॥ 2।1

इस गाथा मे कल्ला, कविस, कली तथा कल्लोल, कच्च, कच्छर आदि शब्दो का आदिभूत व्यजन क् अ स्वरसयुक्त है। इसी प्रकार अन्य स्वरो से युक्त शब्दो का आख्यान करते समय वे गाथा के पहले की एक पक्ति मे 'अथ' इकारादय, उकारादय एकारादय आदि कहकर निर्दिष्ट कर देते हैं।[1] एकार्थक और अनेकार्थक शब्दो का प्रत्याख्यान करने के पहले भी वे 'इत्येकार्था' अथ अनेकार्था आदि कहकर निर्दिष्ट करते चलते हैं। स्वर वर्ग की भाति ही व्यजन वर्गो मे भी पहले द्व्यक्षर फिर त्र्यक्षर, चतुरक्षर आदि शब्द क्रम से प्रत्याख्यायित किये गये हैं। इस प्रकार 'देशी' शब्दो और उनके पर्यायवाची 'तद्भव' शब्दो का प्रत्याख्यान करने वाली 'देशीनाममाला' की मूलपाठ से सम्बन्धित गाथाए स्वरूप की दृष्टि से कहीं भी दुरूह नही हैं। कदम-कदम पर आचार्य दुरूहताओ को मिटाने के लिए सकेत देते चलते हैं। गाथाओ के स्वरूप का निर्धारण हो जाने के बाद प्रत्येक वर्ग मे निहित गाथाओ की सख्या का उल्लेख कर देना भी समीचीन होगा। इसे अग्र प्रकार स स्पष्ट किया जा सकता है—

---

1 वर्णो मे निहित स्वरो का निर्देश करने के अतिरिक्त कोशकार नये व्यजन से प्रारम्भ होने वाले शब्दो का निर्देश करने में भी नही चूकते। च से प्रारम्भ होने वाले शब्दो का प्रत्याख्यान हो जाने पर छ से प्रारम्भ होने वाले वर्णों की शुरूआत करने के पहले वे लिख देते हैं—'अथ-छादय' यही परिपाटी उन्होंने पूरे ग्रन्थ मे अपनायी है।

| वर्ग सख्या | वर्ग जिनमे प्रारम्भ होने वाले शब्दवर्ग मे श्राख्यायित है । | गाथाश्रो की सख्या |
|---|---|---|
| प्रथम | स्वर वर्ण | 174 |
| द्वितीय | कठ्य वर्ण | 112 |
| तृतीय | तालव्य वर्ण | 62 |
| चतुर्थ | मूर्द्धन्यवर्ण | 51 |
| पन्चम | दन्त्यवर्ण | 63 |
| षष्ठ | श्रोष्ठ्य वर्ण | 148 |
| सप्तम | अन्त स्थ वर्ण | 96 |
| अष्टम | ऊष्म वर्ण | 77 |
| कुल | | 783 |

ऊपर की तालिका मे दिखाये गये 8 वर्गो की 783 कारिकाश्रो मे कुल 3978 देशी शब्दो का प्रत्याख्यान किया गया है । शब्दो की सख्या की दृष्टि से प्रथम वर्ग मे लगभग 787, द्वितीय मे लगभग 570, तृतीय मे लगभग 327, चतुर्थ मे लगभग 265 पचम मे लगभग 312, षष्ठ मे लगभग 800 सप्तम मे लगभग 825 श्रौर श्रष्टम मे केवल 92 देशी शब्दो का उल्लेख किया गया है ।

### वृत्ति या टीका भाग

'सिद्धहेम शब्दानुशासन' की भाति हेमचन्द्र ने श्रपने इस कोश ग्रन्थ की भी टीका स्वय ही लिखी है । 'देशीनाममाला' की मूल गाथाए प्राकृत मे है । इन गाथाश्रो मे निहित शब्दो के भाव को समझाने तथा ग्रन्थ को प्रामाणिक एव महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिये इन्होने इसकी टीका सस्कृत भाषा मे लिखी । यह वात तो बिल्कुल सच ही है कि यदि हेमचन्द्र श्रपने इस ग्रन्थ की मूल गाथाश्रो पर टीका न लिखते तो इस कोश का समझना सामान्य लोगो के लिए श्रत्यन्त दुरूह होता । देशीनाममाला मे निहित विषय श्रत्यन्त विवादास्पद हैं । भाषाश्रो के श्रथाह सागर मे बून्द के समान देशी शब्दो को श्रलग कर उनका श्राख्यान करना श्रौर विभिन्न विवादो से बच निकलना एक कठिन काम था । इसके लिए एक विस्तृत तर्क पूर्ण पृष्ठभूमि की श्रावश्यकता थी । हेमचन्द्र ने इसी भावना से सस्कृत टीका लिखी होगी । टीका को देखने से पता चलता है कि उन्होने जितने भी शब्दो को देशी कहा है उनका कोई न कोई कारण है । श्रौर इन्ही कारणो का स्पष्टीकरण वे श्रपनी सस्कृत टीका मे करते चलते हैं । वे स्वय ही बताते हैं कि परम्परा मे कई 'देशीकार' हुए हैं परन्तु इनमे से

अधिकतर अनेकों भूलें करने वाले है। हेमचन्द्र उनकी कमियो की ओर सकेत करते हैं। यह सारा कार्य वे मूल गाथाओ की छोटी सी सीमा के भीतर नही कर सकते थे। एक जगह प्राचीन देशीकारो की सराहना करते हुए तथा आधुनिक (अपने समकालीन) देशीकारो और उनके व्याख्याताओ की अवमानना करते हुए लिखते हैं—

अधुनातन देशी काराणा तद्व्याख्यातृणाच कियन्त समोहा परिगण्यन्ते ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने इस कोश मे लगभग 4000 शब्द सकलित किये है। इनमे केवल 1500 शब्द ही ऐसे हैं जिन्हे 'देशी' कहा जा सकता है।[1] शेप कुछ तो तत्सम हैं, कुछ तद्भव और कुछ अर्द्ध तत्सम। परन्तु आचार्य सभी शब्दो को 'देशी' ही कहते हैं। इसके लिए वे कही परम्परा का सहारा लेते हैं तो कही किसी विद्वान का। "देशीनाममाला" मे सकलित कोई भी ऐसा तत्सम या तद्भव शब्द "देशी" के रूप मे सग्रहीत न मिलेगा, जिसके लिए हेमचन्द्र ने डटकर तर्क न दिया हो। इन तत्सम या तद्भव शब्दो का ग्रहण कही वे पूर्वाचार्यानुरोधात् "कही अप्रसिद्धत्वात्" तो कही (मेरी राय मे) प्रमादत्वात् (यद्यपि कही वृत्ति मे यह आया नही फिर भी कई जगह हेमचन्द्र प्रमाद कर गये हैं) करते है। इन सभी बातो का प्रतिपादन उन्होंने ग्रन्थ की स्वोपज्ञवृत्ति (टीका) मे ही किया है।

हेमचन्द्र के इस ग्रन्थ के वृत्ति भाग की विशिष्ट महत्ता परम्परा मे हुए देशीकारो के उल्लेख के कारण भी है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्वारा सकलित शब्दो को देशी सिद्ध करने तथा अन्य आचार्यों द्वारा "देशी" कहे गये शब्दो को कही-कही न मानने के सदर्भ मे, पूरे ग्रन्थ के बीच कुल 12 देशीकारो का नामोल्लेख किया है। जहा-जहा और जिन-जिन कोशकारो का नाम लिया है उसका विवरण इस प्रकार है।

**1. अभिमान चिह्न**

इन्होने सूत्र रूप मे एक "देशीकोश" की रचना की थी। इसके साथ शब्दार्थ सूची और उदाहरण भी दिये गये थे। इनकी व्याख्या उद्खल नामक विद्वान् ने की थी यद्यपि इन्होंने कई जगह उनके सूत्रो को न समझ कर भूलें की हैं हेमचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ मे इनका उल्लेख—1–144, 6–93, 7–1, 8–12,17 मे किया है।

**2 अवन्तिसुन्दरी :**

इस नाम की विदुषी का उल्लेख हेमचन्द्र ने "देशीनाममाला" मे तीन स्थानो

---

1. अब तक दे. ना. पर कार्य करने वाले रामानुजस्वामी प्रभृति विद्वानो का यही मन्तव्य रहा है।

पर किया है—प्रथम वर्ग की 81 वी, 144 वी, और 157वी गाथा की वृत्ति मे। अवन्तिसुन्दरी नाम काफी भ्रामक है। कुछ लोग इसे धनपाल की बहिन "सुन्दरी" बताते हैं जिसके शब्दज्ञान के लिए धनपाल ने "पाइअलच्छीनाममाला" की रचना की थी। परन्तु वहा (पाइअलच्छीनाममाला) मे प्राप्त उल्लेख को देखते हुए सुन्दरी इतनी विदुषी नही हो सकती कि आचार्य हेमचन्द्र जैसा विद्वान् अपने कोश मे उसकी चर्चा करे। कुछ विद्वान् "अवन्तिसुन्दरी" को राजशेखर (कश्मीरी कवि) की पत्नी बताते हैं। "कर्पूर-मजरी" मे एक अवन्ति सुन्दरी की चर्चा आती भी है जिसकी आज्ञा से इसका अभिनय किया गया था। यह सम्भावना सत्य के अधिक निकट है।

**3 गोपाल**

इन्होने श्लोको मे एक देशीकोश की रचना की थी और सस्कृत मे इनका अर्थ भी दे दिया था। देशीनाममाला मे हेमचन्द्र इनका उल्लेख 1–25, 31, 45, 2-82, 3–47, 6–26, 45,72,7–2,76, 8–1,16, तथा 67 मे करते हैं। अन्य देशीकारो ने भी इनका उल्लेख किया है।

**4 देवराज :**

इन्होने एक छन्दबद्ध देशीकोश की रचना की थी। हेमचन्द्र की ही भाति इन्होने भी देशी शब्दो के प्राकृतपर्यायवाची दिये हैं। हेमचन्द्र इनका उल्लेख तीन जगह 6–58, 72 तथा 8–17 मे करते है। प्रथम दो स्थानो पर हेमचन्द्र इनके मत का समर्थन करते है परन्तु अन्तिम 8–17 मे उन्हे देवराज का मत मान्य नही हैं। देवराज द्वारा लिखा गया कोश प्रकरणो मे शब्द की प्रकृति के आधार पर विभाजित है।

**5 द्रोण**

ये भी एक देशी कोश के रचयिता के रूप मे उल्लिखित है परन्तु इनके ग्रन्थ के बारे मे अब तक कुछ पता नही चला है। हेमचन्द्र इनका उल्लेख एक जगह (8/17) मे अपने मत का समर्थन करने के लिए करते है 1–18,50 तथा 6—7 मे हेमचन्द्र इन्हे अपने मत का समर्थन न करने वाले आचार्य के रूप मे उल्लिखित करते है।

**6. धनपाल :**

धनपाल ने एक शब्दकोश[1] की रचना की थी। इसके अतिरिक्त उनके

---

1. पाइअलच्छीनाममाला।

अन्य किसी कोश ग्रन्थ का उल्लेख कहीं नहीं मिलता । हेमचन्द्र ने इनका उल्लेख 1–141, 3–22, 4–30, 6–101, 8–17 मे किया है ।परन्तु हेमचन्द्र ने धनपाल के नाम से जितने भी उद्धरण दिये हैं वे "पाइअलच्छीनाममाला" मे नही मिलते । इसके अतिरिक्त "पाइअलच्छीनाममाला" मे सकलित शब्दो की चर्चा करते हुए भी वे इस सदर्भ मे धनपाल का नाम नही लेते । वहा "इत्यन्ये" कहकर आगे बढ जाते हैं । अब यहा दो ही सम्भावनाए हो सकती है । एक तो यह कि धनपाल ने "पाइअलच्छी-नाममाला" के अतिरिक्त कोई दूसरा भी कोश लिखा था और उसी से हेमचन्द्र ने ये उद्धरण लिये । दूसरे धनपाल नाम का कोई दूसरा कोशकार रहा हो जिसने महत्त्वपूर्ण देशीकोश की रचना की हो । आर० पिशेल[1] की यह मान्यता है कि "देशीनाममाला" मे उल्लिखित "धनपाल" पाइअलच्छी नाममाला" के रचयिता धनपाल मे अलग विद्वान रहा होगा । इस बात के समर्थन मे वे दो तर्क देते हैं—एक तो यह कि "पाइअलच्छीनाममाला" जिसे कि धनपाल ने स्वय ही देशीकोश कहा है, रचने के बाद, उन्हें उसी प्रकार का दूसरा देशीकोश लिखने की आवश्यकता क्यो पडी । एक ही विद्वान् द्वारा एक ही समय मे एक ही विषय पर दो ग्रन्थ परम्परा मे देखने को नही मिलते । दूसरी बात यदि देशी कोश से उद्धरण देते समय हेमचन्द्र ने धनपाल का नाम लिया तो "पाइअलच्छी नाममाला" के उद्धरणो मे उन्होंने धनपाल का नाम ग्रहण न करके "इत्यन्ये" या "इतिकेचित्" क्यो लिखा ? क्या इससे ध्वनित नही होता कि हेमचन्द्र की दृष्टि मे धनपाल का कोई मूल्य नहीं था । इन तर्कों के आधार पर उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित धनपाल कोई अन्य विद्वान् रहे होंगे जिन्होंने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देशीकोश की रचना की थी ।

**7. पाठोदूखल :**

इनका उल्लेख आचार्य ने केवल एक बार (8–12) मे किया है । ये सभवत:

---

1 "I venture to suggest that Dhanpal quoted by Hemchandra is quite different from the author of Paiya lachhinammala If they are identical it would be impossible to conceive how one person could teach one and the same word in two different works and that too in different forms, as it would be necessary to suppose from VI 101 Again I do not see any reason why he should compose two Kosas of the same kind instead of one comprehensive one The Paiyalachhi is a very meagre production and the number of Desi words taught in it is very small The Kosa of the other Dhanpal must have been a work of considerable merit to deserve to be quoted by Hemchandra by the name of author."

Desi Nammala–Introduction I P-13

वही उदूखल होगे जिनका उल्लेख अभिमान चिह्न द्वारा लिखे गये कोश के व्याख्याकार के रूप मे किया जा चुका है ।

8. पादलिप्ताचार्य

आचार्य हेमचन्द्र ने इनका एक स्थान (1–2) पर नामोल्लेख मात्र किया है। इनके मत का उल्लेख पूरे ग्रन्थ मे कही भी नही हुआ है । हेमचन्द्र (1–2) मे इतना ही बताते हैं कि इन्होने एक देशीकोश की रचना की थी । ऐसा लगता है जैसे इनकी और हेमचन्द्र की मान्यता एक ही थी । हेमचन्द्र ने अवश्य ही इनके ग्रन्थ से प्रेरणा ली होगी । कोई मतविरोध न होने के कारण ही इनका कही उल्लेख नही किया होगा ।

9 राहुलक .

इनका उल्लेख केवल एक स्थान (4–4) पर हुआ है । इन्होने किसी देशी कोश की रचना की थी या नही यह स्पष्ट नही । इनका नामोल्लेख भी सीधे नही हुआ है । वहा "टोल" शब्द के अर्थ पर विवाद है । अन्य लोगो के द्वारा दिये गये अर्थ को न स्वीकार कर हेमचन्द्र ने "राहुलक" के अर्थ को स्वीकार किया है । यह स्थल द्रष्टव्य है—"टोलो शलभ । टोलो पिशाच इत्यन्ये । यदाह ।। टोल पिशाच-माहु मर्वे शलभ तु राहुलक । ·· - -- ··· ··· ।।4।4, पृ० 158

10 शाम्ब

इनका भी उल्लेख हेमचन्द्र ने केवल एक ही स्थान (2–48) पर किया है । यहा "कोमुई" शब्द पर विवाद उठ खडे होने पर वे शाम्ब का मत उद्धृत करते हैं ।

"कोमुई सर्वापूर्णिमा । शरद्येव पौर्णमासी कौमुदी रूढा । इह तु या काचि-त्पूर्णिमा सा कोमुई । अतएव च देसी । यदाह ।।

कोमुईमाह च शाम्बो या काचित्पोर्णमासी स्यात् ।। 2/48, पृ० 101

"कौमुई" शब्द को "तद्भव" न मानकर "देशज" मानते हुए हेमचन्द्र शाम्ब का उल्लेख करते हैं । इससे लगता है शाम्ब ने किसी कोश की रचना अवश्य की होगी परन्तु उसके बारे मे अन्य कोई भी उल्लेख नही मिलता ।

11. शीलाडक :

इन्होने भी देशीकोश को रचना की थी । पर इनसे सबधित विशेष उल्लेख कही नही मिलता । हेमचन्द्र ने इनका उल्लेख तीन जगहो (2–20, 6–96) तथा (7–40) पर किया है । 2–20 मे "कडभुआ" शब्द मे हेमचन्द्र उनसे मतभेद प्रकट करते हैं 6–96 और 8–40 शब्दो के रूप पर अपना मत भेद प्रदर्शित करते हैं ।

12. सातवाहन :

इनका उल्लेख हेमचन्द्र ने 3–41, 5–11, 6–15,18,19, 112, 125 मे किया है। उल्लेख के आधार पर इन्हे "गाहा सतसई" का सकलनकर्ता "हाल सातवाहन" कहा जा सकता है हेमचन्द्र सात बार इनका उल्लेख करने हैं वे यह दिखाना चाहते हैं कि हाल ने (वहा चर्चित) शब्दो का अर्थ उनसे अलग हट कर लगाते हुए अपने सग्रह ग्रन्थ (गाहासतसई) मे प्रयोग किया है। परन्तु जिन शब्दो के सदर्भ मे हेमचन्द्र सातवाहन की चर्चा करते हैं वे शब्द "गाहासतसई"[1] मे कही नही मिलते। हो सकता है ये कोई अन्य सातवाहन हो।

ऊपर गिनाये गये विद्वानो मे अभिमान चिह्न, देवराज, पादलिप्त और सातवाहन "गाहासतसई" के कवि के रूप मे भी प्राप्त होते हैं। इन विद्वान कवियो के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थकारो का उल्लेख भी स्पष्ट रूप मे किया है। इनमे कालापा (1–6), भरत (8–72) भामह (8–39) और विना नामोल्लेख किये हलायुध से भी (1–5 और 2–8) मे उद्धरण दिया है। विद्वानो के नामोल्लेख के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ मे कई ग्रन्थो का भी उल्लेख किया है। इनमे कुछ "देशीकोश" उल्लेखनीय है। जैसे सारतरदेशी, अभिमानचिह्न सूत्रपाठ; 'देशीप्रकाश'[2] देशीमार (इसका उल्लेख क्रमदीश्वरी ने अपने 'सक्षिप्तसार' नामक ग्रथ मे 8वें अध्याय के पृष्ठ 47 पर भी किया है) इत्यादि।

विद्वानो और ग्रन्थो का नामोल्लेख करने के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अनेकों विद्वानो का मत विना नाम लिये ही उद्धृत किया है। उनका विवरण इस प्रकार है—

अन्ये (1—3, 20, 22, 35, 47, 52, 62, 63, 65, 66, 70, 72, 75, 78, 87, 89, 99, 100, 102, 107, 112, 151, 160 और 163,
2—11, 12, 18, 24, 26, 29, 36, 45, 47, 50, 51, 66, 67, 77, 79, 89 और 98,
3—3, 6, 8, 28, 40, 41, 58 तथा 59,
4—3, 4, 5, 6, 7, 18, 22, 23, 26, 33 तथा 44 और 47,
5—9, 30, 33, 36, 40, 45, 50 तथा 61,

---

1. वेवर द्वारा सम्पादित।
2 लाला दीक्षित ने अपनी मृच्छकटिक की टीका मे इसका उद्धरण दिया है।

6—14, 1⁵, 16, 21, 24, 25, 26, 28, 42, 48, 53, 54, 61, •63, 75, 81, 86, 88, 91, 93, 94, 97, 99, 105, 106, 116, 121, 132, 134, 140 तथा 145,

7—2, 16, 17, 18, 21, 31, 33, 37, 44, 45, 48, 62, 68, 69, 74, 75, 76, 88 तथा 91,

8—10, 15, 18, 22, 27, 35, 36, 38, 44, 45, 59 तथा 67) ।

एके (2—89, 4-5 और 12, 6-11, 7-35, 8-7),

कश्चित् (1—43, 2-18, 3-51, 5-13, 8-75) 7 केचित्—(1-5, 26, 34, 37, 41, 46, 47, 67 79, 103, 105, 117, 120, 129, 131 तथा 153,

2—13, 15, 16, 17, 20, 29, 33, 38, 58, 59, 87 तथा 89,

3—10, 12, 22, 23, 33, 34, 35, 36, 44 और 55,

4—4, 10, 15 तथा 45

5—12, 21, 44 और 58

6—4, 55, 80, 90, 92, 93, 95, 96, 110 तथा 111

7—2, 3, 6, 47, 58, 65, 75, 81 तथा 93,

8—4, 51, 69 तथा 70,

पूर्वाचार्या (1—11 और 13), यदाह (1-4 और 5) हलायुध (1-37,75, 121, 171, 2-33, 48, 98, 3-23, 54, 4-4, 10, 21, 24 तथा 45, 5-1 और 63, 6-15, 42, 78, 81, 93, 140 और 140, 7-7।46, 58 तथा 84, 8-1, 13, 43 तथा 68), यदाहु (1-5, 3-6 तथा 4-15), इसी प्रकार के अन्य सर्वनामो के साथ 1-18, 94, 144 तथा 174, 3-33, 4-37, 6-8, 58 तथा 93, 8-12, 17 और 28 ।

इतनी अधिक सख्या मे विद्वानो का नाम देखकर कोई भी व्यक्ति हेमचन्द्र के अध्यवसाय और उनकी ईमानदारी की सराहना किये विना नही रह सकता। हेम्चन्द्र कही धोखे से भी यह वात नही कहते कि यह उनका मौलिक ग्रन्थ है। स्थान-स्थान पर उन्होंने यह स्वीकार किया है कि 'देशीनाममाला' का सग्रह इसी प्रकार के पुराने ग्रन्थो के आधार पर किया गया है। जिस किसी स्थल पर प्राचीन आचार्यो मे मतभेद दिखायी पडता है और वे स्वय भी अपनी कोई स्पष्ट राय नही दे पाते, वहा अत्यन्त विनम्रता पूर्वक, 'तदैव ग्रन्थकृद्विप्रतिपत्तौ वहुज्ञा प्रमाणम् ।' ऐसा कहते देखे जाते हैं। जहा कही वे पूर्वाचार्यो से अलग हटकर अपने मत का प्रतिपादन करना

चाहते हैं वहां स्पष्ट रूप से सकारण अपने मत का आख्यान करते है। 1 47 मे उन्होने 'अवडाक्किय' और अवडक्किय' इन दो शब्दो को अलग-अलग किया है। पहले के कोशकारो ने इन दोनो शब्दो को समानार्थी बताया था, पर हेमचन्द्र ने इन शब्दो के विषय मे उत्तम ग्रन्थो की छानबीन करके अपना निर्णय दिया—अस्माभिस्तु सारदेशी निरीक्षणेन विवेकः कृत.। इसी प्रकार कही-कही विवाद खडा हो जाने पर वे अत्यन्त सीधे-सादे ढग से 'केवलम् सहृदया प्रमाणम्' कहकर विवाद की समाप्ति कर देते हैं। आचार्य हेमचन्द्र की इन्ही विशेषताओ को ध्यान में रखते हुए 'जीगफ्रीड गोल्डश्मित्त[1] ने कहा था—'देशीनाममाला' उत्तम-श्रेणी की सामग्री देने वाला ग्रन्थ है।' और यह उत्तम सामग्री 'देशीनाममाला' की वृत्ति (टीका) मे निहित है।

इस प्रकार 'देशीनाममाला' की भाषा वैज्ञानिक महत्ता इस बात मे तो है कि यह 'देशी' शब्दो का प्रत्याख्यान करने वाला एक मात्र ग्रन्थ है, परन्तु वृत्ति को अलग कर देने से वह मूल्यहीन सा हो जायेगा। इस ग्रन्थ की वृत्ति इसकी प्राणरूपा है। इस वृत्ति के माध्यम से हेमचन्द्र ने लम्बी परम्परा मे हुए शब्दो से सम्बन्धित अध्ययन को एक ही स्थान पर स्पष्ट कर दिया है।

### 'देशीनाममाला' मे आयी हुई उदाहरण की गाथाए

आचार्य हेमचन्द्र ने 'देशीनामाला' की मूलगाथाओ पर वृत्ति (टीका) लिखने के के बाद उन शब्दो का प्रयोग बताने के लिए कुछ उदाहरण भी दे दिये है। उदाहरण की ये गाथाए 'एकार्थ' शब्दो की टीका के बाद दी गयी हैं। 'अनेकार्थ' शब्दो के प्रत्याख्यान मे आचार्य ने कोई भी उदाहरण की गाथाए नही लिखी है। उदाहरण की ये गाथाए अत्यन्त कवित्वपूर्ण और तत्कालीन युगजीवन को प्रत्यक्ष कराने वाली हैं। उदाहरण की ये गाथाए स्वय हेमचन्द्र द्वारा रचित हैं या बाद मे इनके शिष्यो ने लिखा, इस विषय पर थोडा विवाद अवश्य है पर अधिकतर विद्वान् इन्हें आचार्य हेमचन्द्र द्वारा ही रचित मानते है। इन पद्यो का स्वरूप भी यही द्योतित करता है कि आचार्य ने देशी शब्दो को आसानी से कण्ठस्थ किये जाने की सुविधा के लिए इन पद्यो की रचना की होगी।

रिचर्ड पिशेल ने देशीनाममाला की भूमिका मे हेमचन्द्र के इन पद्यो की बडी कडी आलोचना की है।[2] उनका विचार है कि ये पद्य अधिकतर निरर्थक और केवल शब्दो का उदाहरण मात्र दे देने के लिए लिखे गये है। उनकी दृष्टि मे ये

---

1 जीगफ्रीड गोल्डश्मित्त–होयत्शे लिटेराटूरत्साइटु ग 2, 1109।
2. Pinchel-introduction to Desinammala P 29-30 II Edition

अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त क्लिष्ट और साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा महत्त्वहीन हैं। पिशेल अपनी कठिनाई व्यक्त करते हुए कहते है कही-कही तो ये पद्य इतने क्लिष्ट है कि मुझे आज नक भी समझ मे नही आ सके। इन पद्यो मे आये हुए शब्दो का सही-सही अर्थ लग जाने पर भी इनका आशय समझना अत्यन्त दुरूह कार्य है।

पिशेल की इस कटु आलोचना को उनकी अपनी कमी बताते हुए प्रो० मुरलीधर बनर्जी ने अपने द्वारा सम्पादित 'देशीनाममाला'' की भूमिका मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यदि इन उदाहरणो को शुद्ध करके पढा जाये तो इनसे अत्यन्त रमणीय अर्थ ध्वनित होता है।[1] पिशेल की सबसे बडी कमी यही है कि उन्हे पद्यो के पाठ के बारे मे अनेको भ्रान्तिया है। इन्ही भ्रान्तियो के कारण पद्यो का अर्थ भी स्पष्ट नही हो पाता। उन्होने कई उदाहरण देकर पिशेल के द्वारा की गयी भूलो की ओर सकेत भी किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

प्रथम वर्ग की 22 वी गाथा का 20 वा उदाहरण पिशेल के द्वारा निम्न प्रकार पढा गया है—

अम्माइआइ दिण्णावहेअ तुहरे अवत्थरारिहइ।
णावलिअ ज जाव य रसेण त किसलिओ असोउ ह्व ।।

प्रो० मुरलीधर बनर्जी द्वारा शुद्ध किया गया पाठ इस प्रकार है—

अम्माइआइ दिस्मावहेअ तुहरे अवत्थरारिहइ।
नावलिय ज जावयरसेण त किसलिओ असोउव्व ।।

छाया—अनुमार्ग गामिन्या दत्तोनुकम्पा तवरे पादाघातम् नूनम्।
नासत्य यत् यावक रसेण त क्रिसलितो-अशोक इव ।।

पिशेल ने इस पद्य मे "याव" और "य" अलग करके पढा था। अत उसकी छाया "यावच्च" करने पर अर्थगत कठिनाई स्वय ही उत्पन्न हो जायेगी। यदि इन दोनो को मिलाकर पढा जाये तो "या वक" शब्द बनेगा। ऐसा कर देने पर यहा एक रमणीय अर्थ की व्यजना होती है।

नायक और नायिक आगे पीछे चले आ रहे हैं। नायक अत्यन्त प्रसन्न वदन दिखायी दे रहा है। नायक की इस प्रसन्नता का कारण कोई अन्य व्यक्ति बताता है—

1 Introduction to Desınammala by M D Banerjee I Part.

"हे युवक। अवश्य ही तेरे पीछे-पीछे आने वाली युवती ने तुझे अपने महावर भरे पैरो से ठोकर मारी है जिसके कारण तू अशोक वृक्ष के समान प्रफुल्लित हो उठा है।"

उपर्युक्त अर्थ को देखकर कौन ऐसा सहृदय साहित्यिक व्यक्ति होगा जो हेमचन्द्र के उच्चकोटि के कवित्व मे अविश्वास करेगा। इसी प्रकार अनेको स्थनो पर पिशेल को भ्रान्तिया हुई। उन्होने शुद्ध पाठ न होने के कारण ही इस प्रकार अर्थगत दुरूहता अनुभव की थी। उपर्युक्त कारिका मे "यावच्च" का अर्थ और जब तक निश्चित ही अर्थगत दुरूहता का जनक है। दोनो पदो को मिलाकर पढा हुआ "यावक" पद "महावर" का अर्थ देता है। यह अर्थ आते ही पद्य मे एक उच्च-कोटि का कवित्त्वपूर्ण आशय व्यजित होने लगता है। यह बात तो साहित्य मे सर्वथा प्रसिद्ध ही है कि अशोक मे पुष्प तभी आते है जब कोई मदमिक्तनवयौवना अपने आलक्तक लगे चरणो से उस पर प्रहार करती है। युवक की प्रसन्नता का कितना व्यजनापूर्ण कारण इन पक्तियो मे बताया गया है। इसी प्रकार का एक उदाहरण और भी द्रष्टव्य है—

पिशेल द्वारा दिया गया पाठ—

ओहर्कारि ओहट्ठ च य ओलु कि च सारवेसुघर।
ओचुल्ले ओलिम दट्ठु ओलिप्पिही तुह णनन्दा॥
1–121–153, पृ० 70

सस्कृतछाया—

हसनशीले हास्य च च छन्न रमण क्रीडाच समारचय गृहम्।
चुल्ल्येकदेश उपदेहिका दृष्ट्वा हसिष्यति तव ननन्दा॥

प्रो० बनर्जी द्वारा परिशुद्ध पाठ—

ओहर्कारि ओहट्ढ चय ओलु कि सारवेसुघर।
ओचुल्ले ओलिम दठ्ठ ओलिप्पिही तुह णनन्दा॥

छाया—

हसनशीले हास्य त्यज छन्नरमण क्रीडाच समारचय गृहम्।
चुल्ल्येकदेश उपदेहिका दृष्ट्वा हसिष्यति तव ननन्दा॥

"हास्य रत वाले! अपनी हसी और छन्नरमण क्रीडा को त्याग घर को साफ सुथरा करो नही तो तुम्हारे रसोई घर के चूल्हे के आस-पास सफेद चीटियो को रेंगते देखकर तुम्हारी ननँद हँसी करेगी।"

इस पद्य में "च य" को अलग-अलग पढने से अर्थ तो कोई निकला ही नही। पता नही पिशेल को यह बात क्यो नही सूझी कि वाक्य के बीच "च" जैसा व्यजन जैसा का तैसा नही बना रह सकता। दोनो को मिलाकर "चय" बनता है जो सस्कृत "त्यज" का तद्भव है।

इसी प्रकार पिशेल ने कई जगह अशुद्ध पढ जाने की भ्रान्तिया की हैं। प्रो० मुरलीधर बनर्जी ने अपने द्वारा सम्पादित देशीनाममाला की भूमिका[1] मे इस प्रकार के कई उदाहरण दिये है। वहा उन्होने ऊपर दिये गये दो उदाहरणो के अतिरिक्त 1–147–115, 2–30–27, 2–81–66, 3–25–21, 6–131–114, 7–20–17 तथा 7-40–34 मे भी इसी प्रकार का पाठगत प्रमाद बताया है साथ ही शुद्ध पाठ भी दे दिया है। उनका कथन[2] है कि इस प्रकार यदि गाथाओ के पाठ को शुद्ध करके देखा जाय तो इनसे निश्चित ही एक सुन्दर साहित्यिक अर्थ की व्यजना होती है। "रयणावली" की ये गाथाए तो कही-कही" "गाहोसत्तसई" मे निहित गाथाओ के काव्य सौन्दर्य से भी बढकर दिखायी पडती है। यदि ये आर्याएँ आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा विरचित है तो निश्चित ही उनमे अद्भुत कवित्वशक्ति थी। अन्त मे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि गाथाओ को शुद्ध करके पढा जाये तो निश्चित ही ये काव्य–प्रेमियो के लिए अद्भुत रस सयुक्त होगी। पिशेल और उनके शिष्य इनसे रसग्रहण भले ही न कर सके।[3]

"देशीनाममाला" मे आचार्य हेमचन्द्र ने उदाहरण के रूप मे 634 गाथाए लिखी हैं। ये गाथाए विषयवस्तु और वातावरण–दोनो ही दृष्टियो से गाथा सप्तशती" के समीप रखी जा सकती हैं। भारतीय साहित्य परम्परा मे "सतसई" ग्रन्थो की परम्परा बहुत प्राचीन है। हो सकता है आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी

---

1 Introduction II PP XLIII to LI Banerjee

2 "If the illustrative Geathos of Hemahandra which have appeared to pichel as examples of extreme absurdity or nonsense' are read correcting the errors made by the copyists in the manner explained above, they will yield very good sense"

Banarjee, Introduction II P LI

3 "As the Gathas read in this way (correcting errors) give a good sense, they can no longer be regarded as examples of "incredible stupidity." They will be appreciated, it is hoped by every lover of poetry as a remarkable feot of ingenuity worth of Hemchandra and for beyond the capacity of his (Pichel's) disciples to whom Pichel is inclined to ascribe them"

Banerjee–Introduction II P LI

परिपाटी पर अपने ये उदाहरण लिये हों। इस दृष्टि से यदि "देशीनाममाला" मे उदाहरण के रूप मे आयी हुई गाथाओं का अध्ययन किया जाये तो इसका "रय-णावली" नाम भी सर्वथा सार्थक सिद्ध हो जाता है। इस दिशा मे विचार करने के लिए यह उपयुक्त स्थान नही है। इसका साहित्यिक मूल्याकन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के एक अलग अध्याय मे किया जायेगा।

### गाथाओं का वर्गीकरण

"देशीनाममाला" की उदाहरण की गाथाओं को तीन प्रमुख वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। एक तो लौकिक प्रेम और शृगार से सम्बन्धित गाथाए। इनमे प्रेम का विविधात्मक स्वरूप तथा तरह तरह के नायक-नायिकाओं का विवरण दिया गया है। दूसरे कुमारपाल की प्रशस्ति से सम्बन्धित गाथाए—इनमे कुमारपाल का पराक्रम, उसकी दानशीलता, युद्ध मे दिखायी गयी वीरता तथा शौर्य आदि का वर्णन किया गया है। तीसरा कोटि[1] मे आने वाली गाथाए विविध लोकाचारों सामाजिक देवी देवताओं, भिन्न-भिन्न प्रादेशिक रीति-रिवाजो तथा सामाजिक अधविश्वासों आदि का विवेचन प्रस्तुत करती है। सास्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से इन गाथाओं का बहुत बडा महत्त्व है। इन तीन विषयो के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी गाथाए हैं जिनकी रचना मात्र शब्दो को कण्ठस्थ करने की सुविधा के लिए की गयी है। इनमे किसी विशेष अर्थ का समावेश न होकर नामो की गणना मात्र करा दी गयी है। इन गाथाओं को भी तीसरी ही कोटि के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रो० मुरलीधर बनर्जी ने "देशीनाममाला" की भूमिका के दूसरे भाग मे इनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रत्येक वर्ग की गाथाओं को वर्गीकृत करने के साथ ही इनकी सख्याए भी दे दी हैं। वह वर्गीकरण इस प्रकार है।

उदाहरण की गाथाएं

| वर्ग | लौकिक शृगार से सबंधित | कुमारपाल की प्रशस्ति | अन्य | कुल सख्या |
|---|---|---|---|---|
| प्रथम वर्ग | 76[2] | 38[3] | 19[4] | 133 |

---

1, तृतीय कोटि की गाथाओं में नीति और उपदेश ही सर्वत्रप्रधान है। दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशसा सदाचार का गुणगान आदि विषयों को देखते हुए प्रो. मुरलीधर बनर्जी इनकी तुलना "भर्तृहरि" के नीतिशतक के श्लोकों से करते हैं।

2 5-7, 10-15, 17-20, 23-26, 28, 32, 34 36-39, 42, 46-49, 51, 52, 55, 56, 58 60, 63 67-73, 75 76, 79 81, 86, 87, 89, 91, 92, 94, 96, 98, 99, 101-104, 108-110, 112-115, 120, 123-126 131-133।

3 9, 22, 24, 25, 29, 31, 40, 41, 43, 45, 50, 53, 54, 57, 62, 65, 66, 74, 78, 80, 83-85, 88, 90, 95, 97, 100, 105, 107, 116 119 127-130।

4. 1, 4, 16, 21, 27, 30, 35, 61, 64, 77, 82, 93, 106, 111, 121, 122।

| वर्ग | लौकिक शृंगार से सम्बन्वित | कुमारपाल की प्रशस्ति | अन्य | कुल सख्या |
|---|---|---|---|---|
| द्वितीय | 66[1] | 11[2] | 13[3] | 90 |
| तृतीय | 36[4] | 7[5] | 8[6] | 51 |
| चतुर्थ | 25[7] | 11[8] | 10[9] | 46 |
| पचम | 34[10] | 7[11] | 9[12] | 50 |
| पष्ठ | 83[13] | 14[14] | 26[15] | 123 |
| सप्तम | 49[16] | 8[17] | 19[18] | 76 |
| ग्रष्टम | 41[19] | 9[20] | 15[21] | 65 |

1. 1, 6, 8, 9, 11, 12, 17-22, 24-29, 31-36, 38, 40-47, 49 53, 55-59, 62-68, 70, 72, 81, 83 86, 88 ।
2 4, 5, 7, 30, 37, 39, 48, 54, 61, 89, 90 ।
3 2, 3, 10, 13-16, 23, 60, 69, 71, 82, 87 ।
4 2, 4, 6-10, 13-24, 26-30, 32-39, 45, 48, 49, 51 ।
5 3, 11, 12, 40, 41, 46 47 ।
6 1 5, 25, 31, 42-44, 50 ।
7. 3, 4, 6, 9, 12-15, 18, 21, 25-27, 31-36, 39-41 43, 45, 46 ।
8. 7, 8, 10, 11, 16, 19, 20, 24, 29, 30, 42 ।
9 1, 2, 5, 17, 22, 23, 28, 37, 38, 44 ।
10 1-11, 13-16, 18, 20, 22, 26, 28, 30, 31, 32, 35-38, 40, 41, 43 46, 59 ।
11 12, 21, 23, 25, 42, 47, 48 ।
12 7, 19, 24, 27, 29, 33, 34, 39, 49 ।
13 1, 4 9 11-14, 16 18, 20, 23-25, 27, 29-31, 33, 34, 36-43, 46 48-53, 55, 56, 58, 61 67, 69-76, 79 80, 82-84, 88, 89, 92-95 97-100, 102-109, 113-117, 119-120, 123 ।
14 2, 5, 7, 10, 15, 17, 19, 22, 26, 32, 54, 57, 111, 118 ।
15 3, 6, 8, 21, 28, 35, 45, 47, 59, 60, 68, 77, 78, 81, 85-87, 90, 91, 96, 101, 103, 110, 112, 122 ।
16 1-4, 6, 8 9, 12, 14, 15 17, 19 21, 22, 24 27, 28, 30, 36, 39, 41, 43, 44, 46, 50, 52, 56-58, 60, 64, 66, 67, 69, 70-71, 73, 75 ।
17. 7, 13, 29, 40, 53, 55, 65 ।
18 5, 10, 16, 18, 20, 23, 25, 26, 37,38 42, 45, 51, 59, 68, 72, 74, 76 ।
19. 1, 7, 9-14, 17-19, 22 30, 34-36, 38, 40, 42-48, 50, 51, 59, 68, 72, 74 76 ।
20. 8, 33, 35, 37, 39, 41, 51, 57, 61 ।
21 2 6, 15, 16, 20, 21, 31, 32, 49, 52, 56, 65 ।

इस प्रकार "देशीनाममाला" एक श्रेष्ठ भाषावैज्ञानिक कोश होने के साथ ही उच्चकोटि की साहित्यिक भावभूमि से भी युक्त है। उपर्युक्त तालिका उदाहरण की गाथाओ मे निहित विषय वस्तु का संकेत दे देने के लिए पर्याप्त है। ये उदाहरण भारतीय साहित्य परम्परा मे लिखे गये किसी भी "सतसई" ग्रन्थ मे आये पद्यो से कम महत्त्वपूर्ण नही हैं यदि 'रयणावली" को भी एक सतसई ग्रन्थ ही कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसके एक एक उदाहरण सचमुच श्रेष्ठ साहित्यिक रत्न हैं। जिस प्रकार हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश भाषा के व्याकरण से सम्बन्धित सूत्रों व्याख्या करते समय उदाहरण के रूप मे उच्च स्तरीय साहित्यिक सौन्दर्य से युक्त दोहे सकलित किये, उसी प्रकार 'रयणावली" मे उन्होने अपनी स्वय की कवित्व-शक्ति के प्रदर्शन एव श्रेष्ठ साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए गाथाए लिखी। अपभ्रंश व्याकरण मे निहित दोहे हेमचन्द्र के अपने नही है परन्तु "रयणावली" की गाथाए उनकी कवित्वप्रतिभा की सम्यग्द्योतिका हैं। ये गाथाए भाषाभाव तथा अलकार आदि सभी काव्यदृष्टियो मे उच्चकोटि की हैं।

इतना सब होते हुए भी पिशेल जैसे मनीषी ने इन गाथाओं के अर्थ सौन्दर्य को देखने की चेष्टा न कर इन्हे अत्यन्त भौंडी और आशयहीन बताया, आखिर इसका क्या कारण हो सकता है। यदि हम इस ओर दृष्टिपात करें तो पिशेल को भ्रांति मे डालने वाली कठिनाई बडी आसानी से खोजी जा सकती है। पिशेल एक विदेशी विद्वान् थे उन्होंने सस्कृत अवश्य पढी थी परन्तु उन्हे लौकिक परम्पराओ और छोटी छोटी अन्य बातो का ज्ञान नही था—जितना कि किसी अन्य भारतीय को बिना प्रयास ही होता है। उन्हे जो भी मूलप्रतिया मिली उनकी तुलना करके अधिकतर प्रतियो मे मिलने वाले पाठ को ही उन्होंने ने मान्यता दी। उन्होंने सम्भवत अपनी ओर से गम्भीरतापूर्वक विचार विमर्श नही किया। अर्द्धशिक्षित पेशेवर लेखको के द्वारा लिखी गयी मूल प्रतिया ही उनके विवेचन का आधार थी। अतएव प्रमादो का हो जाना सर्वथा सम्भव था। अपनी इस कठिनाई को पिशेल ने स्वय भी व्यक्त किया है। दूसरी बात "देशीनाममाला" मे आये हुए "देशीशब्दो" का वातावरण अधिकाशत ग्रामीण है और ग्रामीण जीवन के दैनन्दिन की बातें पिशेल के लिए जितनी कठिन थी उतनी ही "देशीनाममाला" की गाथाए भी।

### देशीनाममाला का महत्त्व

आचार्य हेमचन्द्र का देशी शब्दो का यह सग्रह ग्रन्थ भाषा वैज्ञानिक एव साहित्य दोनो ही दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार हेमचन्द्र का

"सिद्धहेमशब्दानुशासन" परम्परा मे लिखे गये सभी व्याकरणो से पूर्ण एव महत्त्वशाली है उसी प्रकार यह कोश भी अन्य कोशो मे विलक्षण है। यदि यह कहा जाये कि सम्पूर्ण भारतीय क्या विश्व के साहित्य मे इसके समान विलक्षण ग्रन्थ नही है तो कोई अत्युक्ति नही होगी। भाषा विवेचन के साथ ही उच्चकोटि के साहित्यिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही इसकी अपनी विलक्षणता है।

**भाषा वैज्ञानिक महत्त्व ·**

हेमचन्द्र के इस कोश के आधार पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के विकास की सागोपाङ्ग कथा लिखी जा सकती है। आज की प्रचलित साहित्यिक भाषाओ मे कितने ही ऐसे शब्द बिखरे पडे हैं जिनके बारे मे हम कुछ नही जानते। ये शब्द-सदियो से जन-मानस मे अपना स्थान बनाये हुए हैं। इनका प्रत्याख्यान अत्यन्त कठिन है। ऐसे ही शब्दो को परम्परा के सभी विद्वानो ने "देसी" कहकर इनके बारे मे कुछ भी कहने से चुप्पी साध ली है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन्ही कठिन एव दु सदर्भित शब्दो का प्रत्याख्यान अपने इस देशी कोश मे किया है। वे इस बात को कोश के प्रारम्भ मे कह देते हैं—

देशी दु सदर्भा प्राय सदर्भिता अपि दुर्बोधा ।

अनादिकाल से चलते आये देशी शब्दो का सदर्भ देना अत्यन्त कठिन कार्य है। सदर्भ मिल जाने पर भी इनका समझाना अत्यन्त कठिन है। "देशीनाममाला" मे अनेको "देशी" शब्द आये हैं, इसमे आये कुल शब्द 4 हजार के लगभग हैं, परन्तु इसके सभी शब्द देशी नही हैं। इन शब्दो का उद्भव और इनका विकास एक सर्वथा नवीन तथ्य का उद्घाटन करता है। आर्य भाषा मे प्रचलित देशी कहे जाने वाले इन शब्दो मे 700 से भी अधिक शब्द कौल, सथाल, मुण्डा, द्रविड आदि जातियो की भाषा से सदर्भित किये जा सकते हैं। ये शब्द आर्यो और आर्येतर जातियो के आपसी सम्बन्ध और वैचारिक आदान-प्रदान की एक अत्यन्त रोचक कहानी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार तुलनात्मक एव ऐतिहासिक दोनो ही दृष्टियो से इन शब्दो का बहुत महत्त्व है। आधुनिक भाषा विज्ञान आचार्य हेमचन्द्र के इस पथ प्रदर्शक कोश का चिर ऋणी रहेगा। कितने ही भाषा वैज्ञानिको ने इन शब्दो के सहारे अनेको नवीन तथ्यो का उद्घाटन किया है।

**साहित्यिक महत्त्व :**

प्रथम शदी मे आन्ध्र के हाल सातवाहन द्वारा सकलित प्राकृत के अद्भुत काव्य ग्रन्थ "गाथासप्तशती" के समान ही आचार्य हेमचन्द्र की "देशीनाममाला"

भी उच्चकोटि के साहित्यिक सौन्दर्य मे मण्डित है। इसकी उदाहृत गाथाए सरसता भावतरलता एव कलागत सौन्दर्य की दृष्टि मे "गाथासप्तशती" के समान ही साहित्यिक मूल्य रखती है । इसमे शृगार, रति भावना, नख शिख-चित्रण, वनिको के विलासभाव, रणागण की वीरता, सयोग, वियोग, कृपणो की कृपणता, विभिन्न प्राकृतिक रूप और दृश्य नारी की मासल एव मसृण भावनाए तथा नाना प्रकार के रमणीय दृश्य अकित हैं। इन गाथाओ मे स्थान-स्थान पर नीति, उपदेश, सामाजिक-रीतिरिवाज, राजपराक्रम तथा प्रेमी-प्रेमिकाओ की विलास लीला वर्णित मिल जायेगी। विश्व की किसी भी भाषा के कोश मे इसके समान सरस पद्य उदाहरण के रूप मे नही मिलते। कोश मे आये हुए कठिन देशी शब्दो को समझाने का जो सरल मार्ग हेमचन्द्र ने अपनाया है वह सर्वथा नवीन और हेमचन्द्र की मौलिक प्रतिभा का दिग्दर्शक है।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की "देशीनाममाला" या "रयणावली" यदि भाषा विज्ञान की दृष्टि से मूल्यवान् शब्दो की खान है तो साहित्य की दृष्टि से एकत्र बहुमूल्य पद्यरत्नो की निधि है।

---

# 3

# रयणावली (देशीनाममाला) का साहित्यिक अध्ययन

आचार्य हेमचन्द्र कृत रयणावली (देशीनाममाला) भारतीय आर्य भाषा की एक अमूल्य भाषा वैज्ञानिक कृति होने के साथ ही इस परम्परा की प्राकृत भाषाओ की एक बहुमूल्य साहित्यिक निधि भी है। इस कोशग्रन्थ मे सकलित 'दृश्य' शब्दो को कण्ठस्थ करने तथा उनके प्रयोग को दिखाने की दृष्टि से आचार्य ने पूरे ग्रन्थ मे कुल 634[1] गाथाओ की रचना की है। ये गाथाए सरसता, भावतरलता एव काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि मे अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। साहित्यिक सौन्दर्य और ऐहिकतापरक अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन गाथाओ की समता 'गाहासत्तसई' तथा परम्परा की अन्य कृतियो से की जा सकती है। ग्रन्थ मे गाथाओ की सख्या भी इस मान्यता को दृढ बनाती है। हो सकता है आचार्य हेमचन्द्र ने इन गाथाओ की की रचना गाहासत्तसई जैसे ग्रन्थो को ध्यान मे रखकर किया हो। जहा तक विषय वस्तु और उसके वातावरण का प्रश्न है, यह बात सर्वथा उपयुक्त है। स्वय आचार्य द्वारा दिया गया इस कोशग्रन्थ का 'रयणावली' (रत्नो की माला) नाम भी इसी तथ्य की ओर सकेत करता है। सचमुच 'रयणावली' की अनेको गाथाए गाहासत्तसई और गोवर्द्धन कृत 'आर्यासप्तसती' के पद्यो के समान ही भावप्रवणता और उच्चकोटि की साहित्यिकता से युक्त हैं। सारे विश्व के किसी भी कोशग्रन्थ मे इतने

1. उदाहरण की सभी गायाए हेमचन्द्र कृत नही हैं। कुछ गाथाए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती देशीकारो की रचनाओ से लिया है। इस दृष्टि से छठे वर्ग की 78वी गाथा तथा 8वें वर्ग की 14वी गाथा विशेष उल्लेखनीय हैं।

उच्च कोटि के साहित्यिक उदाहरण देखने को नही मिलते। इन गाथाओ को देखकर आचार्य हेमचन्द्र के लोकज्ञान और उनकी गम्भीर कवित्व प्रतिभा मे चकित रह जाना पडता है। आचार्य हेमचन्द्र की यह साहित्यिक अभिरुचि उनके अपभ्रंश व्याकरण मे भी देखी जा सकती है। परन्तु वहा आये हुए सरस पद्य उन्होने अनेको कवियो की रचनाओ से लिये थे। 'रयणावली' के उदाहरणो मे उनकी उच्चकोटि की मौलिकता सम्पन्न प्रतिभा उभर कर आयी है। उदाहरण की इन गाथाओ मे ऐहिकता परक शृंगार, रतिभावना, नख-शिख चित्रण, रणागणगत वीरता, प्रकृति के सुन्दर मनमोहक चित्र तथा विविध लोकव्यवहारो एव उत्सवो का चित्रण हुआ है। इन गाथाओ मे निहित एक-एक चित्र अपने आप मे अत्यन्त भाव तरल एव प्रभावकारी है।

'रयणावली' की गाथाओ की विषय वस्तु

विषय वस्तु की दृष्टि से 'रयणावली' के पद्यो को तीन कोटियो मे रखा जा सकता है—

(1) लौकिक प्रेम और शृंगार से सम्बन्धित पद्य।

(2) कुमारपाल की प्रशस्ति से सम्बन्धित वीर भावना के उद्भावक पद्य।

(3) विविध लोकाचारो, सामाजिक एव नैतिक नियमो, देवी-देवताओ तथा भिन्न-भिन्न प्रादेशिक रीति-रिवाजो व अन्धविश्वासो से सम्बन्धित पद्य।

(1) लौकिक प्रेम और शृंगार से सम्बन्धित पद्य—

'रयणावली' का कवि लौकिक प्रेम और शृंगार-भावना का पटु उद्भावक है। पूरे ग्रन्थ मे इस कोटि के पद्यो की सख्या ही अधिक है।[1] इन पद्यो मे निहित शृंगार, सयोग, वियोग, विपरीतरति तथा हालिक युवक युवतियो की उन्मुक्त प्रेम-क्रीडा अत्यन्त विशद एव कलात्मकता से युक्त है। गाहासत्तसई के पद्यो की भाति इसके पद्य भी ग्रामीण जीवन की तरल शृंगारिक अनुभूतियो को प्रश्रय देने वाले हैं। रात-दिन परिश्रम मे रत रहने वाले कृषक युवक युवतियाँ, धनी वर्ग के विलासी पुरुष-स्त्रियाँ तथा वेश्याओ और नगरवधुओ की उन्मुक्त कामक्रीडाओ का स्पष्ट अकन स्थान-स्थान पर हुआ है। 'रयणावलीकार' स्त्रियो और पुरुषो की स्वच्छन्द काम-क्रीडाओ को चित्रित करने मे कही भी हिचकते नही। उन्मुक्त काम-भोग और

---

1 विशेष विवरण के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है।

विपरीत रति आदि के चित्रण मे कवि अत्यन्त यथार्थवादी है। अब यहा एक-एक का अलग-अलग विवेचन समीचन होगा।

सयोग वर्णन

'रयणावली' के सयोग-चित्र अत्यन्त मासल, स्पष्ट और उभरे हुए हैं। स्थान-स्थान पर सभोग क्रिया मे रत नायक और नायिकाओ की चर्चा हुई है। इन चित्रो मे ग्रामीण जीवन की समस्त काम-भावना साकार हो उठी है। कुलटाओ, निम्न वर्ग की स्त्रियो और वेश्याओ के स्पष्ट एव उभरे हुए सभोग चित्र तो सर्वथा दर्शनीय है। सयोग के अधिकतर चित्र विशेषत अन्य पात्रीय कथन और दूतीवचनो के रूप मे चित्रित किये गये है। रयणावली के कुछ सयोग चित्रो का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

नायक और नायिका आगे-पीछे चले आ रहे है। नायक प्रसन्न और (कामावेग के कारण) आरक्तमुख दिखाई दे रहा है। नायक की इस प्रसन्नावस्था का चित्रण कितना व्यजनापूर्ण है—

'अम्माइआइ दिण्णवहेअ तुह रे अवत्थरा रिहइ ।
णावन्निय ज जावय रसेण त किसलिओ असोउव्व ॥ 1-22-20 ॥

'युवक ! अवश्य ही तेरे पीछे-पीछे आने वाली युवती ने तुझे अपने महावर भरे पैरो से ठोकर मारी है जिसके कारण तू अशोक वृक्ष के समान प्रफुल्लित हो उठा है।'

नायक की प्रसन्नता का कितना व्यजनापूर्ण कारण बताया गया है। मान की अवस्था मे नायक निश्चित ही नायिका के चरणो पर लोटा है तत्पश्चात् उसके प्रसाद से आह्लादित और हरा-भरा तथा आरक्त मुख दिखायी पड रहा है। यह तो एक अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यिक रूढि है कि अशोक मे पुष्प तभी आते हैं जब कोई मदसिक्त नवयौवना अपने आलक्तक भरे चरणो से उस पर प्रहार करती है। इसी रूढि का सहारा लेकर नायक की प्रसन्नता और उसके तमतमाए हुए मुख के रग का वर्णन कितना व्यजनापूर्ण है।

जगल मे नायक-नायिका क्रीडारत हैं। क्रीडा के बीच नायिका के गले मे पहना हुआ ग्रैवेयक टूट कर गिर पडा, कचुकी फट गयी। यह देखते ही रति तृषित नायक ग्रैवेयक को उठाकर छिपा लेता है।[1] कितना मासल और उत्तेजक सयोग-चित्र है।

---

1. दे० ना० मा०, 2।94।79

खेत की रखवाली करती हुई गोपबाला का एक उभरा हुआ सभोगचित्र द्रष्टव्य है—

उम्हाविअ उलुहलिअय वयम माणेमु तत्य गन्तूण ।
उच्छुरणेमोज्जिगिग्ओच्छुअरण गोविआउ उवललय ॥ 1-117-101 ॥

सभोग कर लेने के बाद भी अतृप्त रहता हुआ समवयस्क पुरुष, अत्यन्त त्रस्त हुई ईख की रखवाली करने वाली गोपिका के साथ, ईख के खेत मे अनिद्रिन मैथुन क्रिया मे रत है।"

इसी प्रकार के अभिसार के अनेको मादक चित्र 'रयणावली' की अपनी निधिया हैं। कुलटा स्त्रियो का अभिसार चित्र द्रष्टव्य है—

खुपा खुण्ण तणूओ खर खुवयप्फाडिअन्त खलुहाओ ।
वामारत्ते कुलटाउ खुट्टिअत्य अहिसरन्ति ॥ 2-75-63 ॥

वृष्टि के निवारणार्थ तृण के आवरण मे वेष्टित, अत्यन्त तीक्ष्ण एव कटीले तृणादि से बिंधे हुए शरीर वाली कुलटाए रात-दिन मैथुन करती हुई अभिसार कर रही हैं।' एक अन्य कुलटा मच्छर आदि से युक्त सूखे वृक्ष के नीचे पलकें बन्द किये एक अधम स्वर्णकार के साथ अभिसार रत है।[1] इसी प्रकार कुलटाओं के अभिसार के अनेकों सजीव चित्र 'रयणावली' मे देखे जा सकते है। ऐसे चित्रो मे प्राय निम्न-वर्ग के नायक और नायिकाओ की ही प्रधानता है.

नायक गोप की छेड़-छाड से घबराई हुई गोपबाला खीझकर कहती है—

मा कड्ड वजर मह ववहिअवच्छीव रुववेटुल्ल
ओपेच्छइ कुडिलच्छी वहुणिआ म मउत्तवत्तारा ॥ 7141135

'रूपगर्वित मत्तगोप मेरी नीवी मत खीच। स्वरूपगर्विता मेरी ज्येष्ठभार्या कुटिल आखो मे देख रही हैं।'

प्रिय मिलन के लिए आकुल एक ग्रामीण नववधू का चित्र तो सर्वथा सराहनीय है—

णववत्यउत्य वक्वारयम्मि वल्लादयल्ल पल्लड के ।
लुढिआ णिएइ वद्धाविअण्णकज्जा वहू दइअमग्ग ॥

"घर का सारा कार्य समाप्त कर-नवीन वस्त्रो से युक्त होकर, सुन्दर-शैया से युक्त रति-गृह मे वधू पति का मार्ग देखते हुए उलट पुलट कर रही है।"

---

1. दे० ना० मा० 3150-42

एक स्थान[1] पर नवविवाहिता वधू की सखियाँ उसे प्रथम मिलन के समय प्रिय को वक्र दृष्टि से देखने की शिक्षा देती हैं।

रति के स्थान चित्रों के अतिरिक्त संयोगशृंगार के अन्तर्गत आने वाली अन्य बातों—दूतीवचन, अभिसार तथा विविध क्रीडाओं आदि का वर्णन भी 'रयणावली' के शृंगारपरक पद्यों में हुआ है। नायक और नायिका को संकेत स्थल तक ले जाने का पुनीत कार्य दूतिका ही करती आयी है। इस दृष्टि से भी कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं। एक दूती संकेत स्थल पर नायक के उपस्थित होने की बात प्रेमिका को बतलाती हुई कहती है—

खाणुल्लिगाह खालाजलकुल आउरहिअगिरिणिअम्ब ।
खाणिणाजालि तुह कारणे अडविमउउ सो तुण्णो ॥1।61।49

"ठूठों और विच्छुओं आदि से युक्त झाड़ियों, जल रहित नदियों और पर्वतीय शून्य जंगल में वह तिर्यक सुरति का ज्ञाता नायक तेरे लिए घूम रहा है।" एक अन्य दूती ग्रामाधिपति के पुत्र की ओर से नायिका को संकेत स्थल पर जाने के लिए तथा उससे प्रेम करने के लिए समझाती हुई कहती है—

कुडिलपुत्तो कुडगा कुडगए भमइ तुज्झ अणुरत्तो ।
कुडयकुड्डुअ पिअ णेच्छसि ज कुक्कुडा सि त पुत्ति ॥2।40।37

"तुझ पर अनुरक्त ग्रामाधिपति का पुत्र एक लता गृह से दूसरे लतागृह में घूम रहा है। अत्यन्त कृश उसे चर्मकार की भांति मानती हुई जो नहीं देख रही हो तो हे पुत्री! क्या उन्मत्त हो गई हो।' इसी प्रकार प्रिय मिलन के हेतु धार्मिक अनुष्ठान करती हुई एक नायिका को संकेतस्थल का संकेत देती हुई दूती बताती है कि वह नायक भी उससे मिलन हेतु सप्तच्छदपुष्प के नीचे मृगचर्म डाल कर अनुष्ठान कर रहा है। अर्थात् नायिका को सप्तच्छदपुष्प के वृक्ष के पास जाना चाहिए।[2]

एक दूती नायक के प्रति नायिका के प्रगाढ प्रेम का चित्रण करती हुई उससे (नायक से) कहती है—

णिस्सक कामसरणिक्खया इमा सिविणिए तुम दट्ठु ।
णिम्मसुअ-णिव्वित्ता णिब्भुग्ग मणोरहा होइ ॥ 3।33।32

---

1. दे० ना० मा० ॥ 8।65।58
2. वही, 3।21।25

'हे तरुण निश्चय ही स्वप्न मे तुम्हे देखते हुए वह कामवाणो से आहत होती रहती है (परन्तु) सोकर उठने पर भग्न मनोरथा हो जाती है ।'

इन कुछ प्रमुख एव उल्लेखनीय पद्यो के अतिरिक्त और भी अनेको पद्यो मे दूतियो और उनके माध्यम से नायक-नायिकाओ के सयोग के सुन्दर चित्र मिलते हैं । रयणावली के दूतीवचनो और एतदर्थ चित्रित प्रेम प्रसगो मे प्राय अभिधेयता का ही बोलवाला है । 'गाहासत्तसई' 'आर्यासप्तसती' 'अमरुशतक' तथा रीतिकालीन ग्रन्थो की भाति इसके पद्यो मे प्राय प्रतीयमानता नही है । 'रयणावली' का शृ गार-चित्रण सामान्य वर्ग के नायक-नायिकाओ से सम्बन्धित है, अत उसमे भगिमा नही है । यद्यपि इसमे हेमचन्द्र के कवित्व पर कोई प्रभाव नही पडा है फिर भी देशी शब्दो का उदाहरण प्रस्तुत करने के चक्कर मे वे अधिक रहे हैं । भावो की अतिशयता के द्योतन मे कम ।

### विविध नायिकाएं और उनके अभिसार चित्र

'रयणावली' के शृ गारिक पद्यो मे अभिसार के ही चित्र अधिक है । इसमे चित्रित नायिकाओ को शास्त्रीयता के आधार पर व्याख्यायित करना भी कठिन होगा । क्योकि यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि हेमचन्द्र का उद्देश्य भाव-गर्भित पद्यो की रचना करना न होकर देशी शब्दो का उदाहरण देना रहा है । इन उदाहरणो के सयोजन मे कवि ने उच्च कोटि के भावात्मक पद्यो की रचना की है । यह बहुत कुछ अप्रयतित ही लगता है । 'रयणावली' की नायिकाए गाव की सावारण कृपक एव गोप बालाए हैं । इनके अतिरिक्त कई जगह कुलटाओ और वेश्याओ की भी चर्चा हैं । गोपवन्धू का एक अत्यन्त मादक-चित्र द्रष्टव्य है —

उअचित्ताए उअहारीए मग्गोरुमिल्लणयणाए ।
उरुसोल्ल ऊरवसणो तरुणाए कुणइ उवउज्ज ॥ 1।92।108

'दोहन कार्य मे निवृत्त, मार्ग की ओर दत्त दृष्टि, दूध दुहने वाली स्त्री के जघन वस्त्र को प्रेरित कर वायु तरुणो पर बहुत बडा उपकार कर रहा है ।' कुलटा स्त्री का एक चित्र देखने योग्य है—

ताडिअयपर वाल कुलडा तालाइ भोलविअ जाइ ।
तारत्तरेण तामरतामरसे सरिअ तूहम्मि ॥ 5।10।10

'रोते हुए बच्चो को लाजा (लावा) आदि से फुसलाकर-कुलटा स्त्री सूर्य के डूब जाने पर नदी के किनारे (अभिसार हेतु) जाती है ।

इसी प्रकार वेश्याओ[1] नागरब्राह्मणो की वधुओ[2] तथा हालिक (कृषक) युवतियो के अनेको मादक चित्र देखे जा सकते है। नायको मे सबसे अधिक चर्चित ग्रामाधिपति तथा ग्रामाधिपति का पुत्र, यही दोनो रहे है।

अन्य नायको मे नाई, माली, कृषक तथा गोप आदि की चर्चा हुई है। शास्त्रीय दृष्टि से, कृष्णाभिसारिकाओ और शुक्लाभिसारिकाओ के चित्र भी दुर्लभ नही है। अन्धेरी रात मे छिपकर देवमन्दिर मे उपपति के साथ अभिसार के लिए जाने वाली नायिका का चित्र दर्शनीय है—

तिमिरोत्थगणिसाए उम्मर उच्छिन्नखलण उब्भन्ता।
उच्छुपच्चज्जभालओ उग्र असई विसइ चण्ड देवउल ॥1।79।95

'तिमिरावगुण्ठित निशा मे, गृह की देहलीज पर ही भेद खुल जाने से उद्भ्रान्त, भयपूर्वक चोरकर्मरत की भाति वह असती मन्दिर मे प्रवेश करती है।'

सकेअमागए उववइम्मि दूईइ झत्ति सनविग्रा।
अहिमरइ णायरवहू णेड्डुरिआदसणमिसेण ।4।46।45

'सकेत स्थल पर उपपति के आ जाने पर दूती द्वारा शीघ्र बनायी गयी नागरबधू भाद्र शुक्लपक्ष की दशमी को मनाये जाने वाले उत्सव विशेष को देखने के बहाने अभिसार के लिए जाती है।'

एक हलवाई की पत्नी दिन मे ही कुसम्भी वस्त्र धारण कर 'पोई' (लता विशेष) के वन मे उपपति के साथ रमण करने जाती है—

पोइअ चुण्टण मिसओ पोइअ वणम्मि पोइअ घरिल्ली।
पोलच्छेअ कण्ठे सुपोमरा पेच्छ अभिसरइ ॥

'निद्रा करि लता पोई को तोडने के बहाने पोई के वन मे जोते हुए खेत के किनारे, कुसुम्भी लालरग का वस्त्र धारण किये हुए हलवाई की पत्नी अभिसार कर रही है।'

शुक्लाभिसारिका का एक अन्य रमणीय चित्र द्रष्टव्य है—

भल्लूसरिच्छवेसे पइम्मि अलसे सयालए भभी।
चन्दणरसभग्गतणू उववइमहिसरइ जुण्हीए ॥6।84।99

भालू के सदृश बिखरे बाल वाले, अलसमान पति के सो जाने पर, चन्दन के रस से लिप्त शरीर वाली असती चादनी रात मे उपपति के साथ अभिसार करती है।'

---

1 दे० ना० मा० ॥4।13।13

2 वही ॥4।46।45

इन सबके अतिरिक्त दिन के उजाले मे ही छिप-छिप कर उपनायकों के साथ सम्भोग करने वाली नायिकाओ के अनेकों चित्र देखे जा सकते हैं। एक नायिका नदी के किनारे धूप मे ही उपपति के साथ सम्भोग मे रत है।[1] ईख के खेत, गोष्ठ तथा कुज आदि मे होने वाली उन्मुक्त अभिसार लीलाओ का तो कहना ही क्या। यहा एक बात स्पष्ट कह देना आवश्यक है, रयणावली के शृ गारिक पदों का अधिक भाग सम्भोग चित्रो को ही व्यक्त करने वाला है। शृ गारिक हाव-भाव तथा अन्य कामोत्तेजक चेष्टाओ पर अधिक बल न देकर कवि सीधे-सीधे अत्यन्त स्थूल और मासल समोग चित्रो के ही अकन मे दत्तचित्त रहा है। अधिकतर नायक नायिकाओ के ग्रामीण अपटु और अशिक्षित होने के कारण उनकी चेष्टाए भी इसी के अनुकूल है। कुल मिल कर यह कहा जा सकता है कि 'रयणावली' के शृ गार चित्र इस परम्परा की अन्य कृतियो के जोड मे अत्यन्त स्थूल और कामोत्तेजक है। किन्ही-किन्ही पद्यो मे तो रतिक्रिया भी साकार हो उठी है।[2] सुरतगता नवोढा वधू का एक स्पष्ट चित्र द्रष्टव्य है—

आयासतलोवरि वल्लहम्यचरिअ वयसि णिण्हवमु ।
आणदवडो आयासलवट्ठिअमारिआ य त कहइ ॥ 1-60-72 ॥

'घर के हर्म्य पृष्ठ मे बैठी हुई नववधू सखियो से अपने वल्लभ (पति) के चरित का गोपन कर रही है। किन्तु हर्म्य पृष्ठ पर फैले हुए रुधिर—रजित वस्त्र स्वय ही सब कुछ कह देते हैं।

ऊपर दिये गये कुछ उदाहरणो से 'रयणावली' मे निहित शृ गार के पद्यो की मूलभावधारा स्पष्ट हो जाती है। जहा तक इसके शृ गार-चित्रण के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है, इसकी तुलना लोकभाषा मे रची गयी शृ गारिक कृतियो से की जा सकती है। परन्तु कम से कम इस परम्परा की अन्य कृतियो से भावग्रहण की प्रवृत्ति इस रचना के कवि मे नही दिखायी पडती। इस विवाद की चर्चा आगे समुचित प्रसग मे की जायेगी।

### मादक सौन्दर्य-चित्र

ऊपर 'रयणावली' के कुछ सम्भोग चित्रो को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके सम्भोग चित्रो की भाति इसके सौन्दर्य-चित्र भी अतिस्थूल मासल एव कामोत्तेजक हैं। सौन्दर्य वर्णन के प्रसगो मे कवि जितने भी चित्र खीचता है।

---

1. दे० ना० मा० 4।27।27
2 वही 1।44।45

वे अत्यन्त उभरी हुई रेखाओ और चटकीले रगो से युक्त हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं —

एक नवांग सुन्दरी ललना का वर्णन करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं—

घणिअथमलयलकलस वुत्तणिअम्ब घरग्गसिअ हसिअ ।

घणिन नहिअ जुआणो मण्णइ घण्णाउगत्तण सहल ।। 5।46।58

'अत्यन्त पुष्ट और विस्तीर्ण कलश के समान स्तनो, अतिविस्तृत नितम्ब, कपास के समान स्वच्छ हसी वाली प्रिया को देखकर युवक स्वय को आशीर्वाद युक्त एवं सफल मानते हैं।'

उच्चनाभितल वाली गौरागी नायिका मनुष्य रूपी मृगो को आकर्षित करने के लिए गोधूम की कृषि के समान है —

कुन्तलउड्डुग्गोण जणणयणमिगाण उत्खाय व ।

मयणेण उरे रइय तुह उच्च उ बि गोरगि ।।1।68।86

'केशराशि तृणो का धोखा है। नयन मनुष्य रूपी मृगो के बन्धन के लिए जाल हैं। प्रारम्भ मे ही कामदेव द्वारा रचित है उच्चनाभितल वाली गौरागि! तुम पके हुए गोधूम की (फसल की) भाति हो। स्त्री-सौन्दर्य का कितना आलकारिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। गौरागी नायिका को कामदेव की कृषि बताना अपने आप मे अत्यन्त मौलिक एव दुर्लभ कल्पना है। एक अन्य स्थान पर हेमचन्द्र सुन्दरी रमणी को कामदेव की जीवक मृगी बताते हैं। जिस प्रकार बहेलिया मृगो को आकृष्ट करने के लिए जगल मे अपनी पालतू मृगी को बाध देता है और जब मृग उससे आकृष्ट होकर उसके पास आता है तब बहेलिया उसका शिकार कर लेता है। उसी प्रकार सुन्दरी रमणी भी कामदेव रूपी व्याध की जीवक मृगी है, जिसे उसने युवक रूपी मृगो को आकृष्ट करने के लिए छोड रखा है—

जालन्तडिआइ जात ण णिअसि जीवयमइ व मयणस्स ।

ता भम हरिणोव्व तुम कुलडाजिण्णोब्भवाउ जिग्घन्तो ।।

'कामदेव की जीवकमृगी के समान चन्द्रशाला मे स्थित उसे (नायिका को) नही देख रह हो तो जाओ तुम हरिण के समान कुलटा रूपी दूर्वाओ को सूघते हुए घूमो।' 'रयणावली' के समस्त नख-शिख वर्णनो मे नितम्ब, कटि, नाभि, स्तन, मुख, नयन और केशो का ही वर्णन प्रमुख है। कमल के समान आखो वाली सिंह कटि एक रमणी रात मे पति के सो जाने पर अभिसार के लिए जा रही है।[1]

1 दे० ना० मा० 8-1-1

एक सकेत प्राप्ता पीन पयोधरा बाला गोदावरी ह्रद की ओर अभिसार के लिए जाती है।[1] कुछ स्थलो पर हेमचन्द्र ने नायिकाओ के स्तनो की उपमा चक्रवाक पक्षियो से भी दिया है। एक स्थान पर वेश्याओ के सौन्दर्य की भर्त्सना करते हुए हेमचन्द्र तरुणो को उनसे बचने की सलाह देते हैं—

> सूअरिअसूरणासणसूलाए लिहिअ सूइगण्डाए।
> मयरद्धय सूरगे मा त सलहोव्व रे पडसु ॥

'यन्त्र की पीडा तथा सूरन के भोजन के समान पूर्वाघ्रात मन्जरी सदृश कपोलो वाली तथा कामदेव के दीपक के समान प्रज्वलित वेश्या (के जाल) मे (हे तरुण!) पतिगे के समान न पड।' इसी प्रकार गुजरात के कच्छ नामक स्थान की कुलटाओ या वेश्याओ के कटाक्ष का वर्णन करते हुए हेमचन्द्र उपदेशात्मक रूप मे कहते हैं—

> कूसारखलन्तपओ के उकए पहिअ मा भमसु कच्छे।
> ज केलीए कूणिअ पेच्छिअकेआण पडसि पासेसु ॥ 2।47।44 ॥

'पथिक तू गड्ढो से युक्त एव किचड़ैले कच्छ के मार्गो पर भ्रमण मत कर, वरना कुलटाओ की ईषन्मुकुलित दृष्टि द्वारा किये गये कटाक्षो के जाल मे जा पड़ेगा।'

मादक सौन्दर्य चित्रो से युक्त, उपर्युक्त प्रसगो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि रयणावली का सौन्दर्य वर्णन तथा नख शिख चित्रण अत्यन्त भावतरल एव रमणीय है। कवि की मौलिक कल्पनाओं को देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि यदि उसने स्वतत्र रूप मे पद्य-बद्ध नख-शिख चित्रण-प्रस्तुत किया होता तो निश्चित ही अत्यन्त सफल रहता। हेमचन्द्र के सौन्दर्य वर्णन की यह पद्धति परवर्ती अपभ्र श मे लिखे गये काव्यो के सौन्दर्य चित्रो मे स्पष्ट ही देखी जा सकती है। चू कि 'रयणावली' का सारा वातावरण ही ग्रामीण है अत उसकी उपमाए भी नागर न होकर ग्रामीण ही हैं। सौन्दर्य वर्णन की किसी परिपाटी विशेष को स्वीकार कर न चलने के अन्तराल मे भी यही तथ्य निहित है।

'रयणावली' का वियोग-चित्रण —

'रयणावली के सयोग चित्रो की भाति इसके वियोग-चित्र भी उच्चकोटि की साहित्यिकला एव कलात्मकता से युक्त है। साहित्यिक दृष्टि से वियोग के दो प्रमुख विभागो मान और प्रवास दोनो ही का विशद वर्णन हुआ है। 'रयणावली' के कुछ वियोग-वर्णन तो इतने उच्च कोटि के है कि उनकी समता के अन्य चित्र दुर्लभ हैं।

---

1. दे० ना० मा० 8-17-14

विरहताप का वर्णन तो अपने आप मे अत्यन्त कलात्मक है । अब वियोग की दोनो स्थितियो का विवरण अलग-अलग दे देना समीचीन होगा ।

मान

परकीयानुरक्त नायक से क्रुद्ध होकर स्वकीया मान करती है । उसको सखी समझाते हुए कहती है—

पसिय सहि किमिह जुत्त चिर अवपुसिए पियम्मि अवच्छुरण ।
कायव्वमच्छियडरण अण्णोनरिआवराहस्स ।। 1।38।39 ।।

"हे सखि ! प्रसन्न होओ ! चिरकाल से सयुक्त होकर रहने वाले प्रिय के प्रति तुम्हारी कोपपूर्ण भगिमा उचित नही है । अपराध की सीमा को अतिक्रान्त कर जाने पर भी (तुम्हें उसके अपराध की ओर से) आख मू द लेना चाहिए ।" स्वकीया के मान का एक अन्य रमणीय वर्णन देखने योग्य है । पति अन्य मे आसक्त है इस बात को जानकर कृष्णसारमृग के समान सुन्दर आखो वाली नायिका, ताम्बूल भाजन मे रखे हुए बीडे को उठाने के बहाने परामुखी हो जाती है ।[1] नायक के दुष्कर्मो से दु खी स्वकीया उसे फटकारते हुए कहती है—दुष्ट ! मूर्ख ! उस कलहशीला के केशबन्ध मे पुष्पो का आमेल (चूडा) पहनाने वाले ! अब मैं तेरे योग्य नही हू ।[2] इस प्रकार मान के और भी कई प्रसग[3] इस ग्रन्थ के पद्यो मे ढू ढे जा सकते है । जितने भी मान के प्रसग हैं प्राय सभी स्वकीया से ही सम्बन्धित है । कुछ प्रसग दूतियो के माध्यम से मान के चित्रण के भी हैं, परन्तु उनका कोई विशिष्ट साहित्यिक महत्त्व नही है ।

प्रवास और विरहताप

'रयणावली' के वियोग चित्रणो मे प्रवासजन्य विरहताप का वर्णन अत्यन्त विशद और व्यजनापूर्ण है । विरह के इन प्रसगो की छाया परवर्ती हिन्दी रीतिकाव्य पर स्पष्ट ही देखी जा सकती है । विरह के इन पद्यो मे ऊहाओ की भी कमी नही है । प्रवासजन्य विरहताप से सम्बद्ध कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं ।

वियोग की अवस्था मे विरहताप से तापित नायिका का वर्णन करती हुई दूती नायक को बताती है कि वह स्त्री पान और कमल के पुष्पो पर कुपित हो जाती

---

1 दे० ना० मा० 4।12।12
2. वही 5।40।47
3. वही 1।37 38

है। इस अवस्था मे उसके लिये तुम्हीं सबसे सुखद वस्तु हो।[1] बहुत दिनो के प्रवास के बाद नायक घर लौटा। उसे नायिका की सखी रोती हुई मिली। रोने का कारण पूछने पर वह बताती है कि दुराशय! मैं इसलिए रोती हूँ कि तू विवाह करके प्रवास को चला गया और उस बाला ने विरह रोग सह न पाने के कारण, स्वस्थ होते हुए भी कुए मे कूदकर आत्महत्या कर ली।[2] एक दूती नायक को बताती है कि तुम्हारे गुणों द्वारा चुराये गये मन वाली तथा विरह के कारण अति कृशकाय, काम द्वारा आक्रान्त, वह तन्वङ्गी तुम्हारी अनुपस्थिति मे उद्विग्न होकर सभी सखियो को तिरस्कृत करती है।[3] नष्ट जीवनेच्छावाली कम्बुग्रीवा एक नायिका विरह मे इतनी तापित है कि उसे शिशिर ऋतु के ठण्डे दिन भी खौलने वाले लग रहे हैं।[4] प्रवासी नायक के विरह मे हँसी छोडकर उभयपक्षाघात से अस्थिर रुदन के कारण अवरुद्ध गले वाली नायिका ने सखियो का भी रुलाते-रुलाते कण्ठावरोध करा दिया है।[5]

विरहज्वर से पीडित नायिका शीतदायक वस्तुओं को भी नहीं सहन कर पाती। वह रात मे भोजन को सूघती भी नहीं—

गाह ओग्घइ कमल ओल्डग्र ण सहए जलद्द पि।
ओवट्टिएहि ओआअवे वि ओसिहए ण सा असणं ॥1-130-162॥

'कमलो को नही सूघती, अगो मे लगे हुए कपूर को भी नहीं सहन कर पाती। खुशामद करने पर भी सायकाल वह भोजन को सूघती तक नहीं।' इतना ही नहीं केले की छाल एव कमल पुष्पो की शैया भी उसके लिये केंवाच के समान दुःखदायक है, बिस्तर पर वह बिजली की तरह अस्थिर होकर तडपती रहती है—

कयली छल्लि छकुडमम्बुजछद्दि पि छुछुइ मुणइ।
छलिएण छट्टलपिआ तेण विणा छटचलेण छप्पणा ॥3।20।24

'बिजली के समान तडपती हुई अस्थिर गतिवाली एव विदग्ध प्रिय के द्वारा छली गयी प्रिया, उसके बिना केले की छाल एवं कमल की शैया को भी केंवाच के समान दुःखदायी मानती है।'

---

1 दे० ना० मा० 1।34।36
2 वही 1।46।47
3. वही 1।96।112
4 वही 1।89।105
5. वही 1।110।142

गधर्व विवाह के समय ही नायक द्वारा उपभुक्त वर्तुलाकार स्तन वाली विरहिणी नायिका की आखो से नित्य आसू की पनारिया बहती रहती है।[1] 'रयणावली' के कुछ वियोग वर्णन अत्यन्त मार्मिक और प्रतीयमान अर्थ से युक्त है। एक स्थल द्रष्टव्य है—

दूती विरह से त्रस्त कृशकाय नायिका की दशा का चित्रण करती हुई नायक से कहती है—

अइतल्लगारिय पेम्मय तुह विरहे तीइ इत्थ तडफडिअ ।

तवकुसुमस्स मूले ओपडिया मुद्दिया कहइ ।।5।9।9।।

'निर्दयप्रेमतरुण ! तेरे विरह मे वह बाला कितना छटपटाई थी, यह कुरवक वृक्ष के मूल मे पडी हुई उसकी अगूठी बताती है।' विरहजन्य छटपटाहट के बीच अतिकृश हो गयी नायिका के हाथ की अगूठी का गिर जाना स्वाभाविक ही है। यहा विरह के अतिरेक और तज्जन्य कृशता का कितना कलात्मक उल्लेख है। प्रिय के विरह मे गडी हुई लकडी की भाति खडी रहकर नायिका ने जैसे तैसे रात बितायी। उसकी सखी चिन्ता करती है। रात तो बीती सुबह क्या होगा ?[2] प्रिय के अग्नि के सदृश प्रस्फुरित विरह से, पल्लव की शैय्या पर लेटी हुई तथा आसुओ से भीगे हुए स्तनो वाली नायिका, रात-दिन जलती रहती है।[3] कितना विरोधाभास सा लगता है, पर बात तो सच ही है, विरहाग्नि एक ऐसी अग्नि है जो तन को जलाती है, पर उसकी लपटें नही दिखायी पडती। फिर कृत्रिम साधनो से उसे शमित ही कैसे किया जा सकता है, फिर भी विरहाग्नि मे जलती हुई नायिका की शान्ति के लिए उसकी शुभचिन्तक सखिया कुछ न कुछ उपचार तो करना ही चाहती है, यद्यपि ये उपचार भी विरहिणी के लिए शामक कम उत्तापक अधिक होते हैं। हेमचन्द्र की ऐसी ही एक वियोगिनी नायिका, नौकरानी को कृत्रिम उपचारो के करने से मना करती हुई कहती है—

किं परिहण जलोल्लसि सयणे किं करसि कमलपडिवेस ।

कुणसि पचत्तरणिउणे पडिच्छिए हिअयसल्लपरिहट्टिं ।।6।24।21।।

"परिधान को क्यों जलार्द्रकर रही है, शैय्या पर कमल पुष्प क्यो डाल रही है, चाटुकारिता मे निपुण प्रतिहारी तू हृदय की पीडा के आकर्षण (की वस्तुए ) जुटा रही है।" हेमचन्द्र के इस पद्य की तुलना बिहारी सतसई के अग्रलिखित दोहे से की जा सकती है—

---

1. दे० ना० मा० 4।40।39
2. वही 6।18।16
3. वही 6।23।20

अरे परे न करे हियो खरें जरे पर जार ।
लावति घोरि गुलाव सो मिले, मिले घनसार ।।[1]

यहा यद्यपि उपचार की वस्तुए भिन्न हैं परन्तु दोनो विरहणियो की मनोवृत्ति मे पर्याप्त समानता है । इसी प्रकार हेमचन्द्र ने एक अन्य पद की भी तुलना विहारी के एक दोहे की जा सकती है । नायिका की सखी नायक से उसके (नायिका के) विषम विरहताप का वर्णन करती हुई वताती है —

सपत्तिग्राइ सण्णत्तिग्रम्मि तुज्झ विरहग्गिणा हिग्रए ।
सच्चेविग्राउ माला सदठ्ठजलद्दया य सुक्कन्ति ।।8।23।18।।

"तुम्हारे विरह की अग्नि से परितापित, उस वाला के हृदय पर रखी गयी पुष्प की मालाए और जल से भीगी हुई वस्तुए भी सूख जाती हैं ।" इसी प्रकार विहारी की भी एक नायिका विषम विरह ताप से तापित है । उसके ताप को शमित करने के लिए सखिया पूरी गुलाव जल की सीसी ही औंधा देती है, परन्तु वह सवका सव वीच मे विरहताप से सूख जाता है । एक छीटा भी उसके शरीर पर नही पडता ।[2] वातें दोनो एक ही हैं, पर स्तर का अन्तर होने के कारण दोनो मे भेद आ गया है । आचार्य हेमचन्द्र की नायिकाए जिस वर्ग से सम्वन्धित हैं, वह वर्ग इत्र, तेल, फुलेल आदि की वातें नही जानता वह तो सहज प्राप्य वस्तुओ का ही प्रयोग करता है । विरह शमन के लिए फूल की मालाए और जल मे भिगोयी हुई वस्तुए उसके लिए सुलभ हैं । विहारी की नायिकाए विलासी मुगल दरवारो की नागरी नायिकाए हैं । इसीलिए उनका उपचार भी उसी स्तर का मिलता है । जहा तक मूल भावना और कार्य का सम्वन्ध है, दोनो मे पर्याप्त समानता है । अन्तर इतना ही है कि हेमचन्द्र का वियोग चित्रण प्राय यथार्थ और अभिधात्मक है । विहारी की भाति ऊहात्मक उक्तिया उनमे कम ही हैं । हेमचन्द्र की एक अन्य वियोगिनी नायिका प्रिय वियोग मे अत्यन्त उदासीन और विरहाग्नि से सतप्त है । उसकी दशा देखकर चिन्तित हुई सखी नायक के पास जाकर उससे वताती है —

सेज्जारिग्र ण इच्छइ सेवालजयक्ख सोमहिड्डे ग्र ।
मरिही सेहरथणिग्रा कइवयसेवाहएहि तुह विरहे ।।8।48।43

"झूले मे झूलने की इच्छा नही करती, कमलो और किचडेली (गीली, ठडी) जगहो मे रहने की इच्छा नही करती । वह चक्रवाकस्तनी तुम्हारे वियोग मे कुछ ही

---

1 विहारी रत्नाकर, दो० स० 529, पृष्ठ 218
2 विहारा रत्नाकर, दो स. 217, पृ० 91

चुटकियो (पलो) मे मर जायेगी।" नायिका को विरहताप से छुटकारा दिलाने मे किसी प्रकार का भेषज्य (उपचार) कार्य नही करता उसके लिए तो बस एक नायक ही अद्वितीय उपचार है—

लइणीरमलसनकलसुअपमुहेहिं किं इमाइ भेसज्ज।
लल्लक्कलसइ सोच्चिअ तरुणो तया लइग्रहारो ॥7।15।18॥

"लताओ का रस, वृक्षो का दूध, तैलादि भैपज्यो से क्या लाभ। इस भयानक कामरोग मे तो इनके गले का हार वह युवक ही (अद्वितीय भेषज्य है)।" विरह ताप के कारण रात-दिन विरहिणी को नीद नही आती। सखिया उसे निद्राकारी-लता के पत्ते पीसकर पिलाती है परन्तु किसी भी प्रकार वह काम-सर-हता रमणी निद्रा नही प्राप्त कर पाती।[1]

इस प्रकार वियोग दुखिता नायिका को न रात मे चैन है न दिन मे। "कृत्तिका नक्षत्र के समाप्त हो जाने के बाद दिन के छोटे हो जाने पर प्रिय विरह से तापित रमणियो की रातें एक युग के समान हो जाती हैं।[2] सखी कहती है "कामवधिक तुम अत्यन्त मलिन कर्मा हो जो बादलो की गर्जना से विनष्ट विरहिणी का हनन कर रहे हो।"[3] वर्षा ऋतु सामान्यजनो को प्रिय होती है परन्तु नायिका के लिए वह भी परमउत्तापक है। नायिका की सखी नायक से कहती है—"खुले हुए केशो वाली वह बाला, तुम्हारे विरह की अग्नि से बभणी नामक कीडे की भाति सतप्त (छटपटा रही) है। चातक के बोलने तथा "घने बादलो की गर्जना से उसे और भी आराम नही मिलता।"[4]

इस प्रकार सयोग और वियोग के अनेको कलात्मक प्रसग 'रयणावली' की अमर निधिया हैं। मूल रूप से व्याकरण और भाषाशास्त्र का ग्रन्थ होते हुए भी यह कोश अपने शृगारिक पद्यो के आधार पर किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ के जोड मे रखा जा सकता है। 'रयणावली' के शृगारिक पद्य तत्कालीन गुजरात के सुललित ऐहिकता परक जीवन को व्यक्त करने मे अत्यन्त सफल है। इन पद्यो मे आचार्य हेमचन्द्र का कवित्व भी निखर कर सामने आता है। इस दृष्टि से 'रयणावली' का अध्ययन बिल्कुल ही नही हुआ है, इस दिशा मे चलकर यदि विचार किया जाये तो 'रयणावली' सचमुच रयणावली (रत्नावली) अर्थात् अमूल्य एव साहित्यिक सौन्दर्य

---

1. दे० ना० मा० 7।28।34
2. वही 5।50।62
3. वही 7।6।72
4. वही 6।74।90

मे युक्त पद्यो की निधि सिद्ध होगी। कम से कम इसमे शृंगारिक पद्य तो मुक्तक परम्परा की किसी भी कृति के पद्यो के जोड मे कम मूल्यवान नही हैं।

कुमारपाल की प्रशस्ति से सम्बन्धित पद्य

लोक-जीवन की शृंगारपरक ललित भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाले शृंगारिक पद्यो के अतिरिक्त 'रयणावली' के लगभग 105 पद्यो मे आचार्य हेमचन्द्र ने अपने आश्रयदाता राजा कुमारपाल के यश और शौर्य का प्रशस्तिपरक वर्णन प्रस्तुत किया है। इन पद्यो मे कही कुमारपाल की वीरता, कही दानशीलता तो कही-कही धर्मशीलता की प्रशसा की गयी है। अधिकतर पद्यो मे कुमारपाल के पराक्रम, उसकी युद्धवीरता तथा स्वय की भीरुता से डरे हुए उसके शत्रुओ का ही वर्णन किया गया है। कुमारपाल के पराक्रम से त्रस्त उसके शत्रु अपना घर बार तथा हास-विलास छोड़कर जगलो, गिरि, गह्वरो आदि मे छिपते हुए प्राण बचा रहे हैं, बस इसी प्रकार की भावना लगभग सारे पद्यो मे विद्यमान है। कुमारपाल के गुणो और उसकी समृद्धि का भी वर्णन कुछ पद्यो मे हुआ है। कुछ एक पद्य उसकी विजयो से भी सम्बन्धित हैं। इन सभी प्रसगो से सम्बन्धित कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

कुमारपाल के पराक्रम से त्रस्त होकर रणक्षेत्र से भागते हुए शत्रुओ की दशा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

अग्गक्खन्वपलायण अहिरीआ कुमरवाल तुह रिउणो।
ओवीहन्ति अलीसयणिउज अक्खलिअ अप्प सद्दे वि ॥1।25।27॥

"कुमारपाल! रणमुख मे भागे हुए कान्तिहीन, तुम्हारे शत्रु शाकवृक्ष के निकुंज मे अपने ही शब्द की प्रतिध्वनि से त्रस्त हो रहे हैं।" कुछ शत्रु तो "अपकीर्ति की गणना न करते हुए अगुलीयक आदि आभरणो को त्यागकर रण से भागकर कापालिक के वेश मे घूम रहे हैं।[1]

कुमारपाल के डर मे उसके शत्रु अपने घरो मे भी छिपने का स्थान बनाकर रहते हैं—

खड्डाघरेसु खत्ता वप्पे खण्ण च वासभवणम्मि।
खलिभोअणाण खल्लम्बराण तुह वेरिआण वी खड्ड ॥2।54।66

"आश्चर्य है, खली का भोजन करते हुए, चर्मधारी, दाढी मूंछ बढाये हुए तुम्हारे शत्रु अपने घर तथा निवास के कमरो मे (भी) गड्ढे बनाकर रहते हैं।"

1. दे० ना० मा० 1-29-31

कुमारपाल के आक्रमण से भयभीत उसके कुछ शत्रु घर छोडकर भाग रहे हैं—

गिरिग्रडहरे उत्तरिग्र डग्गला डडएण तुह रिउणा ।
डड्ढाडिडम्बरिल्ले जन्ति वणे डभिग्रव्व जखसणा ।। 4।8।8।।

"अपने भवनो से उतरकर वच्चो को लिये हुए-धूप मे तपती हुई सडक से जीर्णशीर्ण वस्त्रधारी तुम्हारे शत्रु वन की ओर जा रहे है ।" वन मे शुको द्वारा आधा खाकर जोड दिये गये फलो से वे गुज़ारा करते है ।[1] इसी आशय का एक अन्य पद्य भी द्रष्टव्य है—

तुह वाणवक्कडे वद्दलेव्व हमो रिऊ चइग्र सभर ।
वकिग्र सुग्र वलिग्रफलो सुमरइ वयड गग्रो वगायवणे ।।7।29।35।।

"तुम्हारे द्वारा की गयी निरन्तर वाणवृष्टि रूपी दुर्दिन के कारण हस रूपी शत्रु समर छोडकर व्याधाकुल वन मे सुक-भक्षित फलो का आहार करते हुए वाटिका (?) का स्मरण कर रहे हैं ।"

युद्ध से भयभीत शत्रुओ की तो ये दशाए हैं । उनकी पत्नियो के त्रास का वर्णन भी हेमचन्द्र ने कई स्थलो पर किया है । कुमारपाल के शत्रुओ की वे ही पत्निया जो कभी तरह-तरह के विलास के प्रसाधनो का प्रयोग करती थी, सभी कुछ छोड जगलो मे भटक रही हैं—

घुसिणाहिवण्णिआओ अज्भोल्लिअ भूसिआउ जाउ पुरा ।
तुह रिउवहूउताओ भमन्ति चइग्र अर्द्धजघिआउ वणे ।।2।31।33।।

"पहले जो पीले और काल रग के केशर से लिप्त रहती थी तथा जिनके वक्ष-स्थल के आभूषण मोतियो की रचना से युक्त रहते थे—तुम्हारे शत्रुओ की वे ही वधुए पदत्राण को भी छोडकर (नगे पाव ही) वन मे घूम रही हैं ।" आचार्य हेमचन्द्र की ये पक्तिया हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भूषण के प्रसिद्ध कवित्त की याद दिलाती हैं । भूषण ने भी शिवाजी के शौर्यवर्णन के वीच उनकी शत्रु-पत्नियो की दशा का वर्णन लगभग इसी प्रकार किया है । द्रष्टव्य है, भूषण का निम्न कवित्त—

ऊचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी,
ऊचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं

× × ×

---

1. दे० ना० मा० 5।21।26

भूषण की इस कोटि की प्रशस्तिपरक कविता पर हेमचन्द्र जैसे प्रसिद्ध पूर्व कवियों का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित किया जा सकता है। एक स्थल पर हेमचन्द्र कुमारपाल के पराक्रम से त्रस्त, जगत में लुकती छिपती शत्रुओं की पत्नियों की तुलना छिपकली जैसे डरपोक और निकृष्ट जीव से करते हैं—

खाइअलघणखारयमुहिआखिविखरिकरा तुहारिवहू।
खाढइअरिणिअरवेमुडरिआ खारफिडिव्व लुक्केइ ।।2।61।73।।

"खाई आदि के लावने से मुरझाए हुए मुखवाली, हाथ में (अस्पृश्यता द्योतक) फटा बाँस का डंडा लिये, अपने ही शब्द की प्रतिध्वनि से डरी हुई रिपु वधुएं छिप-कली के समान लुक छिप रही हैं।" एक अन्य पद में जगत में भटकती हुई एवं भयग्रस्त शत्रु-पत्नियों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है—

रिमिणत्तरिक्खअच्छीउरुक्खरिछोलिमज्झरिरिआओ।
मुच्छन्तिरिच्छमल्लयभीआ तुह कुमरवालरिउवहुआ ।।17।7।7।।

"रोदनशील सूजी हुई आंखों वाली-वृक्षों की पंक्ति के मध्यलीन तुम्हारे शत्रुओं की वधुएं रीछों और भालुओं के भय से मूर्छित हो जाती हैं।"

इसी प्रकार और अनेकों चाटुकारिता भरे प्रशस्ति के पद "रयणावली" में निबद्ध हैं। शत्रुओं की पतनोन्मुख दशा के वर्णन के माध्यम से किसी राजा के प्रभाव और उसके पराक्रम को व्यक्त करना भारतीय परम्परा में पाये जाने वाले समस्त प्रशस्तिपरक काव्यों की एक विशेषता रही है। हिन्दी साहित्य के आदिकालीन चारणकाव्यों तथा रीतिकाल में लिखे गये भूषण आदि कवियों की काव्य-रचनाओं में शत्रुओं के अपकर्ष वर्णन के माध्यम से आश्रयदाता राजा की चाटुकारिता भरी प्रशंसा की परिपाटी अति सामान्य रूप में देखी जा सकती है।

शत्रुओं के अपकर्ष-वर्णन के अतिरिक्त कुछ पद्यों में कुमारपाल की युद्ध में दिखायी गई वीरता तथा उनकी वीरवाहिनी आदि का वर्णन है। ऐसे वर्णन भी प्रायः अतिशयोक्तियों से भरे पड़े हैं। इस कोटि के कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं – एक पद्य में कुमारपाल के भीषण शस्त्र-प्रहार का वर्णन करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं—

तुह सिअ कट्टारीफुट्टकठ्ठो वव्वरा कयलतुन्दो।
कसरो व्व सिद्धणरवइ तुढेड कटालिसकुलराईए ।।214-4।।

सिद्धनरपति! तुम्हारी श्वेत (चमकती) धारवाली कटारी के प्रहार से फूटे हुए कपारवाला, घटोदर, अधम बलीवर्द के समान बर्बर (असभ्य) भटकटैया से युक्त

नदी नट पर लुटक रहा है ।" एक पद्य मे कुमारपाल की टिड्डियो के समान असख्य घुडसवार सेना का अत्यन्त आलकारिक वर्णन किया गया है—

निरिकुमारवालरणखड् तुहतुरयाघोरिणोव्व अगणिज्जा ।
कवलन्ति वेरिपत्थिव वलाइ घोमालिआ दलाइ व ।। 2 । 90 । 111 ।।

"नरपति कुमारपाल ! तुम्हारे शलभ (टिड्डियो) के समान अगणित घोडे वैरी राजाओ के वन (सैन्य) को शरद मे उगने वाली लता के कोमल पत्तो की भाति कवलित कर लेते है ।" कुमारपाल शत्रु रूपी पक्षियो के लिए वाज के समान है । [1] उसके क्रोधित होते ही शत्रुवर्ग भागकर समुद्र के किनारे आश्रय लेता है ।[2] उसके क्रोधित होते ही तथा धनुष की टकार मात्र से ही शत्रु भाग जाते है ।[3]

इन पराक्रमपरक प्रशस्तियो के अतिरिक्त कुमारपाल की धवल कीर्ति और उसकी समृद्धि का भी अत्यन्त आलकारिक वर्णन कई पद्यो मे मिलता है । कुछ उदाहरण यहा दिये जा रहे हैं—

णिवमउडोप्पिअपयणह कित्ती तुज्झ धवलेइ ओज्झ पि ।
ससिकुलभवाण अहवा ओलिसहावो अय कुमरवाल ।। 1।116।148।।

'धूलि मे मलिनमणि के समान कुमारपाल की कीर्ति मलिन होते हुए भी धवल है तो या तो यह उसके चन्द्रकुल मे उत्पन्न होने के कारण है या फिर कुलपरिपाटी के कारण ।' अस्थिर गति लक्ष्मी को भी कुमारपाल ने इस प्रकार धारण किया है कि वे अत्यधिक लम्पटा होते हुए भी, उसे छोडकर जा नही पाती—

"उल्ललिअदोसतुम तह उग्गहिआ कुमरवाल तइ लच्छी ।
उल्लेहडा वि जह सा ण मण्णाए अण्णमुवसेर ।। 5।88।104।।

"कुमारपाल ! तुमने शिथिल स्थिति वाली और दोषो से युक्त लक्ष्मी को भी इतनी निपुणता से ग्रहण किया है कि अतिलम्पटा होते हुए भी वह किसी अन्य को रति योग्य नही मानती ।" कुमारपाल की राज्यश्री का एक अन्य वर्णन भी उल्लेखनीय है—

जयसिरिणिवासजेमण भुअ तुह गुणवण्णम्मि का जोग्गा ।
जोर जसेण चालुक्क जोक्खमवहरसि जोअस्स ।। 3।40।48।।

"दक्षिण भुजा पर लक्ष्मी को धारण करने वाले (कुमारपाल) तुम्हारे गुणवर्णन मे चाटुकारिता क्या ? हे चालुक्य नरेश ! निश्चय ही तुम्हारे यश की धवलता

1 दे० ना० मा० 8।8।7
2 वही 6।7।7
3 वही 6।15।14

मलिन चन्द्रमा को भी अतिक्रान्त करने वाली है।" अर्थात् तुम्हारे यश की धवलता की समानता मलिन चन्द्रमा कैसे कर सकता है ?

कुमारपाल के यश का गुणगान उसकी प्रजा और वन्दीजन तो करते ही हैं, आकाशचारी विद्याधर भी नित्य किया करते हैं।

गुणमणिणायहर चुलुक्क तुज्झ मायदकु जमाडिग्र ए।
गाएइ पुलयमाई खयग्जिणो माहमालधवल जस ॥ 6।111।128॥

"गुण रूपी मणियो के समुद्र, चालुक्य नरेश! तुम्हारे आम्रकुजगृह मे पुलकित रोम वाले खेचर (विद्याधर) तुम्हारे कुन्द एव ज्योत्स्ना के समान धवल यश का गान करते हैं।"

उपर्युक्त कुछ उदाहरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि आचार्य हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा के कवि थे। शृंगारिक पद्यो के समान ही उनके कुमारपाल की प्रशस्ति मे सम्बधित पद्य भी हिन्दी के आदिकालीन चारणकाव्यो तथा रीतिकाल के भूषण आदि के प्रशस्तिपरक कवित्तो की पृष्ठभूमि के रूप मे, अपनी विशिष्ट महत्ता रखते है। आचार्य हेमचन्द्र के ये प्रशस्ति पद्य तत्कालीन रासक परम्परा की कृतियो तथा उसके पूर्व सस्कृत के दरबारी कवियो की प्रशस्तियो को जोडने वाली कडी के रूप मे देखे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य की आदिकालीन चारणो और भाटो की प्रशस्तियो पर हेमचन्द्र के इन पद्यो का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित किया जा सकता है। आश्रयदाता राजा की प्रशसा मे उसके शत्रुओ के अपकर्ष का वर्णन स्वय उसकी राज्यश्री और वीरता एव दानशीलता का बढा चढाकर किया गया वर्णन हिन्दी के दरबारी कवियो मे सुलभ वस्तु है। केशव और भूषण जैसे रीतिकालीन हिन्दी कवियो मे तो इस प्रकार की कविता की प्रवृत्ति बहुल मात्रा मे है।

(3) "रयणावली" के विविध विषयात्मक पद्य :

आचार्य हेमचन्द्र एक उच्चकोटि के व्याकरणकार, भाषाविद एव सहृदय कवि होने के साथ ही एक उच्च कोटि के युगद्रष्टा, लोकव्यवहारज्ञ एव नीतिज्ञ भी थे। इनकी "रयणावली" मे लगभग 120 पद्य ऐसे है जिनमे लोकव्यवहार की शिक्षा, नैतिक उपदेश, देवी देवताओ की चर्चा तथा अन्य सामान्य विषयो को निबद्ध किया गया है। इनमे अनेको पद्य ऐसे हैं जिनमे मानवजीवन के निर्माण मे सहायक तथा जनजीवन को प्रेरणा प्रदान करने वाले सुन्दर उपदेश निबद्ध हैं। धर्मोपदेशक जैन आचार्यों मे हेमचन्द्र का नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है। "रयणावली" के इस कोटि के पद्यो को मुनि रामसिह की 'पाहुडदोहा' तथा अन्य जैन मुनियो की उपदेशात्मक कृतियो के पद्यो की तुलना मे रखा जा सकता है। प्रो० मुरलीधर बनर्जी

ने हेमचन्द्र के इन पद्यो की तुलना भर्तृहरि के नीतिशतक के पद्यो तथा सस्कृत के विविध कवियो द्वारा लिखे गये सुभाषित सग्रहो से की है।[1] यह बहुत कुछ ठीक भी है। 'रयणावली' के इन पद्यो मे सस्कृत के नीतिपरक पद्यो के समान ही लोक-जीवन की बहुमूल्य एव लाभप्रद उक्तिया निबद्ध है। अति प्राचीन प्राकृत काव्यसग्रह 'वज्जालग्ग' मे भी इस प्रकार के पद्यो की कमी नही है। 'रयणावली' के इस कोटि के कुछ पद्यो का विवरण आगे दिया जा रहा है।

एक पद्य मे कवि लोक-जीवन के सुचारु रूप से चलने मे बाधा उत्पन्न करने वाले तत्त्वो का उल्लेख करते हुए कहता है—

सरिआण अग्गवेओ अदसणातहय अप्पगुत्ता य।
दूमन्ति झत्ति लोअ अहिआरविरोहिणो हि खला॥

"नदियों की बाढ, चोर तथा केवाच, लोगो को शीघ्र ही परितापित करते है। (सच है) खल (नीच लोग) लोक यात्रा-विरोधी होते ही है।"

इब्भाणमिरिणमिक्कुसमिद्दण्डाण गयाण इगाली।
इग्गाण य माभेसीसद्दो हरिस समुव्वहइ॥ 1।61।79॥

"वणिक् के लिए सोना, भ्रमर के लिए कमल, गज के लिए ईख, डरे हुए के लिए 'मत डरो' का शब्द हर्ष का उद्वहन करने वाले होते है।" एक पद्य मे हेमचन्द्र सामाजिक रूढियो का उल्लेख करते हैं कि परम्परा प्रिय भारतीय समाज निकृष्ट से निकृष्ट जीवो को भी मान्यता दे सकता है, परन्तु कुमारी स्त्री से उत्पन्न हुए अवैध पुत्र को नही।[2]

कुछ पद्यो मे कवि ने एक साथ ही कई-कई सामाजिक तथ्यो का उद्घाटन किया है। जैसे—

जयणेहि हया गामा जगाहि कणा-य जभभावेण।
महिलाओ जण्हलीहि सहन्ति गेहा जरड जच्चेहि॥ 3।31।40॥

'लगाम से घोडे, गोचर भूमि से गाव, तुष से अनाज, नीवी से महिलाए तथा बूढो और बच्चो से घर शोभा पाते हैं।' ऐसे ही एक अन्य पद्य मे वे बताते है कि—मलाई से दही, मूठ से तलवार, गहरे पानी से कुआ, वीरो से विषम अवसर तथा पशुओ से ग्राम-समूह सुशोभित होते हैं।'[3]

---

1 प्रो मुरलीधर बनर्जी—दे. ना मा की भूमिका, तृतीय खण्ड।
2 दे ना मा 1।64।81
3 दे ना मा ,5।19।24

एक सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं--

ठाणो ण ठल्लयाण ठाणिज्जत ण यावि ठइआण ।
ण ठिक्क सण्ढाण अठविअउवलाण ण य पूआ ।। 4।5।5।।

'निर्धन का मान नही, अवकाश रहित को गौरव नही, पण्ढ (नपुंसक) को शिश्न नही तथा अस्थापित प्रतिमा की पूजा नही होती ।'

निर्बलो और विनम्र लोगो को आश्रय देना प्रत्येक व्यक्ति का पुनीत कर्त्तव्य है । जो समृद्ध हैं उनका तो यह विशिष्ट कर्त्तव्य है । समृद्धि पाते हुए भी विनत लोगो की रक्षा न करने वाले दुष्ट पुरुष की भर्त्सना करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं—

किं ते रिद्धि पत्ता पिसुणा जे पणइणो वि ताविन्ति ।
कवयकलवूड वर कमि अकरोडीण दिन्ति जे छाहिं ।। 2।3।3।।

"जो विनम्र जनो को भी तापित करता है ऐसे दुष्ट के समृद्धि प्राप्त करने से क्या ? (उससे तो) कुकुरमुत्ता और नालिका नामक लता श्रेष्ठ हैं जो समीप आयी कीटिका को भी छाह देते हैं ।"

आचार्य हेमचन्द्र मे धर्मान्धता नाम मात्र को भी नही थी । एक जैन आचार्य होते हुए भी अन्य जैन आचार्यो की भाति उन्होंने सनातन धर्म की कटु आलोचनाएं नही की परन्तु समय-समय उन्होने सदैव इसके ढकोसलों तथा दिखावेपन का विरोध किया है । एक पद्य मे उन्होंने मूर्तिपूजा के खोखलेपन की चर्चा की है ।

पडिरजिअ पडिमाए किं रे पडिएल्लिआइ होइ फल ।
पडिअतय किं दिठ्टो पिडिअ पज्जुणसराउ उच्छुरसो ।। 6-35-32।।

"भग्नप्रतिमा से क्या कृतकृत्य करने वाला फल मिलता है ? रे कर्मकर ! ईख केसदृश घास पेरने से क्या ईख का मीठा रस प्राप्त होता है ।" इसी प्रकार एक पद्य[1] मे आचार्य यज्ञ मे वलि देने के रूप मे हत्या करने वाले ब्राह्मण को मूर्ख और अन्त मे बुरा परिणाम भुगतने वताते हैं । अपने पाण्डित्य का मिथ्या गर्व करने वाले तथा परम्परा की लीक पीटने वाले विद्वानो की तुलना आचार्य जुगाली करने वाले पशु से करते हैं —

उप्पाइउमसमत्था जे चव्विअ चव्वण कुणन्ति कई ।
वोमीपणाफुड ते वोकिल्लिअकारिणो पसुणो ।।7।76।82।।

---

1 दे. ना मा 7।68

"कुछ भी (नवीन) उत्पादित करने में असमर्थ जो चवित-चर्वणमात्र करते हैं। स्पष्ट ही बेचारे कुणाली रखने वाले पशु है।"

ऊपर उल्लिखित कुछ पद्यों के अतिरिक्त इस कोशग्रन्थ मे नीति, उपदेश, अन्योक्ति आदि से सम्बन्धित और भी अनेकों पद्य है जो कवि की व्यावहारिकता और उसके सामाजिक ज्ञान को स्पष्ट करने मे अत्यन्त समर्थ हैं। हेमचन्द्र के इन पद्यों मे अत्यन्त सीधी और सरल शैली मे लोक व्यवहार, धार्मिक आस्थाओ एवं सामाजिक मान्यताओं का चित्रण हुआ है। किसी भी पद्य मे आचार्य के कट्टर जैन धर्मावलम्बी होने का संकेत नहीं मिलता। सामाजिक कुरीतियो और धर्मगत ढकोसलों का जहाँ कहीं वे उल्लेख करते भी है, अत्यन्त विनम्रतापूर्ण शैली मे करते है। इनके पद्यों की तुलना, विषयवस्तु और शैली दोनों ही दृष्टियो से मुनि रामसिंह के प्रसिद्ध ग्रन्थ "पाहुडदोहा" से की जा सकती है। परवर्ती हिन्दी सतसई परम्परा के पद्यों मे भी हेमचन्द्र के इन पद्यों का स्वर मुखर देखा जा सकता है। इन पद्यो का कवि एक सच्चा महात्मा, समाजहितचिन्तक, जटिल धार्मिक मान्यताओ से रहित दृष्टिकोण वाला युगद्रष्टा, व्यक्ति है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि "रयणावली" के सामान्य विषयों से सम्बन्धित पद्य भी अपना विशिष्ट साहित्यिक महत्त्व रखते हैं।

रयणावली का कलापक्ष

छन्द

"रयणावली" के उदाहरणो मे प्राकृत के "गाहा" (गाथा) छन्द का प्रयोग हुआ है। संस्कृत तथा प्राकृत के आचार्यो ने "गाहा" और सस्कृत के "आर्या" छन्द को एक ही बताया है। "गाथा" शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से लेकर सस्कृत तक मे भिन्न-भिन्न अर्थों मे किया गया है। छन्द शास्त्र के प्रणेता पिंगलाचार्य ने "अथानुक्त गाथा" कह कर छोड दिया है। हलायुध" अत्रशास्त्रे नामोद्देश्येन-यन्नोक्त छन्द प्रयोगे च दृश्यते, तद्गाथेनि मन्तव्यम्" कहते है। रत्नशेखर सूरि "गाहा" का लक्षण इस प्रकार देते हैं—

'ममान्नेण बारस अट्ठारस बार पनर मत्ताओ।
कमसो पाय चउक्के, गाहाएइ हुति नियमेण ॥
गाहाइदले चउचउमत्त सासत्त, अट्ठोभदुकलो।
एयवीय दले विदु नवर छट्ठोइ एक गलो ॥"

रत्नशेखर सूरि के अनुसार-गाहा चार पदो का छन्द होता है। इसके विषम पादो (प्रथम, तृतीय) मे 12 तथा समपादो (द्वितीय, चतुर्थ) मे 18 मात्राए होती हैं।

यह तो हुआ प्राकृत के अपने छद "गाहा" का लक्षण। कोलब्रुक महोदय "गाहा" को सस्कृत से आया छद बताते हैं।[1] डा० गोरे ने "वज्जालग्ग" की प्रस्तावना के सातवें पृष्ठ पर गाथा का लक्षण दिया है। ऊपर दिये गये "गाथा" लक्षण के अतिरिक्त एक अन्य लक्षण भी मिलता है—

पढम बारहमत्ता, वीए अठारएहिसजुता।
जहपढम तह तीअ, दसपच विहूसिआ गाहा।।"

इस परिभाषा के अनुसार जिसके प्रथम तथा तृतीय पाद मे क्रमश 12 मात्राए, द्वितीय पाद मे 18 मात्राए तथा चतुर्थपाद मे 15 मात्रायें हो, वह छद 'गाथा' कहलाता है। सस्कृत के 'आर्या' छन्द का भी यही लक्षण है—

यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथातृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थ के पचदश मार्य्या।।

"जिस छद का प्रथम चरण 12 मात्रा का (स्वर की लघुता एव गुरुता के परिमाण से) द्वितीय 18 का, तृतीय बारह और चतुर्थ 15 का होता है उसका नाम आर्या है।" कोलब्रुक महोदय ने इसी के आधार पर यह स्थापित किया था कि प्राकृत का 'गाहा' छद सस्कृत की आर्या से निकला है। परन्तु यह न कह कर यदि कहा जाये कि सस्कृत की आर्या ही 'गाहा' के आधार पर विकसित है तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योकि प्राकृत का 'गाहा' छन्द अपने अनेको भेद प्रभेदो के साथ सस्कृत के छदो से अलग है। गाह, विगाथ, उद्गाथ, गाथिनी, सिहनी आदि इसके उपभेद हैं। प्राकृत का 'गाहू' छन्द ही सस्कृत ही आर्या है। 60 मात्राओ (12 + 18 + 12 + 18) वाली गाथा, जिसकी परिभाषा पहले दी गई है, गाथा का ही एक अन्य प्रभेद उद्गाथा है।

'रयणावली' मे निबद्ध उदाहरण की गाथाएँ दो प्रकार की हैं। कुछ गाथाए 60 मात्राओ (12+18+12+18) वाली है और कुछ 57 मात्राओ (12 + 18 + 12 + 15) वाली सस्कृत की आर्याओ के लक्षण की हैं। 60 मात्राओ वाली गाथा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

12 18
'विअलिअ उइ ततणाए सुण्ण उब्भालण कुणन्तीए।
तह पुलइअमुच्छविअ जह काउ सक्किमो ण उज्भमण ।।1।87।103।।
12 18

---

1. सस्कृत एण्ड प्राकृत पोयट्री–एशियाटिक रिसर्चेज 10वी जिल्द, पृ० 400

57 मात्राओ वाली गाथा—

12 18
टोलोव्व मा पड तुम उज्जाणे वाणिणीउ ज पुरओ ।
12 15
टोलवखणे टोक्कणहत्था मयणग्गि जालाओ ।। 4।4।4।।

ये ही दो प्रकार की गाथाए सम्पूर्ण 'रयणावली' के उदाहरण के पद्यो मे व्यवहृत हुई है । जहा तक इसके छदो मे दोष का प्रश्न है, वे स्वाभाविक ही हैं । इसकी अनेको गाथाओ मे किसी न किसी पाद मे एक मात्रा कम देखी गयी है । ऐसा विशेषत द्वितीय और चतुर्थ पाद मे हुआ है । परन्तु यह दोष लिपिकारो की असावधानी के कारण आया होगा । 'रयणावली' की इन आर्याओ का सकलन विविध हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर हुआ है । इन प्रतियो के लिपिकारो की अनभिज्ञतावश ये भूलें रह गयी होगी । साहित्यिक या छन्द शास्त्रीय दृष्टि से 'रयणावली' का संकलन भी नही हुआ था अत यह प्रमाद रह जाना स्वाभाविक है । जितने स्थलो पर ऐसे दोष आये हैं वहा एक मात्रा या फिर अनुस्वार मात्र बढा देने से छन्दो दोष दूर भी हो जाता है । इस एक दोष के अतिरिक्त 'रयाणावली' की गाथाए शास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त शुद्ध है । इनमे यति तथा मात्राओ का लघु-गुरु विधान भी नियम साध्य है । इस प्रकार छन्द की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उच्च कोटि की साहित्यिकता से युक्त है ।

### भाषा

'रयणावली' की भाषा निर्विवाद रूप से 'प्राकृत' है । इस ग्रन्थ की रचना भी हेमचन्द्र ने सिद्धहेमशब्दानुशासन' के पूरक ग्रन्थ के रूप मे किया था । उदाहरण की गाथाओ की भाषा यदि देशी शब्दो को छोड दिया जाये तो, साहित्यिक प्राकृत है । साहित्यिक प्राकृत के सभी व्याकरणिक-विकार इन पद्यो की भाषा मे निरूपित किये जा सकते हैं । प्राकृत के पद्यो मे 'देश्य' शब्दो का प्रयोग, प्राकृतकाल मे 'देश्य' शब्दो के प्रयोग-बाहुल्य की मान्यता को पुष्ट करता है । देश्य शब्दो के प्रयोग के ही कारण, इसकी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट हो गयी है । इसके अनेको पद्यो का साहित्यिक सौन्दर्य भी इसी क्लिष्टता के कारण मन्द पड गया है ।

### अलकार

'रयणावली' के पद्यो की आलकारिक योजना भी उच्चकोटि की है । लगभग सभी प्रसिद्ध अलङ्कारो उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, अर्थान्तरन्यास, अन्योक्ति आदि का प्रयोग इसके पद्यो मे परलक्षित किया जा सकता है । इन

अलकारो की आयोजना, यद्यपि मायास नही है, फिर भी इनके सौन्दर्य मे कोई कमी नही आने पायी है। उदाहरण की इन 'गाथाओ की रचना हेमचन्द्र ने केवल शब्दो को कण्ठस्थ करने के लिए किया था। परन्तु लोकजीवन मे सम्बन्ध रखने के कारण देशीशब्दावली से युक्त कविता उच्चकोटि की साहित्यिकता अनायास ही आ गयी है। अलकारो की दृष्टि से 'रयणावली' के सयोग और वियोग वर्णन से सम्बन्धित पद्य विशिष्ट हैं, इनमे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालकारो का बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है। रूपक और उपमा अलकारो का एक मिला-जुला प्रयोग द्रष्टव्य है—

कुन्तलउड्डुच्छण्णेण जणणयण उंवखाय व।
मयणेण उरे रइअ तुह उच्च उ वगोरङ्गि॰ग ॥ 1 68।86 ॥

'केशराशि तृणो को परिवारण (धोखा) है, नयन मनुष्यरूपी मृगो को बांधने के लिए जाल है। प्रारम्भ मे ही कामदेव द्वारा रचित गोराङ्गि! तुम पके हुए गोधूम की (कृषि की) भाति हो।'

कुमार पाल की प्रशस्ति से सम्बन्धित पद्यो मे अतिशयोक्ति अलकार का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। नीति और उपदेश के पद्यो मे अन्योक्ति, स्वभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अलकारो का प्रयोग प्राय हुआ है। प्रकृति चित्रण से सम्बन्धित एक सुन्दर पद्य मे 'मानवीकरण' अलकार का प्रयोग दर्शनीय है—

मणमणुवेण हरन्तो अणुदविफुल्लारविन्दमयरन्द।
परिमलपाणग्घाणोव्व अणिल्लसमीरणो खिवइ ॥ 1।16।19

'मन को बरबस हरण करता हुआ, प्रात काल के प्रफुल्लित कमलो के मकरन्द-पान से तृप्त सा, प्रात समीर (धीरे-धीरे) बह रहा है।'

अर्थालकारो मे सबसे अधिक प्रयोग उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति का हुआ है। अन्य अलकारो मे स्वभावोक्ति का प्रयोग भी अधिक मात्रा मे है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अलङ्कार प्रयोग की दृष्टि मे भी रयणावली एक उच्च कोटि की साहित्यिक कृति है। अलकार इसके पद्यो मे निबद्ध कोमल अनुभूतियो के सहज अनुचर है।

### निष्कर्ष

ऊपर 'रयणावली' के उदाहरण की आर्याओ मे निहित विषयवस्तु का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसकी विषयवस्तु को देखते हुए यह बिना किसी सन्देह के कहा जा सकता है कि 'रयणावली' प्राकृत काव्य परम्परा की एक श्रेष्ठ काव्य कृति है और हेमचन्द्र एक श्रेष्ठ कवि। जहाँ तक 'पिशेल' जैसे विद्वानों को

इसकी साहित्यिकता मे सन्देह होने की वात है यह स्वाभाविक भी था। यह तो एक तथ्य है कि 'रयणावली' के पद्य कठिनता की दृष्टि से सम्पूर्ण प्राकृत साहित्य मे बेजोड हैं। सभी पद्यो का ठीक अर्थ कर पाना उनमे निहित साहित्यिक सौन्दर्य को देख पाना कम से कम असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। मेरे समक्ष स्वय इस पक्ष को लेकर अनेको कठिनायाँ रही हैं। पद्यो मे देशी शब्दो का प्रयोग होने के कारण कही कही उनका आशय समझ पाने मे कठिनाई अवश्य हुई है, परन्तु अधिकतर पद्यो मे ऐसी कोई भी वात नही है। 'रयणावली' के साहित्यिक दृष्टि से उपेक्षित होने का एक कारण और भी रहा है यह एक भाषा शास्त्रीय कोशकृति है, पिशेल महश विदेशी विद्वानो ने इसका अध्ययन भी इसी दृष्टि से किया था, इसके साहित्यिक मूल्याकन का प्रयत्न कम ही हुआ है। प्रो० मुरलीधर वनर्जी ने इस ओर प्रयास अवश्य किया था पर वे सकेतमात्र ही कर सके थे, उनका अधिकतर प्रयास 'पिशेल' की असावधानिया ढूढने की ओर ही रहा है। यहा प्रस्तुत किया गया अध्ययन इस दिशा मे किया गया प्रथम प्रयास है। इस प्रयास मे भी 'रयणावली' का समस्त काव्य सौन्दर्य सामने नही आ सका है क्योकि यह किसी एक प्रबन्ध के छोटे से अध्याय मे समाप्त होने वाला विषय भी नही है। गाहासत्तसई, वज्जालग्ग तथा अन्य प्राकृत के लोकिकता परक काव्यो की भाति इसका भी स्वतत्र अध्ययन अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। निष्कर्ष रूप मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'रयणावली' अन्य सतसई परम्परा की कृतियो की भाति ही विषयवस्तु की दृष्टि से एक महान कृति है। भाव, भाषा, छद, अलकार प्रयोग, अर्थगत प्रतीयमानता, प्रकृति चित्रण सभी दृष्टियो से यह एक श्रेष्ठ साहित्यिक कृति कही जा सकती है।

'गाहासत्तसई' की भाति 'रयणावली' भी कृषिजीवी भारतीय जीवन का चित्र अकित करने वाली कृति है। इसमे तत्कालीन गुजरात के ग्रामीण जीवन की रीति नीति, आचार-व्यवहार आदि का स्पष्ट अकन हुआ है। इसमे निहित कुलटाओ-वेश्याओ, हालिक-हालिक पत्नी, गोप-गोपी, गृहिणी-गृहपति और प्रेमी-प्रेमिका के बीच की ग्रामीण उक्तिया एव उनकी मनोहारी लीलाए चित्ताकर्षक होने के साथ तत्कालीन भारतीय ग्रामो और उनके समाज की कसौटी भी हैं। इसके पद्यो मे 'स्वभावोक्ति' की बहुलता है। इसी स्वभावोक्ति को शिष्ट समाज 'अश्लील उक्ति' के नाम से भी सम्बोधित करता है, पर इन अश्लील उक्तियो के अन्तराल से व्यक्ति का स्वच्छ, छल कपट रहित हृदय झाकता दिखायी देता है। इनमे निहित निम्नवर्गीय लोगो की भावनाए परिमार्जित न होकर अपने प्राकृत रूप मे आयी हैं। इनके भीतर और बाहर दोनो मे समानता है। कुल मिलाकर 'रयणावली' को भी 'गाहासत्तसई' की भाति 'लोक साहित्य' के ग्रन्थो की तालिका मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप मे स्वी-

कार किया जाना चाहिए। विषयवस्तु को देखते हुए तो यह कोशग्रन्थ 'वज्जालग्ग' से भी समानता रखता है। 'वज्जालग्ग' की भाति इसमे भी विषयगत विविधता का दर्शन किया जा सकता है। यदि कुछ शब्दो मे हेर फेर दिया जाये तो 'वज्जालग्ग' की निम्न उक्ति देश्यबहुल 'रयणावली' के पद्यो पर घटित हो सकती है—

देसिय सद्दपलोट्ट महुरक्खरछदसठिय ललिय।
फुड वियडपायडत्थ पाइअकव्व अढेअव्वम्॥

प्राकृत-काव्य की इस प्रशस्ति मे यदि देश्य शब्दो की प्रचुरता का समावेश कर दिया जाये तो निश्चित ही 'रयणावली' की गाथाए भी इसके अन्तर्गत आ जायेंगी।

अस्तु! सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि 'रयणावली' भाषाशास्त्र की ही दृष्टि से नही साहित्यिक दृष्टि से भी एक उच्चकोटि का कोश ग्रन्थ है।



# 4

# देशीनाममाला का सांस्कृतिक अध्ययन

आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' केवल भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नही है अपितु सास्कृतिक एव साहित्यिक दृष्टि से भी इसका बहुत बडा महत्त्व है। इसमे संकलित शब्द सम्पत्ति ने अपने अन्तराल मे सदियो से चली आयी जन साधारण की सस्कृति को सजो रखा है। इन शब्दो का सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक अनेको दृष्टियो से बहुत बडा महत्त्व है। लौकिक जीवन मे अनेको ऐसे रीति-रिवाजो का प्रचलन आज भी है जो युग-युगो से परम्परा मे प्रचलित चले आये हैं परन्तु उनका सन्दर्भ ढूढना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस प्रकार के अनेको असन्दर्भ रीति-रिवाजो और सामाजिक मान्यताओ का परिचय हमे इस शब्द कोश मे सकलित शब्दो के माध्यम से प्राप्त होता है। 'देशी' शब्द बहुत प्राचीन काल से साधारण या अशिक्षित समाज की बोलचाल की भाषा के शब्द हैं। उस युग तथा तद्युगीन समाज की मान्यताओ का स्पष्ट चित्र इन शब्दो के माध्यम से खीचा जा सकता है। इन शब्दो के माध्यम से हमे अनेको ऐसे सम्बन्धो और सामाजिक नियमो तथा धार्मिक अनुष्ठानो का पता चलता है जिनके बारे मे सामान्यतया लोग आज भी अन्धकार मे हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है 'देशीनाममाला' के सभी शब्द तथाकथित प्राथमिक प्राकृत के ही नही हैं।[1] इसके अनेको शब्द साहित्यिक प्राकृतो की देन है। इन शब्दो का भी अपना विशिष्ट सास्कृतिक महत्व है। ऐसे शब्द स्वय हेमचन्द्र के समय की साधारण जनवर्ग की सस्कृति का सुष्ठु द्योतन करने मे अत्यन्त समर्थ है। इन शब्दो के माध्यम से तत्कालीन गुजरात के सामाजिक चाल-चलन, पहनावे, कृषि

1 द्रष्टव्य–अध्याय 5-देशी शब्दो का विवेचन।

सामग्री शासन व्यवस्था आदि पर अच्छा प्रकाश पडता है। इस प्रकार 'देशीनाममाला' के 'तद्भव' और 'देशी' दोनो ही शब्द स्वय मे एक सास्कृतिक स्वरूप छिपाये हुए हैं जिनका विवेचन अलग-अलग शीर्षको के अन्तर्गत कर लेना समीचीन होगा।

**देशीनाममाला का सामाजिक वातावरण—**

'देशीनाममाला' मे ग्रामीण जीवन मे सहायक अनेको श्रमजीवियो का उल्लेख हुआ है। इनमे माली, दर्जी, धोबी, कहार, सोनार आदि अनेको श्रमजीवियो के लिये शब्द मिलते है। माली के लिये दो शब्द आरम्भिओ 1–71 तथा वड्डहुली 7–42 आये हैं। इस कोश के शब्दो से पता चलता है कि गुजरात के ग्रामीण जीवन मे पुष्पमालाओ से केश सज्जा आदि का बहुत वडा महत्त्व था। इन मालाओं का निर्माण करने वाला व्यक्ति अपने 'कर्म' के आधार पर 'माली' या 'मालाकार' कहलाता है।

**धोबी**—धोबी या धोबिन के लिए इस कोश मे कई शब्द हैं—धोआ 5-32 धोबी। उप्फुकिआ 1–114 धोबिन तथा हिक्का 8–66 और फुक्की 6–84।

**नाई**—चन्दिलो 3–2। छुरभड्डी 3–31। छुरहत्थो 3–31। वारिओ 7–47। मज्जिओ 8–47। मज्झओ 6–115। रत्तीओ 7-2। उच्छीउत्तो 7-47।

**दर्जी**—आसीवओ 1-69। घरो मे पानी भर कर देने वाले वर्ग के लोग 'कहार' कहलाते हैं। इसके लिए काहार 2–27 शब्द आया है। लोहे का काम करने वाली जाति के लिए फूअ 6–85। स्वर्णकार के लिए भरओ 3–54 तथा केवल कगन वनाने वाली जाति के लिए वाणओ 7–54 शब्द आये है। इसी प्रकार अन्यानेक पेशेवर जातियो से सम्वन्धित शब्द हैं—जैसे इत्र वेचने के लिये गधपिसाओ 2–87, वनिये के लिये इब्भो 1–79, दूध का व्यापार करने वाले ग्वाले के लिए काहिलो 2–28, कपडा वुनने वाले के लिये कोलिओ 2–65, कसाई के लिए खट्टिक्को 2-70, घर मे काम करने वाली दासी के लिये खोट्टी 2–77 तथा तालप्फली 4–11, दास के लिये छोइओ 3–33, गुलाम दासी के लिये दुल्लसिआ 5–46, घर मे पानी भरने वाली नौकरानी के लिये दोहणहारी 5–56 पुराने अस्त्र-शस्त्रो को माज कर साफ करने वाले को तोमरिओ 5–18, ईख की पेराई करने वाले मजदूर को तूओ 5–16, साधारण श्रमिक को पडिअतओ 6–32, हल चलाने वाले को भाइल्लो 6–104, हाथी चालक पीलवान को मेठी 6–131, जुआघर चलाने वाले को पाउग्गिओ 6–42, पाउग्गो 6–31, डभिओ 4–8, पठन-पाठन का कार्य करने वाले व्यक्ति को पडिज्झओ 6–31, विवाह इत्यादि की गणना करने वाले ज्योतिषी को मती 6–111, शरीर का व्यापार करने तथा गाने वाली स्त्री या वेश्या को वेल्लरी, गा-वजाकर पेट पालने वाली स्त्री को गत्ताडी 2–82, शिकार करके जीविका चलाने

वाले व्यक्ति को जोडिग्रो 3-49, भोडिग्रो 3–60, ताम्बूल पेटिका का वहन करने वाली दासी को डोगिली 4–12 ग्रादि ।

इन पेशेवर जातियो के उल्लेख के ग्रतिरिक्त कुछ निम्न वर्ग की जाति के लोगो का उल्लेख भी प्राप्त हो जाता है । सबसे निम्न वर्ग की जाति चाण्डाल की बतायी गयी है इसके लिए डु बो 4-11, शब्द ग्राया है । इस जाति के लोग सम्भवत ग्रपनी ग्रस्पृश्यता का सकेत करने के लिए ग्रपने हाथ मे एक बास की छडी लिये रहते थे । इस बास की छडी के लिए भज्भारी 3-54, खिक्खिरी 2-73 शब्द ग्राये हैं । गदग्रो 2-48 तथा मोरत्तग्रो 6-140 से एक ग्रत्यन्त निम्न कोटि की जाति का भी उल्लेख मिलता है ।

जातियो का निर्देश करने वाले इन शब्दो के ग्रतिरिक्त कुछ ऐसे वर्ग के स्त्री पुरुषो का उल्लेख भी मिलता है जिन्हे समाज मे हेय दृष्टि से देखा जाता रहा होगा । 'देशीनाममाला' मे कुलटा स्त्रियो के लिये कई शब्द ग्राये हैं जैसे केली 2-44, खडई 2-67, भडुली 3-61, भडली 3-54, पुण्णाली 6-53, भभी 6-99 ग्रादि । दुश्चरित्रा स्त्रियो के लिए ग्रज्भा 1-50, ग्रडयणा तथा ग्रडया 1-18, दुश्चरित्र पुरुषो के लिए ग्रणड 1-18, उल्लेहडो 1-104, इत्यादि । इन शब्दो को देखकर ऐसा लगता है जैसे समाज ग्रत्यन्त मर्यादावादी रहा हो । पुरुष वर्ग मे ठग के लिए कालग्रो 2 28, चोर के लिए ग्रदसणो 1-129, इक्को 1-80, उड्डहणो 1-101, कलमो 2-10, चोरो के समूह के लिए पडीरो 6-8, जेबकट या पाकिटमार के लिए चारणग्रो 3-9 ग्रादि विशेष उल्लेखनीय हैं ।

**सामान्य स्त्री वर्ग**–गुण ग्रौर ग्रवस्था के ग्राधार पर स्त्रियो से सम्बन्धित ग्रनेको शब्दो का उल्लेख इस कोश मे हुग्रा है जैसे–ग्रोलइणी (1-160)-प्रिय स्त्री, कुट्टयरी कुमारी (2-35), गणणाइग्रा (2-87) - क्रुद्ध स्त्री या चण्डी, गहणी (2-84) हरण करके लायी गयी स्त्री गहिग्रा (2-85) इच्छित स्त्री, दु दुमिणी (5-45) सुन्दरी स्त्री दुम्मइणी (5-47) - कलह शीला स्त्री तथा ग्रहिविण्णा (1-25) ऐसी स्त्री जिसके पति ने दूसरी पत्नी कर ली हो ।

इन शब्दो को देखकर जिस समाज का कल्पना चित्र मस्तिष्क मे उठता है वह भारत जैसे ग्राम प्रधान देश के लिए दुर्लभ बात नही है । भारत के विभिन्न प्रान्तो मे फैले हुए सुविस्तृत ग्रामीण ग्र चलो की सस्कृति के बीच इन शब्दो की सार्थकता ग्राज भी खोजी जा सकती है ।

**सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्ध—**

सामाजिक एव पारिवारिक सम्बन्धो को द्योतित करने वाले ग्रनेको शब्द इस

कोश मे ढूंढे जा सकते हैं। माता-पिता, भाई-बहिन, पति पत्नी, पुत्र-पुत्री, प्रपौत्र, नव-वधू इत्यादि शब्द पारिवारिक धारणा कोपुष्ट करने वाले हैं। इस कोश मे माता के लिये अत्ता (1-51) अल्ला, अव्वा (1-5) मादलिआ (6-131), पिता के लिए अप्प (1-6), बहिन के लिए अक्का, भाभी के लिए भाउज्जा (6-103) तथा वहुण्णी (7-41) पत्नी के लिए वरिणआ (5-58) धणी (5-62), धार्मिक गृहणी के लिए भावइआ (6-104) पिता की बहिन अर्थात् बुआ के लिए पुष्फा (6-52), मा की बहिन या मौसी के लिए माअलिआ (6-131), ज्येष्ठ बहिन के पति (जीजा) के लिए भाओ (6-102), मामी के लिए फेलाया (6-85), मम्मी (6-112), मल्लाणी (6-112) तथा माम (6-112), साली के लिए मेहुणिआ (6-148)। देवर के लिए अण्णअ (1-55), एक्कघरिल (1-146), दुद्दमो (5-44)। देवरानी के लिए अण्णी (1-55)। नववधू के लिए अविअज्झा (1-77), कीला (2-33), कुकुला (2-33)। पौत्र के लिए खरहिअ (2-72)।

इन पारिवारिक सम्बन्धो को द्योतित करने वाले शब्दो के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शब्द आये हैं जिनसे पारिवारिक रीति-रिवाजो पर भी प्रकाश पडता है। वहुमासो 7-46 ऐसा ही शब्द है। इस शब्द का आशय उस कालावधि से है जिसमे विवाह के बाद वर और वधू को मिलकर कहीं एकान्त मे रहने का अवसर दिया जाता है। अंग्रेजी के 'हनमून' शब्द से इसकी तुलना की जा सकती है। यह काला-वधि पूरी की पूरी, वर के द्वारा, वधू की इच्छा पर बितायी जाती थी। वर या दुल्हे के लिये इसमे वरडत्त, 7-44 शब्द मिलता है। विवाह के पहले कुमार युवक के लिए वठ (7-83) आया है। विवाह के समय वधू रूप मे सजी हुई कन्या अइरजुवइ (1-48) ओलअणी (1-160) कही जाती थी। श्वसुर के घर से अपने पिता के घर लौटकर गयी वधू पधुच्छुहणी (6-35) कही जाती थी। वधू को दोबारा पिता के घर से श्वसुर के घर ले जाने वाला व्यक्ति पाडिअज्झ (6-43) कहा जाता था। वधू की छोटी सास के लिए वहुव्वा (7-40) तथा ऋतुमती स्त्री के लिए परिहार-इत्तिआ (6-37) शब्द आया है। पूरे परिवार के लिए पहरा (6-5) शब्द व्यवहृत है। एक जगह कुमारी कन्या से उत्पन्न होने वाले अवैध पुत्र की भी चर्चा है उसके लिए डदमहो[1] (1-81) शब्द आया है।

### रहन-सहन रीति-रिवाज तथा वेष-भूषा व खानपान

#### रहन-सहन

'देशीनाममाला' के शब्द एक ऐसे समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं जो रहन-सहन मे काफी ऊंचा और सम्पन्न मालूम पडता है। इसके शब्द एक ओर यदि

---

1. अवन्तिसुन्दरी ने इस शब्द का अर्थ 'कुमारी' किया है न कि कौमार (कुमारी से उत्पन्न पुत्र) हेमचन्द्र स्वयं ही वृत्ति (1-81) मे इसका उल्लेख करते हैं।

विलासितापूर्ण रहन-सहन के स्तर को व्यक्त करते है तो दूसरी ओर झोपडियो के दु खी जीवन तथा निम्नवर्ग के अध पतन युक्त रहन-सहन का भी चित्र उपस्थित करते हैं । सबसे पहले उच्च रहन-सहन से सम्बन्धित शब्दो का विवेचन उपयुक्त होगा ।

उच्च रहन-सहन के लोगो के घरो को आसवण 1-66 कहा जाता था जो आराडी 1-75 चित्रो से सजे हुए होते थे। इन वासगृहो मे शयन कक्ष अलग होते थे । इनके लिए आलयण -1-66, आसगो 1-71, सोवण 8-58 शब्द आये हैं । इन वासगृहो मे सुष्ठुप्रकाश व्यवस्था रहती थी, इस बात का सकेत आलीवर्ण 1-71- प्रकाशकारक (पदार्थ विशेष) से स्पष्ट है । इन विलास गृहो के सबसे ऊपरी भाग का कमरा चन्द्रशाला कहलाता था—इसके लिए जालघडिआ 3।46 शब्द आया है । घरो मे खिडकिया होने का सकेत चुप्पालग्र 3-17 से मिलता है, पारावारो 6-43 गवाक्ष के अर्थ मे आया है । इन घरो के सामने विस्तृत द्वार होते थे इसका सकेत भित्त 6-110 और भित्तर 6-105-द्वार, शब्दो से मिलता है । इन घरो की सीमा मे फूलो से युक्त छोटे-छोटे उद्यान भी होते थे । इसका सकेत मयड (6-115) तथा वयड 7-35- (वगीचा) से मिल जाता है । इन वासगृहो मे रहने वाले लोग विलासितापूर्ण जीवन विताते थे । इस बात की पुष्टि विलास सामग्रियो के लिए आये हुए शब्दो से हो जाती है । इन विलास सामग्रियो का उल्लेख इन शब्दो मे देखा जा सकता है—

आमलय-67- सज्जागृह, जच्चदण 3-52- अगरु (एक सुगन्धि द्रव्य-विशेष) मलाकुकुम 6-132- प्रधान कुकुम, लावज 7-21 उशीर या खस, बहू 7-31- एक सुगन्धित द्रव्य, गुप्पत 2-102- विस्तर या पलग, विब्भण 7-69- ताकिया, थुड्डहीर 5।29- चामर, डोगी 4-13- शरीर को सुगन्धित करने वाला एक द्रव्य, फसल 6-87- शरीर मे लेप करने का सुगन्धित चूर्ण, आदि । इन सभी विलासिता की वस्तुओ के अतिरिक्त इस वर्ग के लोगो मे मद्यपान का भी वहुत अधिक प्रचलन रहा होगा क्योकि मद्य और उससे सम्बन्धित पात्रो तथा व्यापारियो का उल्लेख इस कोश के अनेको शब्दो मे हुआ है । भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रो और आभूषणो के लिए आये हुए शब्द भी नागरिको की विलासिता और उनकी समृद्धि का द्योतन करते हैं । इनका उल्लेख आगे एक अलग शीर्षक के अन्तर्गत किया जायेगा ।

इन सुसज्जित और विलासितापूर्ण आवासो से अलग साधारण जन-वर्ग के रहन-सहन को सूचित करने वाले शब्द भी आये हैं । साधारण रूप से बने हुए घर के लिए घघ 2-105 तथा कुटी के लिए इरिआ 1-80 व चिरिया 3-11 खुल्ल 2-74 शब्द आये है । एक जगह तम्बू के लिए उल्लोचो 1-98 शब्द भी आया है ।

घर की देहरी के लिए उम्मरो 1-95, छन के लिए डग्गल 4-8, झोपडियो मे लगने वाले पर्दे को टट्टइग्रा - टटिया या पर्दा कहा गया है। ग्रागन के लिए चउक्क 3-2 ग्राया है। ये सभी शब्द साधारण लोगो के जीवन क्रम को व्यक्त करने वाले हैं।

**वेषभूषा और आभूषण**

'देशीनाममाला' के शब्द समाज मे प्रचलित विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणो भी उल्लेख करते हैं। इन उल्लेखो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन नागरिक जीवन अत्यन्त सम्पन्न और विलसितापूर्ण था। नागरिक जीवन के अतिरिक्त ग्रामीण जीवन भी इस क्षेत्र मे बहुत आगे बढा चढा था। उदाहरण के लिए केश रचना को लीजिए। इसके लिए इस कोश मे कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस समय केश विन्यास के कई तरीके प्रचलित थे। सामान्य केश रचना के लिए बब्बरी (6-90). रूखे केशबंध के लिए फुंटा (6-84), केशो का जूडा बाधने के लिए ग्रोग्रग्गिग्र (1-172), सीमात पर सुन्दर ढग से सजाये गये केश को कुंमी (2-34), रूखे को साधारण ढग से लपेटने के अर्थ मे ढुमतग्रो (5-47), सिर पर रगीन कपडा लपेटने के अर्थ मे ग्रणराहो (1-24), एवं किसी लसदार पदार्थ को लगाकर सिर के अवगुंठन के अर्थ मे णीरगी (5-31) शब्द आया है। ऐंठ कर बाधे गये बालो के जूडे के लिए मउडी (6-117), स्वाभाविक रीति से खुले बालो के लिए लम्बा (7-26), बालो को लपेटकर बाधे गये कलात्मक जूडे के लिए ग्रामेल (1-62), ग्रोडल (1-150) छोटे घुघराले बालो के लिए झटी (3-53) आदि शब्द आये है। इन शब्दो को देखकर उस युग मे प्रचलित रहन-सहन का स्वय ही आभास हो जाता है। केश-रचना मे फूल की मालाग्रो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। कई शब्द इस आशय को प्रकट करते हैं। सिर मे बाधी जाने वाली माला के लिए इस कोश मे आये हुए शब्द इस प्रकार हैं – चुंचुग्र, चुंभल (3-16), रसरोट्ट (4-1), मग्राई (6-115), वसी (7-30), वुप्फ (6-74) आदि। इन शब्दो को देखते हुए ऐसा लगता है जैसे समाज रहन-सहन की दृष्टि से अत्यत उच्च स्तरीय रहा हो। आज भी मद्रास मे केशो मे पुष्पमालाए बाधना साधारण रिवाज है। उत्तर भारत मे भी इसके उदाहरण दुर्लभ नही हैं।[1]

वस्त्र—वस्त्रो मे मोटे और पतले दोनो ही प्रकार के वस्त्रो का उल्लेख हुआ है। साधारण रहन-सहन के लोग मोटे वस्त्र तथा उच्च रहन-सहन के लोग पतले और

---

1 'खजुराहो आर्ट'-उर्मिला अग्रवाल, इस पुस्तक मे दिये गये चित्रो मे केश-विन्यास के उपर्युक्त रूपों को खोजा जा सकता है।

सुन्दर वस्त्र धारण करते रहे होगे। मोटे कपडे के लिए करयरी (2-16) पतले और सुन्दर कपडो के लिए कासिअ और किण्ह (2–59) शब्द आये है। सिल्क के वस्त्र के लिए किमिहरवसण (2-33) प्रयुक्त हुआ है। कई जगह लाख इत्यादि पदार्थो से रगे गये वस्त्रो का भी उल्लेख हुआ है। किमिराय (2-32)–लाख से रगा हुआ वस्त्र, घट्टी (2-11) – लाल कुसुम्भीवस्त्र, पोमर (6-63) – कुसु भी रग का वस्त्र। इसके अतिरिक्त कई प्रकार के वस्त्रो का उल्लेख मिलता है जिनके बारे मे स्पष्ट कह पाना बहुत ही कठिन कार्य है ऐसे शब्दो मे ओहसिअ (1-173), असगय (1-34) टिडिल्लिअ (4-10), णिअसण तथा णिअ सण (4-39), दुल्ल (5-41), माहारयण (6-132), साहुली (8-52), होरण (8-72) आदि। ये सभी वस्त्रो के प्रकार के रूप मे उल्लिलित है। इनका स्पष्ट विवेचन ग्रन्थ मे कही भी उपलब्ध नही है। एक स्थान पर एक शब्द के द्वारा वस्त्रादि को सुगन्वित बनाने वाली किसी मशीन का उल्लेख हुआ है। उसके लिए सीहलय (8-34) शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस तरह की वस्तुए बहुत प्रगतिशील और समृद्ध समाज का चित्र उपस्थित करती हैं। इन विलासिता के द्योतक शब्दो के अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनसे तत्कालीन निम्नस्तरीय रहन सहन के लोगो का परिचय मिलता है। इस कोश मे अत्यन्त गरीब जनता द्वारा पहने जाने वाले फटे चीथडे व चिन्दियो लगे वस्त्र का भी उल्लेख है। इसके लिए "डड (4-7) – सुई से सिया गया चीथडा तथा रिंडी (7-5) – चीथडा वस्त्र दो शब्द आये हैं।"

इन विशिष्ट और सामान्य वस्त्र सम्बन्धी उल्लेखो के अतिरिक्त स्त्रियो द्वारा धारण किये जाने वाली विविध वेष-भूषाओ का उल्लेख भी मिलता है। पहनावे के वस्त्रो से सम्बन्धित उल्लेखो को देखते हुए ऐसा लगता है जैसे स्त्रिया प्राय· साडी पहना करती थी। साडी की गाठ जिसे "नीवी" कहा जाता है, से सम्बन्वित कई शब्द इस कोश ग्रन्थ मे सकलित है जैसे – उच्चोलो 1-131, ओवड्डी 1-51, जण्हली 3-40, कुऊल 2-38, वजर – 7 41 ये सभी शब्द स्त्रियो द्वारा पहिने जाने वाले अधोवस्त्र की गाठ के वाचक है। इससे यह सकेत मिलता है कि स्त्रिया प्राय साडी जैसा वस्त्र ही पहनती थी। साडी के नीचे "पेटीकोट" कहे जाने वाले वस्त्र का पहिनना आजकल सामान्य है। इसके भी कई वाचक शब्द इस कोश मे सकलित है। अन्तर केवल इतना है कि शब्दो के माध्यम से जिस पेटीकोट का आशय निकलता है वह आकार मे छोटा लगता है और लगभग घुटने तक रहता रहा होगा। पेटीकोट से सम्बन्धित ये शब्द हैं— अवअच्छ 1-12, चिफुल्लणी 3-13, जहणसव 3-45, कूवल 2 43, दुण्णिअत्थ 5-43 आदि।

इन अधोवस्त्रो के विवरण को देखकर ऐसा लगता है जैसे स्त्रिया बिना सिले

हुए वस्त्रो को ही साटियो के नीचे पहनती रही होगी । आज भी गांवो की स्त्रियो के पहनावे मे इन अधोवस्त्रो का प्रयाग देखा जा सकता है । वहा-स्त्रिया प्राय: मोटे कपडे पहनती हैं । जब कभी उन्हे पतले या भीने वस्त्र पहनने पडते हैं वे आज भी नीचे पर्दे के लिए बिना सिले हुए वस्त्रो का प्रयोग "पेटीकोट" के स्थान पर करती हैं । यह पहले ही बताया जा चुका है कि देशीनाममाला के शब्दो का वातावरण प्राय: ग्रामीण है । ऐसी स्थिति मे वहा उल्लिखित पहनावे का आज भी ग्रामीण वातावरण मे प्रचलित होना आश्चर्यजनक नही है ।

आज भी ग्रामीण स्त्रिया साडी आदि अधोवस्त्रों को कमर मे टिकाए रखने या खोसने लिए तागे की करधनी (मेखला) धारण करती है । इस कोश मे कई शब्द इस करधनी के वाचक हैं जैसे — अंतरिज्ज 1-35, दागे 5-38, सपा 8-2 इत्यादि । साडी और पेटीकोट के अतिरिक्त स्त्रिया घाघरा और दुपट्टा भी धारण करती थी । इसका सकेत कोश मे सकलित इन दोनो के वाचक शब्दो से मिलता है । घाघरे के लिए घग्घर 2-107 शब्द प्रयुक्त हुआ है । उत्तरीय या दुपट्टा के लिए अहोरण 1-257 शब्द प्रयुक्त हुआ है । उत्तरीय या दुपट्टे के लिए उट्टतण 1-1037 ओड्डण[1] 1-1557 आदि शब्दो का भी व्यवहार हुआ है । स्त्रियो मे पर्दा की भी प्रथा थी यह "घूंघट" के अर्थ मे आये हुए कण्णोड्ढिआ 2-20 शब्द मे स्पष्ट है । इनके अतिरिक्त स्त्रियो द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्रों मे कठकुंची 2-18 एक ऐसा वस्त्र था जिसे गले मे लपेट कर गाठे दे दी जाती थी । यह शब्द उस वस्त्र की गाठ के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है । यह वस्त्र सम्भवत पुरुष भी धारण करते रहे होंगे, परन्तु इसका स्पष्ट सकेत ग्रन्थ मे कहीं भी नही मिलता है । रुमाल के अर्थ मे दत्थरो 5-34 शब्द देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे रुमाल का प्रयोग स्त्री और पुरुष समान रूप मे करते रहे हो । आज भी साधारण लोग इसे "दस्ती" के रूप मे जानते हैं परन्तु यह नाम तो स्पष्ट ही फारसी से लिया गया है ।

जहां तक पुरुषो के पहनने के वस्त्रो का सम्बन्ध है कोई विशेष उल्लेखनीय शब्द नहीं आये हैं । पुरुष दाडी मूछ सफाचट रखते तथा मस्तक पर तिलक लगाते थे । इस बात का सकेत शब्दो के माध्यम मे मिल जाता है । अवअक्खिअ 1-40 दाढी मूछ से सफाचट चेहरा, खड्ड 2-77 तथा मासुरी 7-130 इस बात का संकेत देने वाले शब्द हैं । दाढी मूछे तथा लम्बे-लम्बे बालो के रखने का सकेत भी प्रयुक्त शब्दो के माध्यम से मिल जाता है । मस्तक पर लगायी जाने वाले तिलक के वाचक

---

1. अवधी तथा हिन्दी की लगभग सभी प्रसिद्ध बोलियो मे यह शब्द आज भी 'ओढनी' के रूप में विद्यमान है ।

कई शब्द है जैसे टिरक, टिप्पी 4-30, दरकय – 4-14 इत्यादि । इन सभी शब्दो के अतिरिक्त व्यक्ति विशेष या उसकी जाति के परिचय के लिए कुछ विशिष्ट वेष प्रचलित थे । जिन्हे देखते ही उस व्यक्ति की जाति से परिचय मिल जाता था । पुलिन्द नाम की निम्नतम कही जाने वाली जाति से सम्बन्धित व्यक्ति अपने सिर पर बने पत्तो का दोना पहिन कर चलता था । इन पत्ते के बने दोनो के लिए कई शब्द प्रयुक्त हुए है –पत्ती, पत्तसाउआ तथा पत्तपिसालस 6-2 आदि ।

आभूषण.–इस कोश मे प्रयुक्त आभूषणवाची शब्दो को देखते हुए जिस समाज का चित्र बनता है वह अत्यन्त धनी और उच्च रहन सहन वाला रहा होगा । कोश मे आये हुए आभूषण वाची शब्द शरीर के अगो के आधार पर इस प्रकार विवेचित किये जा सकते है ।

सिर के आभूषण –चक्कल –3-20, भालयामो 3-8 ये शब्द सिर पर धारण किये जाने वाले आभूषणो के अर्थ मे आये है । मस्तक पर धारण किये जाने वाले आभूषणो के लिए सीमन्तय 8-35 शब्द आया है । इसका आशय मस्तक पर धारण की जाने वाली बेंदी से है । यह सोने और चादी दोनो ही की बनती रही होगी । आज भी यह इन्ही दो धातुओ की बनती है । गेडाली – 4-43 शब्द भी सिर पर धारण किये जाने वाले आभूषण के ही अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है परन्तु कोश मे प्राप्त विवरण के आधार पर इसके स्वरूप और किस धातु से बनता है इस बात का निर्देश प्राप्त नही होता । वालवालो 7-59 भी इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।

कानो के आभूषण —

कानो मे पहने जाने वाले विविध आभूषणो से सम्बन्धित कई शब्द इस कोश मे प्राप्त होते हैं जैसे उआली 1-90 इस कर्णाभूषण की तुलना आधुनिक हिन्दी की ग्रामीण बोलियो मे कान के आभूषण के अर्थ मे प्रचलित बाली शब्द से की जा सकती है । दोनो मे मिलने वाला ध्वन्यात्मक साम्य भी इस बात का द्योतन करता है । उग्घट्टी 1-90 शब्द भी इसी अर्थ मे आया है । इन दोनो शब्दो का सस्कृत पर्यायवाची शब्द अवतस है । कण्णवाल, कण्णाइन्धण और कण्णआस 2-23 शब्द कान मे धारण किये जाने वाले कुण्डल के अर्थ मे आये है । उदाहरण के रूप मे दी गयी कारिका से स्पष्ट है कि इन्हें प्राय पुरुषवर्ग धारण किया करता था । इसी प्रकार और भी कई शब्द कान के आभूषण के अर्थ मे आये है– जैसे तलवत्तो 5-21, वद्धओ 6-89 त्रपुट्ट नामक कर्णाभरण विशेष, वीलओ 6-93 – ताटङ्क नामक कान का आभूषण, वक्कडवध 7-51 । इन शब्दो के अतिरिक्त शख के बने हुए एक कान के आभूषण का उल्लेख है । इसके लिए सखली 8-7 शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

**गले और वक्षस्थल पर धारण किये जाने वाले आभूषण—**

"देशीनाममाला" मे सकलित आभूषणवाची शब्दो मे इस कोटि के आभूषणो का उल्लेख अत्यन्त स्पष्ट रूप मे हुआ है। गले मे इस कोटि के आभूषण पहने जाने के निर्माण मे प्रयुक्त होने वाली धातुओ का सकेत भी लगभग मिल जाता है। इस कोटि के शब्द इस प्रकार हैं—

**अज्झोलिआ** 1-33– यह मोती का बना हुआ एक प्रकार का हार होता था जो गले से पहिना जाकर वक्षस्थल तक झूलता रहता था। इसे आजकल बनने वाले मुक्ताहारो के समान ही समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार के मोती के हार के लिए एक दूसरा शब्द गेण्हिअ 2-94 भी आया है। सोने की जजीर मे बीध कर व गले मे धारण किये जाने वाले एक आभूषण विशेष का उल्लेख चड्डुलातिलय 3-8 शब्द मे हुआ है। पिशेल के अनुसार यह एक रत्न होता था जिसे सोने की जजीर मे बीधकर गले में धारण किया जाता रहा होगा। दण्डी 5-33 मे एक ऐसे आभूषण का सकेत मिलता है जो सोने के तागों या तारो से बनता रहा होगा परन्तु इस अर्थ से अलग इसे दण्डाकार – दो वस्त्रो को जोडकर सिये गये वस्त्र का वाचक भी माना गया है अत इसे आभूषण की कोटि मे रखते हुए भी हेमचन्द्र सदेह प्रकट कर देते हैं। एक जगह हिंडोल 8-76 शब्द मे कोशकार विविध रत्नो से युक्त माला का उल्लेख करता है जो सम्भवत धनी वर्ग के लोग धारण करते रहे होंगे। एक अन्य शब्द नेज्जल 2-94 भी गले मे धारण किये जाने वाले आभूषण के अर्थ मे आया है।

इन आभूषणो के अतिरिक्त सामान्य वर्ग के लोग कोडियो तथा साधारण पुष्पो से बनी हुई मालाए भी गले मे पहिनते थे। कोडी से बने आभूषण के लिए इस कोश मे उल्लरय 1-110 शब्द आया है। सीमान्त-प्रदेश के वासियो तथा आदिवासियों मे इस तरह के आभूषणो का आज भी प्रचलन देखा सकता है। पुष्प मालाओ के लिए छेली 3-31, परिहच्छी 6-42 दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

इन शब्दो के अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द भी सकलित हैं जो पुरुषो द्वारा धारण किये जाने वाले विशिष्ट आभूषणो का उल्लेख करते हैं। ऐसा ही एक अद्भुत आभूषण मक्कडबन्ध 6-127 है। यह एक प्रकार का सोने का बना हुआ जनेऊ[1] होता था जिसे पुरुष वर्ग के लोग (विशेषतया ब्राह्मण) बाये कन्धे के ऊपर

---

1. आज भी ग्रामीण जीवन मे विवाह के अवसर धनीवर्ग के लोग वर को सोने का जनेऊ उपहार में देते हैं। यह उपहार या तो 'वरिच्छा' के अवसर पर दिया जाता है या वर को कन्या के पिता के घर, प्रथम आगमन पर गणेश पूजा (द्वारपूजा) के समय कन्या के भाई और पिता द्वारा वर को धारण कराया जाता है। परन्तु यह प्रथा प्राय मिटती जा रही है।

और दाहिने कन्धे के नीचे धारण करते थे। यह आभूषण सभवत अवसर विशेष पर ही धारण किया जाता रहा होगा। सामान्य दिनो मे ब्राह्मण पुरुष वर्ग कच्चे सूत का बना हुआ जनेऊ धारण कर रहा होगा। इस तथ्य का समर्थन तग्ग 5-1 शब्द से होता है। कटि पर धारण किये जाने वाले आभूषणो मे मणिरइआ 6-126, तथा 8-2, दो शब्द उल्लेखनीय है। इनमे प्रथम विविध मणि माणिक्यो से खचित मेखला होती होगी जिसे उच्च वर्ग की स्त्रिया या वेश्याए तथा राजनर्तकिया धारण करती रही होगी। तथा साधारण चादी या अन्य धातुओ की बनी मेखला कही जा सकती है। सम्भवत इसका प्रयोग साधारण रहन-सहन के लोग करते रहे होगे। हेमचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरण से इसी प्रकार का आशय ध्वनित होता है।

हाथो की अँगुलियो मे धारण किये जाने वाले आभूषणो मे अगूठी के लिए कई शब्द आये हैं जैसे अगुत्थल 1-31, तणय मुद्दिआ 4-9 आदि। स्त्रिया कलाइयो मे चूडिया धारण करती थी। इसका सकेत चूडो 3-18 मे मिल जाता है। पावो मे पहने जाने वाले घुघुरुओ के लिए सद्दाल 8-10 तथा सिखल 8-10 दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

आभूषणो से सम्बन्धित "देशीनाममाला" की उपर्युक्त विस्तृत शब्दावली किसी युग और वर्ग विशेष की सस्कृति की ओर सकेत नही करती। इन शब्दो की स्थिति को देखते हुए इन्हे किसी युग या वर्ग विशेष की सस्कृति का परिचायक मानना ठीक नही। इतना अवश्य है कि इन्ही शब्दो को आधार बनाकर यदि तुलनात्मक विवेचन के आधार पर अन्य सास्कृतिक शब्दो के साथ मिलाकार देखा जाये तो एक अत्यन्त रुचिकर परिणाम समक्ष आ सकता है। परन्तु प्रमाण के अभाव मे इस क्षेत्र मे कुछ कहना कम से कम इन पक्तियो के लेखक के लिए तो एक असभव कार्य है। यही कारण है कि इन शब्दो का वर्णनात्मक विवेचन मात्र प्रस्तुत करके सतोष कर लिया गया है।

### खान-पान तथा घरेलू वस्तुए —

किसी भी समाज के रहन-सहन का स्तर एव उसकी सास्कृतिक ऊचाई बहुत कुछ उस समाज मे रहने वाले व्यक्तियो के खान पान और घरेलू जीवन मे दैनिक प्रयोग की वस्तुओ से ज्ञात हो जाती हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि "देशीनाममाला" मे निहित तद्भव तथा देशज शब्दो का वातावरण ग्रामीण है। यहा दैनिक जीवन के प्रयोग योग्य वस्तुओ की दी गयी सूची मे से कितने ऐसे शब्द हैं जो आज भी स्वल्प ध्वनि परिवर्तन के साथ ग्रामीण जीवन मे जैसे के तैसे

प्रचलित देखे जा सकते है। इस कोश मे निहित इस वर्ग के शब्द हमारे समक्ष जो सांस्कृतिक चित्र उपस्थित करते हैं वह आधुनिक समाज के निम्नवर्ग या निम्न मध्यम वर्ग का सांस्कृतिक चित्र है। एक बात का निवेदन यहा फिर कर देना उचित समझता हू कि इन शब्दो के आधार पर निर्धारित की गयी सस्कृति को किसी युग विशेष से जोडने का प्रयास सर्वथा असभव कार्य है। अब इनका अलग–अलग विवेचन देना उपयुक्त होगा।

खानपान–कोश मे सकलित खाने की वस्तुओ के वाचक शब्द इस प्रकार हैं–उण्हिआ 1-88–खीर, यह चावल और दूध के मिश्रण से पका हुआ मीठा भोज्य पदार्थ होता था। आज भी गावो तथा शहरो में इसका प्रचलन जैसा का तैसा है। उप्पुल्लो 1-13 यह एक प्रकार की मीठी रोटी होती है जिसे गेहू के आटे मे गुड मिलाकर या महुए का रस मिलाकर तैयार किया जाता है। हिन्दी की बोलियो में इसके लिए "पुआ" शब्द प्रचलित है।

ओल्लणी–1-54–चीनी और मसाले से युक्त दही। यह एक प्रिय खाद्य पदार्थ था। कक्वसारो तथा कक्वसो 1-14 – पके हुए चावल मे दही और तरह-तरह के मसाले मिलाकर तैयार किया गया खाद्य पदार्थ इन दोनो नामो से पुकारा जाता था।

कग्घायलो तथा करघायलो –2-22 – फटा हुआ दूध या छाछ–आजकल जिसे "छेना" भी कहते हैं। इसे सामान्य वर्ग के लोग मीठे के साथ खाया करते हैं। इससे बने विविध मिष्ठान्न आज भी प्रचलित हैं।

तीतडी या तंतडी—5-4–कढी-यह दही और आटा दोनो को मिलाकर बनाया जाता है। नमकीन खाद्य पदार्थ है। इनका प्रयोग आज भी ग्रामीण जीवन मे विवाह आदि शुभ माने जाने वाले अवसरो पर होता है।

पेंडलो 6-58–यह एक प्रकार का पेय रस होता था। हेमचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरण मे इसका प्रयोग दुग्ध के साथ हुआ है अत. यह पेय मीठा होता रहा होगा।

मंडिल्ली 6।117–आटे की बनी हुई छोटी और गोल रोटी। इस शब्द का प्रयोग सम्भवत· "भौरी" (अवधी) कही जाने वाली तथा कण्डे की आग पर पकायी जाने वाली मोटी गोल तथा छोटी रोटी से होगा। कंडे की आग का उल्लेख भी एक शब्द कोउआ 2-48 मे हुआ है।

मल्लयं 6-145 – एक प्रकार की गोल रोटी जो सभवत. बडी और मोटी होती रही होगी। ग्रामीण जीवन मे आज भी ऐसी रोटी के लिए "मलीदा" शब्द प्रचलित है

मेग्रज्ज— 6-138 – यह शब्द सामान्य रूप से खाद्यान्नो का वाचक है ।

रोट्टं —7-11 – यह शब्द चावल के आटे के अर्थ मे प्रयुक्त है । "रोटी" शब्द इसी से विकसित हुआ प्रतीत होता है ।

लाहण 7–21 – एक भोज्य पदार्थ - यह कोई मृदु भोज्य पदार्थ होता रहा होगा ।

वायणं 7।51 – उपहार मे दिया गया भोज्य पदार्थ । ग्रामीण जीवन मे आज भी किसी शुभ अवसर के बाद "बायना" बाटा जाता है । इस शब्द का विकास उपर्युक्त शब्द मे देखा जा सकता है ।

विलिजरा— 7·69 – पक्वान्न विशेष ।

अवदकरस—1-46 – सिरका – यह ईख या जामुन अथवा गुड के रस को सडा कर बनाया हुआ रस होता है जिसमे, तैयार हो जाने पर आम-कटहल तथा अन्य कच्चे फलो को डालकर भोजन की सहायक सामग्री (तरकारी या चटनी) की तरह प्रयोग किया जाता है ।

खाद्यान्नो मे चावल के लिए चाउला 3-8, तलप्फली 5-7, अणू 1-5, "चने" के लिए अणुओ 1-21, ज्वार के लिए जोवारी 3-50, उडद के लिए उडिद 1-98, गेहू के लिए उवी 1-96, हरे "शाक" के लिए माहुर 6-130, "ककडीखीरा" के लिए सीलुट्टय – 8-35 शब्द प्रयुक्त हुए हैं । जगलो से प्राप्त होने वाले कदमूल के लिए भी कदी 2-1 तथा ईख के खाने योग्य या चूसने योग्य छोटे-छोटे टुकडो के लिए इगाली 1-79 तथा गडीरी 2-82 शब्द आये हैं । गडीरी तो थोडे स्वर परिवर्तन के साथ "गडेरी" के रूप मे आज भी हिन्दी की बोलियो मे प्रचलित है । व्रजभाषा मे तो यह शब्द लगभग अपने प्राचीन रूप मे ही व्यवहृत होता है ।

भोज पदार्थो से सम्बन्वित उपर्युक्त शब्दावली समाज के जिस स्तर का द्योतन करती है वह निम्नवर्ग से ही अधिकाशत सम्बन्धित है । इस तथ्य की पुष्टि "देशीनाममाला" मे आये हुए "मदिरा" जैसे मादक पेय से सम्बन्धित शब्द भी कर देते है । मदिरा और उससे सम्बन्धित विविध पात्रो का प्राप्त विवेचन, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि इन शब्दो से सम्बन्धित समाज के लोग अशिक्षित तथा सभ्यता से कोसो दूर रहे होगे । "मदिरापान" और "द्यूतक्रीडा" दो कार्य ऐसे है जिन्हे समाज मे बडी हेय दृष्टि से देखा जाता है । इन्ही दो निम्न स्तरीय, यदि कहा जाये तो गर्हणीय, कार्यों से सम्बन्धित अनेको शब्द इस कोश मे यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए देखे जा सकते है । अब इनका क्रमिक विवेचन कर देना उपयुक्त होगा ।

**मदिरा**—इस कोश मे मदिरा के कई प्रकारो का उल्लेख हुआ है। उनका विवरण इस प्रकार है।

जगल—3-41 गन्दी शराव, कल्ला[1] तथा कविस 2-2—सभवत महुए की शराव। तहरी[2] 5-2 शब्द भी गन्दी शराव के लिए व्यवहृत हुआ है। दग्ररी 5-34 तेज शराव। पच्चुच्छुहणी – 6-35 – नयी शराव। पिटठखउरा 6-50 – रद्दी और सडी शराव। मइमोहिणी (मति मोहिनी) तथा मई 6-113 – अच्छी और तेज नशा करने वाली मादक सुरा। सविस 8-4 – सुरा।

**मदिरा-पात्र**—मदिरा वाटने वाले अनेको पात्रो से सम्बन्धित शब्दो का सकलन इस ओर सकेत करता है कि इन शब्दो से समाज मे, 'सुरापान' का विशेष प्रचलन था। इस कोश मे उल्लिखित मदिरापात्र इस प्रकार हैं—

आवरेडआ 1–71, उवएइआ 1–118, पणिआ 6–3 ये तीन शब्द सुरा वाटने के वर्तन के अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। टोक्कण 4-4, पारक 6-41 तथा पारय 6–38 सुरा नापने के वर्तन वताये गये हैं। खड 2–78 तया वारो 7–54 सुरापान करने के पात्र के रूप मे उल्लिखित हैं।

सुरापान से सम्बन्धित इन शब्दो के आधार पर एक ऐसे समाज का चित्र उपस्थित होता है, जहा के लोग सामाजिक सभ्यता से कोसो दूर रहकर आदिमवासियो का सा असभ्यतापूर्ण जीवन विताते रहे होंगे। 'देशीनाममाला' का शाब्दिक वातावरण सम्पूर्ण रूप से ऐसे ही समाज का चित्र भी उपस्थित करता है, जिसका निवासी अत्यन्त कामुक, लम्पट, जुआरी तथा आचरण भ्रष्ट रहा होगा। जव तक इन शब्दो की ऐतिहासिकता का पता नहीं चलता कुछ भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। परिणाम के रूप मे इतनी ही सम्भावना की जा सकती है कि आज की ही भाति प्रत्येक युग मे एक ऐसा वर्ग रहा है जो सामाजिक सभ्यता से कोसो दूर रहकर गन्दा जीवन विताने मे ही आनन्द प्राप्त कर रहा है। ये शब्द किसी सम्पूर्ण समाज का न सही उसके एक अ श निम्नवर्गीय समाज का चित्र उपस्थित करने मे तो समर्थ हैं ही।

---

1. महुए की शराव का व्यापार करने वाले आज भी 'कलार' या 'कलवार' कहे जाते हैं। इस नवीन जातीय नाम का विकास सम्भवत 'कल्ला'- महुए की शराव का व्यापार करने के कारण ही हुआ होगा। यह जाति आजकल भी कहीं कहीं अपने व्यापार को प्रारम्भ किये हुए हैं। हिन्दू जाति व्यवस्था के अन्तर्गत इसे अस्पृश्य जाति माना गया है।

2 'तहरी' शब्द अवधि मे देर तक आग पर चढाये रहने वाले वर्तन के लिए आता है। इसका प्रयोग व्यंजना से देर तक पकने वाले और गन्दे भोजन के अर्थ मे होता है। शराव वनाने की प्रक्रिया भी काफी लम्बी होती है। इनके वर्तनो को दो दो तीन-तीन दिन तक आग पर चढाये रखा जाता है।

द्यूत क्रीडा

सुरा से सम्बन्धित शब्दो की भाति इस प्राकृत कोश मे द्यूत-क्रीडा से सबधित शब्दो की भी कमी नही है। इन शब्दो का क्रमिक उल्लेख समीचीन होगा। अवेट्टी 1–7, आऊडिअ 1–68, आफरो 1-63, ऊआ 1–139, ओक्कारणी 1–59 ये शब्द द्यूत क्रीडा के लिये व्यवहृत हैं। द्यूतक्रीडा के अलग-अलग अड्डे होते थे। इसका सकेत टेंटा 4–3 (जूआघर) शब्द के प्रयोग से मिलता है। सकलित शब्दो को देखते हुए ऐसा लगता है जैसे यह कोई निषिद्ध व्यापार न रहा हो। स्वतत्र जुआ घरो और उनके मालिको[1] के उल्लेख इस तथ्य की पुष्टि करते है। एक जगह कत्ता (2–1) जुए मे खेली जाने वाली कोडी का उल्लेख देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोडी से ही जुआ खेलने का प्रचलन अधिक रहा हो। आज भी ग्रामीण जीवन मे यह कोडी से खेला जाने वाला जुआ – हजारो घरो को तबाह कर देता है। मद्यपान और द्यूत क्रीडा से सम्बन्धित उपर्युक्त शब्दावली, इन शब्दो का प्रयोग करने वाले वर्ग के लोगों के रहन-सहन तथा आचार विचार को स्पष्ट करने मे सर्वथा समर्थ है। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि "देशीनाममाला" सकलित, खान-पान का द्योतन करने वाली शब्दावली आधुनिक ग्रामीण जीवन के स्तर से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। भारत जैसे विस्तृत राष्ट्र मे जहा अनेको सुसस्कृत जातिया रहती हैं, इनके बीज आज भी खोजे जा सकते है। भारत मे अनेको ऐसे रहन-सहन के लोग मिलते है जिनकी तुलना इस कोश मे सकलित शब्दो के वातावरण से अच्छी तरह की जा सकती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन शब्दो का सम्बन्ध समाज मे युग-युगो से रहती आयी निम्नवर्ग और निम्न मध्यम वर्ग की जातियो से है।

घरेलू वस्तुए

'देशीनाममाला' की गृहस्थी से सम्बन्धित सामान्य शब्दावली अधिकाशत ग्रामीण जीवन से ही सम्बन्धित है। इसमे अनेको शब्द तो ऐसे हैं जिनका प्रचलन आज भी उसी रूप मे और उसी अर्थ मे होता चला आ रहा है। इन शब्दो की अपरिवर्तित विकासमान अवस्था को देखते हुए इन्हे भी किसी युग विशेष से सबद्ध कर पाना एक अत्यन्त दुरूह कार्य है। कोश मे आयी हुई घरेलू वस्तुओ से सम्बन्धित शब्द इस प्रकार है—

घरो मे प्रयुक्त होने वाली सूर्पादि सामान्य वस्तुओ के लिए यहा अवट्ठुस 1-30 शब्द व्यवहृत हुआ है। इसके अन्तर्गत धातुओ के बर्तन आदि भी आ जाते है।

---

1. डभिओ 4 8, पाउग्गिओ 6-42 तथा पाउग्गो 6 41, शब्द जुआघर के मालिक के अर्थ में सकलित हैं। इनका उल्लेख इसी अध्याय के प्रारम्भिक अशो मे किया जा चुका है।

ग्रामीण जीवन के लोग श्रमजीवी होते हैं। बहुत प्राचीनकाल से ही वे अपनी गृहस्थी मे प्रयोग योग्य वस्तुओ को स्वय ही तैयार करते रहे हैं। उनके जीवन मे मशीनो को बहुत कम स्थान मिला है। खाने-पीने की वस्तुओ को तैयार करने मे वे तरह-तरह के उपकरण प्रयोग मे लाते हैं। ऐसे कुछ उल्लेखनीय उपकरण इस प्रकार हैं—

अवहड- 1-32- मूसल-यह लकडी का बनता है। इसके निचले किनारे पर लोहे की साम (कची-2-9) लगी होती है। यह धान की कुटाई मे काम आता है, कुटाई मे एक और भी उपकरण की आवश्यकता पडती है जिसे 'काडी' कहते हैं। यह पत्थर[1] या लकडी की बनती है। इस कोश मे लकडी की बनी हुई 'काडी' के लिए आग्रर -1-74 शब्द प्रयुक्त है। इन दो उपकरणो के अतिरिक्त कुटाई मे काम आने वाला एक अन्य उपकरण 'ओखली' है। इसके लिए यहां उक्खली 1-88 शब्द आया है। यह शब्द थोडे ध्वनिपरिवर्तन के साथ आज भी प्रचलित है। इसी तरह गन्ने और तेल की पेराई मे काम आने वाला उपकरण कोल्हुओ 2-65- कोल्हू है। यह प्राय पत्थर का होता था। यह शब्द भी 'कोल्हू' के रूप मे थोडे ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ ज्यो का त्यो उसी अर्थ मे प्रचलित है।

अन्य घरेलू वस्तुओ मे कट्टारी 2-4- छुरी, कडच्छु 2-7- करछुल, कडतला-2-19- हंसिया (अनाज की फसल आदि काटने मे काम आने वाला अर्द्धचन्द्र आकृति का लोहे का बना हुआ उपकरण विशेष), कडनर -2-16 पुराने सूप आदि उपकरण कडमुअ -2-20- एक बर्तन, कमढ 2-55- दही रखने का पात्र कमणी -2-8- सीढी करल -2-4- पानी का बर्तन, कलवू 1-12- लोकी का बर्तन, कोडिअ -2-47- छोटा करवा ( इसे अवधी मे 'परई' भी कहते हैं -यह मिट्टी की बनायी जाती है ) गायरी, गोआ तथा गग्गरी 2-99- गगरी (मिट्टी का बडा- जो आज भी गावो मे पीने का पानी रखने और अनाज इत्यादि भर कर सुरक्षित रखने के काम मे आता है) गोली 2-95- मथानी- यह लकडी की बनायी जाती है और छाछ बिलोने के काम मे आती है, ढुवो -4-11- नारियल का बना हुआ पात्र-यह पात्र बड़े बर्तनो मे से दही और मट्ठा आदि द्रव पदार्थों को निकालने के काम मे आता है 'अवधी' मे इसे 'नरियरी' कहा जाता है, ढेंकी-4-15- ढेंकी-यह लकडी के लम्बे ठोस पटरे से बनाया गया यन्त्र विशेष होता है। इसकी तुलना 'सी-सा' से की जा सकती है। इसे धान कूटने के काम मे लाया जाता है। शब्द को देखकर ही पता चल जाता है कि इसमे किसी भी प्रकार का भाषा वैज्ञानिक परिवर्तन नहीं हुआ है। यह ज्यो का त्यो अपने प्राचीन स्वरूप और अर्थ मे आज भी व्यवहृत होता है। णेलिच्छी 4-44 पानी निकालने की

1. पत्थर की बनी हुई काडी के लिए लवडुओ तथा लवजण्णो 1-26, दो शब्द व्यवहृत हुए हैं।

चर्सी -इसे 'रहट' भी कहते हैं। गावों में यह सिचाई का आसान और बहुप्रचलित उपकरण है।

दुवकुयकरिणआ-5-48- उगालदान, दुद्धिणिआ -5-54 तेलहडी (मिट्टी की बनी हुई तेल रखने की हाडी), पच्चूढ तथा परिअली 6-12- थाली पोत्ती -7-70- शीशा या काच, वोहरी -6-97- झाडू, पूरण 6-56- सूप ।।

इन नित्य प्रति की प्रयोग योग्य घरेलू वस्तुओ के अतिरिक्त कुछ गृह उद्योगो से सम्बन्धित शब्द भी आये हैं। ऐसे उद्योगो मे कपडा बुनना और लोहे के छोटे-मोटे काम आदि है। कपडे की बुनाई से सबद्ध–पूरी 6–56– जुलाहे का यत्र, ततुक्खोडी 5-7- कपडा बुनने की मशीन का एक यंत्र विशेष, पलस 6-70- कपास का फल, पम्हो 6-4 रूई इत्यादि शब्द कहे जा सकते है। एक जगह पूणी 6-56- पूनी (रूई की बनी हुई) का उल्लेख देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे हाथ से सूत कातने का कार्य भी लोग बहुत पहले ही से जानते रहे हो। इस शब्द का सबध तत्कालीन गुजरात के जीवन मे भी हो सकता है। गाधी जी ने इस कला पर बहुत जोर दिया था इसका कारण, हो सकता है–गुजरात के जन–जीवन मे प्रचलित इस व्यवसाय की प्रसिद्धि ही रही हो। लोहे के धन्धे से सम्बन्धित पवद्ध 6-11- लोहे का घन शब्द आया है।

## सामाजिक उत्सव एव खेलकूद

'देशीनाममाला' मे विभिन्न सामाजिक उत्सवो से सम्बन्धित कई शब्द आये है। ये उत्सव अपने आप मे बहुत बडी सास्कृतिक महत्ता छिपाये हुए है। आषाढ मास मे गौरी पूजा के अवसर पर होने वाले उत्सव को भाउअ 6-103, श्रावणमास मे शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को होने वाले उत्सव को वोरल्ली 7-18, भादो मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को मनाये जाने वाले उत्सव को णेडुरिया 4-45, कार्तिक के कृष्ण पक्ष मे सम्पादित होने वाले महोत्सव को महालक्खो 6-127, कार्तिकमास की शरत्पूर्णिमा पर होने वाले उत्सव को पोआलओ 6-181 कहा जाता था। इस उत्सव के अन्तर्गत पति-पत्नी के हाथ से मीठे 'पुओ' का भोजन करता था। माघ के महीने मे एक उत्सव मनाया जाता था जिसमे ईख की दातून की जाती थी। इसे अवयारो (1–32) कहा जाता था, वसतागमन पर होने वाले उत्सव को फग्गू (6–82) कहते थे। एक अन्य उत्सव पर नव दम्पत्ति एक दूसरे का नाम लेते थे इसे लय (7–16) कहा जाता था। एक ऐसे उत्सव का उल्लेख हुआ है जिसमे तमाम स्त्रियां एकत्र होती थी। इनमे से प्रत्येक अपने पति का नामग्रहण करती थी, जो स्त्री अपने पति का नाम न ले पाती थी उसे सभी मिलकर पलाश की डाली से पीटती थी। इस

उत्सव के लिए णवलया (4–21) शब्द आया है।[1]

इस कोश मे सकलित कुछ रीति-रिवाज सूचक शब्द भी उल्लेखनीय हैं। एमिणिआ (1–145) शब्द ऐसी स्त्री का वाचक है, जो अपने शरीर को सूत से नाप कर उस सूत को चारो दिशाओ मे फेंकती है। यह सम्भवत किसी प्रकार की अभिचार क्रिया रही होगी जिसे करने वाली स्त्री समाज मे अत्यत पतित समझी जाती रही होगी। आणदवडो (1–72) शब्द का अर्थ है जिसका विवाह छोटी अवस्था मे हो जाय, वह स्त्री जब प्रथम बार रजस्वला हो उसके रजोलिप्त वस्त्र को देख कर पति या पति के अन्य कुटुम्बी जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह आनन्द इस शब्द से व्यक्त होता है। खिक्खिरी और झज्झरी (क्रमश: 2–73 और 3–34) शब्द ऐसी छडी के वाचक हैं, जिसे चाण्डाल कहे जाने वाले व्यक्ति अपनी अस्पृश्यता का सकेत करने के लिए, लिये रहते थे। इसी प्रकार 'शबर' जाति के लोग अपने सिर पर पत्त का दोना (टोपी की भाति) रखकर चलते थे इसके लिए ईसिअ (1-84) शब्द व्यवहृत हुआ है। पुलिन्द जाति के लोग भी इसी प्रकार का दोना सिर पर रखकर चलते थे। इनके सिर पर रखे हुए दोने के लिए पत्ती, पत्तपसाइआ, तथा पित्तपिसालस (6-2) तीन शब्द आये हैं।[2]

इस प्राकृत कोश मे कुछ खेलवाचक शब्द भी सकलित हैं। इन शब्दो से उस काल के खेल विपयक मनोरजन के साधनों पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। आखो को थका देने वाले फिर भी अत्यत प्रिय लगने वाले खेल को गदीणी (2–83) कहा गया है। लुकाछिपी के खेल के लिए ओलुकी (1–153) शब्द आया है। ऊना-पूरा या मुट्ठी मे पैसे लेकर अन्य व्यक्ति से उसकी सम या विपम संख्या के बारे मे पूछना अवेट्टी (1–7) कहलाता था। एक पैर से चलने वाले खेल को हिचय तथा हिविअ (6-68) कहा गया है।

इन विभिन्न उत्सवो और रीति-रिवाजो से सम्बन्धित शब्दो को देखकर जिस सास्कृतिक चित्र की कल्पना मस्तिष्क मे उभरती है– वह प्राचीनकाल से प्रचलित विभिन्न सस्कृतियो का मिश्रण मात्र है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस कोश का सकलन

---

1. इसी उत्सव से मिलता जुलता उत्सव भादो के महीने मे कजरी तीज के अवसर पर अब भी सम्पन्न होता है। उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों में इस दिन ससुराल से लौटकर आयी हुई नव-विवाहित कन्याए अपने पतियों का नाम लेती हैं। परन्तु इसमे मार-पीट जैसी कोई बात निहित नहीं होती।

2. 'पुलिन्द' जाति अत्यत प्राचीन है। 'शुन शेप आख्यान में (जो कि ब्राह्मण साहित्य का प्रसिद्ध और प्राचीन आख्यान है) इन्हे विश्वामित्र के निष्कासित पुत्रो के रूप मे उल्लिखित किया गया है। सास्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से यह शब्द इस कोश के शब्दो की प्राचीनता सिद्ध करने को पर्याप्त है।

12 वी सदी मे किया है । वे एक अद्भुत अध्ययनशील ऋषि थे । उन्होने इन शब्दो के सकलन मे अवश्य ही निम्न वर्गीय सस्कृतियो से सम्बन्धित ग्रन्थो का अध्ययन किया होगा । ऐसे ग्रन्थ आज उपलब्ध नही हैं । ऐमी स्थिति मे निष्कर्ष रूप मे केवल यही कहा जा सकता है कि इन शब्दो मे 12 वी सदी की गुजरात के निवासियो की निम्न-वर्गीय सस्कृति के साथ ही उनसे भी प्राचीन काल से प्रचलित एव परम्परा से प्राप्त सस्कृति के अनेको शब्द हैं । पीछे 'पुलिन्द' जाति के उल्लेख के साथ ही यह बताया जा चुका है कि यह जाति उत्तर वैदिक काल से, उल्लेखो मे मिलने लगती है । इसी तरह इससे भी प्राचीन जातियो की सास्कृतिक शब्दावली युग-युगो से जनभाषाओ मे मिलती रही है जिसका ऐतिहासिक क्रम से कही उल्लेख न प्राप्त होने के कारण कुछ निश्चयपूर्वक कहा भी नही जा सकता । ऐसे ही अनेको प्राचीन एव तत्कालीन गुजरात के निम्न वर्गीय रहन-सहन और रीति-रिवाजो से 'देशीनाममाला' के इन शब्दो को सबद्ध किया जा सकता है । इस कोश के शब्दो की बहुत बडी मात्रा समाज मे प्रचलित टोने टोटके, तथा विविध क्लिष्ट साधनाओ से सबधित हैं । इसके अतिरिक्त अनेको शब्द समाज की उन्मुक्त कामुकता, विविध रत्यादि क्रियाओ तथा दुराचारो को व्यक्त करने वाले हैं । इन सभी बातो को देखते हुए इन शब्दो के वातावरण की तुलना यदि अथर्ववेदीय शब्दो के वातावरण से की जाये तो दोनो मे बहुत कुछ समानता मिलती है । सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि ये शब्द बहुत प्राचीन काल से परम्परा मे विकासमान अधिकाशत निम्नवर्गीय सस्कृति के द्योतक है । इस कथन की पुष्टि आगे विवेचित धार्मिक शब्दावली से भी हो जायेगी ।

**धार्मिक आचार-विचार और देवी-देवता :**

'देशीनाममाला' के विशाल शब्द भण्डार के बीच कुछ शब्द धार्मिक रीति-रिवाजो और विभिन्न देवी-देवताओ के वाचक हैं । इस प्रकार के शब्द किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित नही है अतः इनके आधार पर किसी विशिष्ट समाज का प्रारूप नही खडा किया जा सकता । कही शैव धर्म के वाचक शब्द है तो कही जैन धर्म के । इसी प्रकार कही शाक्त देविया हैं, तो कही पुराणो मे अत्यन्त प्रसिद्ध विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, काम[1] आदि देवता हैं । इस कोटि के शब्दो मे अधोलिखित देवता विशेषतया उल्लेखनीय हैं ।

प्रेम के देवता काम के लिए कई शब्द हैं जैसे — ईसरो 1-84 ऊसण-1-139, कतू 2-1, कुरुकुरिअ 2-42, मुरुमुरिअ 6-135, मम्मणो–6-141,

1. 'देशीनाममाला' की देवताओ से सम्बन्धित शब्दावली मे 'काम' से सम्बन्धित शब्दो की भरमार है । यह देवता निम्न चित्तवृत्ति वालो के लिए ही विशेष पूज्य होता है ।

मयणिवासो 6-126 आदि । शैव कापालिक के लिए अगहण 1-82 तथा शिव भक्तो के लिए वंगच्छा 7-39 शब्द आये हैं । ये दोनो शब्द इस तथ्य का उद्घाटन करते है कि समाज मे पौराणिक त्रिदेवो (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) मे सृष्टि का सृजन एव कल्याण करने वाले शिव तथा शक्ति के अधिष्ठाता रुद्र रूपी शिव, इन दोनो ही रूपो की उपासना का प्रचलन था । शिव के रुद्र[1] रूप के लिए सिद्धत्थो 8-31 शब्द व्यवहृत हुआ है । शिव पुत्र कार्तिकेय और गणेश के लिए क्रमश. चउक्करो 3-5 तथा हेरिंवो 8-72 प्रयुक्त हुए हैं ।

ब्रह्मा के लिए थेरो 5-29 पसेवओ 6-22 तथा विसारी 7-62 तीन शब्द सकलित हैं । इनमे विसारी शब्द कमल पर आसन लगाकर वैठे हुए ब्रह्मा का वाचक है । यह शब्द तद्भव है । विश का अर्थ कमलनाल होता है ।

विष्णु के लिए इस कोश मे णक्खत्तणेमि 4-22 भट्टिओ 6-100 तथा सुवण्णविन्द 8-40 शब्द आये हैं ।

इन्द्र के लिए घणवाही 2-107 और इन्द्राणी के लिए घु बुमारा 5-60 तथा इन्द्र के पुत्र जयत के लिए पइहनो 6-19 शब्द प्रयुक्त हुआ है । इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए एक उत्सव का भी उल्लेख है जो सम्भवत वर्षाकाल मे वृष्टि न होने के कारण किया जाता रहा होगा । इस उत्सव के लिए इ दड्ढलओ 1-82 शब्द आया है ।

प्रसिद्ध वैदिक देवता वरुण को जल के देवता के रूप मे उल्लिखित किया गया है । मिअंगो (8-31) तथा सुरजेट्ठो और फेणववो फणनडो 6-85 – समुद्र और पश्चिम दिशा के देवता वरुण । कृष्ण के वडे भाई वलराम का वाचक शब्द उसणसेणो – 1-118 है ।

देवियो मे चामुण्डा के लिए णिम्मसा 4-35, दिव्वासा 5-39, चण्डी या दुर्गा के लिए सूलत्थारी (शूलधारिणी या शूलधरी), चन्द्रमा की स्त्री के लिए माणमी 6-147 शब्द सकलित है । एक स्थान पर देवमाताओ के लिए छाइओ 3-26 शब्द व्यवहृत हुआ है ।

इन देवताओ से अलग मनुष्यो को विविध प्रकार की वाधाएं पहुँचाने वाले राक्षसो तथा भूत प्रेतो एव पिशाचिनियो का भी उल्लेख कई शब्दो मे हुआ है । इन वाधक राक्षसों मे राहु के लिए कई शब्द आये हैं जैसे अब्भपिसाओ 1-42 गहकल्लोलो 2-86, मिंधुओ 8-31 तथा पिशाच के लिए ढढरो तथा ढयरो

1. रुद्र के लिए दूसरा व्यवहृत शब्द 'पहरणो' 6-23 है ।

4-16, गिज्जो 4-25 परेश्रो 6-12, मरुन्तो 6-114 । असुर या राक्षस के लिए पुरिल्लदेवो 6-55, जग्गोहणो 3 43 । दानव के लिए अयवक्को, अयगो 1-6 । प्रेतिनी के लिए उग्गी 1-98 । डाकिनी के लिए सेअगिआ 7-12 तथा लामा 7-21 ।

"देशीनाममाला" का एक शब्द अत्यत चौंका देने वाला है । घम्मग्रो— 5-63 । ऐसे पुरुष के वाचक शब्द के रूप मे यवहृत हुआ है जिसे चामुण्डा को वलि दी जाने वाली है । यह शब्द भारत मे बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित नर वलि का सकेत देने वाला है । आर्येतर जातियो द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठानो मे नरवलि दी जाती थी, इसके अनेको प्रमाण ढूढ जा सकते है । यह शब्द भी उस कृत्य की प्रामाणिकता को द्योतित करने वाला है ।

ऊपर उल्लिखित वाधक दुष्टात्माओ तथा वुरे ग्रहो से सामान्य रूप से लोग भयभीत रहते थे – इसका सकेत अहिमिअ 1-30 मे मिलता है । इसका अर्थ प्रेत या ग्रह वाधाओ से डर कर रोना है ।

धार्मिक जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले अन्य शब्द इस प्रकार हैं —ऐराणी 1-47 – भक्ति मे लगी हुई स्त्री । कन्दल 2-4 – कपाल । करक – 2-17 भिक्षा पात्र । चोरली – 3-19 – श्रावण कृष्ण चतुदर्शी को किया जाने वाला व्रत विशेष । छिप्पती, छिप्पटी 3-37 – एक धार्मिक व्रत । दुक्कर – 5-42 – माघ के महीने मे वहुत प्रात ही किया जाने वाला धार्मिक स्नान । भूअण्णो – 6-107 – जोते हुए खेत मे किया जाने वाला यज्ञ । महालवक्खो –6-127 –क्वार का श्राद्धपक्ष । जक्खरत्ती (यक्षरात्रि), 3-43 – दीपावली का त्यौहार । मायदी 6-129 – श्वेतवस्त्रा सन्यासिनी ।[1] वत्थी 7-31 आश्रम । विडकिआ - 7-67– यज्ञ-वेदी । सण्णोज्भो 8-6 - एक यज्ञ विशेष इसका अर्थ धन के अधिपति कुबेर का सेवक भी है । हो सकता है यह यज्ञ भौतिक समृद्धि (धन-धान्यादि) के लिए किया जाता रहा हो । सारी – 8-22 – ऋषिपीठ — यह ऋषियो के रहने और अध्ययन अध्यापन तथा धार्मिक चिन्तन का स्थान रहा होगा । साइअ – 8-25 – सस्कार या शिक्षा । आज भी कोई शुभ कार्य करने के पहले या यात्रा पर जाने के पूर्व किसी ज्ञानी से लोग "साइत" पूछते है । इन दोनो शब्दो मे थोडे ही अर्थ परिवर्तन के साथ सम्वन्ध स्थापित हो जाता है ।

---

1. इस शब्द का व्यवहार सम्भवत श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे दीक्षित जैन धर्मावलम्बिनी महिला के लिए किया जाता रहा होगा ।

धर्म के क्षेत्र मे पूजागृहो और मन्दिरो का बहुत महत्त्व रहा है। इस कोश मे मन्दिरो के वाचक कई शब्द संकलित है। णीमारो 4-41 — एक खुला हुआ देव गृह या मण्डप। अहिहर 1-57 — मन्दिर, वयरण 7-85 तथा साणूर 8-24 शब्द भी मन्दिरवाची हैं। इन मन्दिरो मे प्रतिमा की पूजा होती थी। प्रतिमा के लिए ठविग्रा – 4-5 शब्द सकलित है। हेमचन्द्र के समकालीन गुजरात के लिए देव-मन्दिरो की स्थिति सावारण वात है।

### साहित्य और कला

साहित्य और कला किसी भी समाज या जाति की सस्कृति के श्रेष्ठ प्रतिमान हैं। आचार्य हेमचन्द्र गुजरात जैसी समृद्ध विद्या-भूमि मे उत्पन्न हुए थे वहीं शिक्षा ग्रहण की और वही अपने सुदीर्घ कार्यकाल का यापन किया। हेमचन्द्र के समय का गुजरात साहित्य और कला की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। उसकी इस समृद्धि का द्योतन आचार्य हेमचन्द्र और उनके समकालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे भली-भाति किया है। जहां तक देशीनाममाला मे सकलित इस कोटि के शब्दो का सम्बन्ध है एक वार फिर अत्यन्त खेद के साथ कहना पड रहा है कि इनसे किसी युग विशेष के समाज विशेष या जाति विशेष की सस्कृति का द्योतन नहीं होता अपितु ये समाज मे रहने वाली शिष्ट तथा अशिष्ट-शिक्षित तथा अशिक्षित दोनो वर्गों की सस्कृति का द्योतन करते हैं।

साहित्य और कला से सम्बन्धित "देशीनाममाला" के शब्दो मे ज्योतिष, गणित, काव्य, साहित्यिक चर्चा, जादू टोना, नृत्य, गीत, वाद्य आदि से सम्बन्धित शब्द उल्लेखनीय हैं। इनका क्रमिक उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है — एक स्थान पर आमोरओ (1-66) शब्द आया है इसका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो अपने विषय का विशेषज्ञ हो। पत्तट्ठो (6-69) शब्द भी बहुशिक्षित या विशेषज्ञ का ही अर्थ देता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि अलग-अलग विद्याओ के अलग-अलग विशेषज्ञ होते रहे होंगे। इन विशेषज्ञो के बीच आपसी विमर्श करने के लिए की जाने वाली सभा या गोष्ठी के लिए घडिअघडा और घडी (2-105) दो शब्द आये हैं। समाज मे प्रचलित भिन्न-भिन्न विद्याओ के बीच ज्योतिष का विशिष्ट महत्त्व रहा होगा। इसमे सम्बन्धित शब्दो मे गणयमहो (2-86) – विवाह गणना करने वाला ज्योतिषी उल्लेखनीय है। एक स्थान पर ग्रहपरिवर्तन का उल्लेख हुआ है इसके लिए हत्थिवओ – (8-63) शब्द प्रयुक्त हुआ है। गणितशास्त्र से सम्बन्धित दो शब्द पचावाण्णा पण्णव (6-27) – 55 की गिनती तथा कोणू (2-45) –8– एक रेखा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जहिमा

(3-42) एक ऐसे विदग्ध पुरुष का वाचक है जो गाथाए रचने मे (पद्य रचना मे) अत्यन्त पटु हो। गीत के लिए उन्वाउल (1-34) तथा उच्च स्वर मे किये जाने वाले गान के लिए श्रोहीरिश्र (1-163) शब्द व्यवहृत हुए हैं रासनृत्य के लिए कुद्दणो[1] (2-38) तथा गाथारस नृत्य के लिए तद्दिश्रचय (5-8) शब्द श्राये हैं। घु घरू के लिए पिंश्रल (4-28) शब्द प्रयुक्त है।

"देसीनाममाला" मे वाद्य यन्त्रो से सम्बन्धित शब्दो की भरमार है। ये वाद्ययन्त्र अलग-अलग सामाजिक अवसरो पर प्रयोग किये जाने वाले तथा भिन्न धातुश्रो श्रौर प्राकृतिक वनस्पतियो की सहायता से बनाये जाते थे। इन वाद्य यत्रो मे निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय है — ढोल के लिए भभा (6-100), भु ख या भाभ के लिए भुजो (3-58) तथा तुणश्रो (5-15), एक विशेष प्रकार की वीणा के लिए टसरी (4-14), मुख मे बजाये जाने वाले तथा तृण (नरकुल श्रादि) से बनने वाले वाद्य के लिए पिनु री श्रौर पिहुल (6-47), दुर्दरक नामक वाद्य के लिए वायउघडो (7-61) श्रादि शब्द सकलित है। कुछ ऐसे भी वाद्य यत्रो के वाचक शब्द है, जिनके स्वरूप के बारे मे कुछ भी निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। ऐसे शब्दो मे पिहुण्डो (6-79), लुरणी (7-24) श्रादि उल्लेखनीय है। बच्चे के जन्म अवसर पर बजाये जाने वाले वाद्य के लिए थेवरिश्र (5-29) शब्द सग्रहीत किया गया है।

इन शब्दो के श्रतिरिक्त इस प्राकृत-कोप मे ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित शब्दो का भी श्रभाव नही है। वश्रोउच्क तथा वश्रोश्रत्थ (7-50) – विपवत रेखा-भूगोल के शब्द है। गणित से सम्बन्धित शब्दो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार प्राकृतिक वस्तुश्रो पशु-पक्षियो तथा अन्य सासारिक वस्तुश्रो के ज्ञान की सूचना इन शब्दो के माध्यम से मिलती है। एक स्थान पर सेमल की रूई से स्त्री श्राकृति (गुडिया) के निर्माण का सकेत एक्कसिंबली (1-146) शब्द मे मिलता है। इसी प्रकार कीमती पत्थरो को शान पर चढाकर उन्हे तरासना श्रौर उनसे विविध मूल्यवान वस्तुश्रो के निर्माण का भी सकेत श्रोप्पा 1-148 शब्द मे देखा जा सकता है।

"देशीनाममाला" मे सकलित "साहित्य श्रौर कला" से सम्बन्धित शब्दावली यद्यपि श्रल्पमात्रा मे है। फिर भी जितने शब्द मिलते है उनकी अपनी विशिष्ट

---

1. हिन्दी 'कूदना' क्रिया का विकास इस शब्द मे देखा जा सकता है। रासनृत्य मे होने वाले त्वरित अगसचालन और पावो के पटकने तथा उछलने कूदने के कारण ही इस नृत्य का यह नाम पडा होगा। आज भी रासनृत्य मे यही क्रिया प्रधानतया देखी जाती है।

सांस्कृतिक महत्ता है। आज भी यदि इन शब्दों का विकास विभिन्न प्रान्तीय संस्कृतियों की शब्दावली में खोजा जाय तो अवश्य ही कहीं न कहीं प्राप्त हो जायेंगे। विषय विस्तार के कारण यहाँ इन सांस्कृतिक शब्दों का विवरण मात्र दे दिया गया है। इस के सभी शब्दों का तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचन एक अत्यन्त दुरूह तथा अपने आप में भविष्य के अनुसंधित्सुओं के लिए एक स्वतंत्र कार्य है।

### ग्रामीण कृषक-जीवन से सम्बन्धित शब्दावली

"देशीनाममाला" के शब्दों से सूचित होने वाला समाज अधिकांश रूप में एक खेतिहर समाज है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उदाहरण की गाथाओं में होता है। वहां आये हुए हालिक युवक युवतियों के वर्णन खेतों के बीच उनकी उन्मुक्त काम क्रीडाओं में एक खेतिहर वर्ग का चित्र ही उभर कर सामने आता है। जहां तक कृषि कला से संबंधित शब्दावली का प्रश्न है, इसके लिए भी पर्याप्त शब्द इस कोश ग्रन्थ में मिल जाते हैं। खेतों की सिंचाई के काम आने वाली पानी की चर्खी के लिए कुल चार शब्द आये हैं – आगत्ती (1-63), उक्कती, उक्कद तथा उक्का (1-87)। सिंचाई के लिए बिना जगत के (मुंडे) का व्यवहार होता था, इसका संकेत उत्तूहो (1-94)–बिना जगत का कुआ–में मिलता है। एक शब्द उच्छुअरण (1-117) में दूर दूर तक फैले हुए ईख के खेतों का संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित और भी अनेकों प्रकार के पशु पक्षियों और पेड़ पौधों से सम्बन्धित शब्द बहुतायत से मिलते हैं। इनका अलग-अलग उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा।

### पेड़-पौधे और फल-फूल :

आअल्ली (1-61) – एक लता या झुरमुट, आरणाल (1-67) – कमल आवगो (1-62) तथा कन्धाडो (2-53) – बहेड़े का वृक्ष, उम्मत्तो (1-89) धत्तूर, कंकेल्ली (2 12) – अशोक वृक्ष, ककोड (2-7) तथा कच्छुरी (3-11)–ककई नाम का एक वृक्ष विशेष, कटार (2-10) – नारियल, कणाई (2-5), एकलता, कंदोट्ट–नीलकमल (2-9), करयंदी (2-18) – मल्लिकापुष्प, कराइणी (2-18) शाल्मलितरु, कलओ (2-54) – अर्जुनवृक्ष कलको (2-8) – बाम, कवयं (2-3) – कुकुरमुत्ता, कसई (2 6 – जंगलीफल, कालिंजणी (2-29) – तापिच्छलता, काहेणू (2-21 – गुंजा नामक झाडी, कुंती (2-34) – मंजरी, कुंदीर (2-39) – कुंदरू का फल, केआरवाणो (2-45) – पलाश, केऊ (2 44)–कंद, गद्दह (2 83) – श्वेतकमल, गुंड (2-91) लचका नाम की घास, चक्कणगय (3-7) – नारंगी, चंदोज्जं (3-4) – श्वेतकमलिनी, चोढो (3-19) बेल का पेड़, जंबुओ (3-52) – वेतस वृक्ष, झडुओ (2-53) – पीलु नामक वृक्ष, टक्कारी (4-2) – एक बनैलाफूल टोलबो (4-4) – मधूक वृक्ष, डाऊ (4-12) – फल हमक नामक वृक्ष, णडमामय (4-23) – जल में उत्पन्न होने वाला एक फल, णीलकंठी (4-42) – वाण वृक्ष इस प्रकार के अनेकों पेड़ पौधों एवं फलों-फूलों से सम्बन्धित शब्दावली इस कोश में पग-पग पर बिखरी हुई है।

### पशु-पक्षी

देशीनाममाला की पशु-पक्षियों से सम्बन्धित शब्दावली भी आश्चर्य में डाल देने वाली है। इनमें आये हुए पशु-पक्षियों के नाम विचित्र हैं, यद्यपि पशु-पक्षी

सुपरिचित ही हैं । इन शब्दो के सचयन मे आचार्य हेमचन्द्र को पर्याप्त छान-बीन करनी पडी होगी । पशु-पक्षियो तथा विभिन्न जीव-जन्तुओ से सम्बन्धित कुछ उल्लेखनीय शब्द नीचे दिये जा रहे हैं—

आलई (1-64) – शकुनिपक्षी, आलत्थो (1-65) – मयूर, आलासो (1-61) –विच्छू आत्रिअं, (1-76) – इन्द्रगोप–एक लालरग का बरसाती कीडा, आसक्खओ (1-67) – श्रीवद् नामक पक्षी, आहु (1-61) – उलूक इद्दंडो, (1-79) – भ्रमर, इदगाई (1 81) – झुड मे चलने वाले कीडे, इदमहकामुओ (1-82) – कुत्ता, इरमदिरो (1 81) – युवा हाथी, इरावो (1 80) – गज, इल्ली (1 83) – सिंह, इसओ (1-82) – रोज्झ नामक मृग उड्डणो (1-23) – बैल, उड्डसो (1-96), खटमल, उररी (1-88) - एक पशु, उलुहतो (1-109) – कौआ, एणुवामिओ (1-147) - मेढक आनेओ (1 160) – बाजपक्षी कणइल्लो (2-21), तोता, कठ (1-51) – सुअर, कणच्छुरी (2 19) – छिपकली, कद्दमिओ (2-15), भैसा या भैंस, कामकिमोरो (2-30) – गधा कायचुलो (2-29) – जल मे रहने वाला पक्षी, कायरिउच्छो (2-30) – कोकिला, किक्किडी (2-33) – सर्प, कुनो (2-29) – तोता, कुल्हो (2-34) – सियार, कोविआ (2-48), – सियारिन, खच्चल्लो (2-69) – भालू, खिक्खिडो (2-74) - केकडा, गड्डरी (2-84) – बकरी, गहरो (2-34) – गीध, गामेणी (2-34) – भेड, गुत्थडी (2-92) – पानी मे रहने वाला जीव, गाहुली (2-89) – एक क्रूर जलचर । इसी प्रकार के और अनेको शब्द देशीनाममाला मे पग-पग पर बिखरे देखे जा सकते हैं । आचार्य हेमचन्द्र ने इन नामवाची शब्दो का सकलन देश के कोने-कोने से प्राप्त सूचनाओ के आधार पर किया था । इस वर्ग के सन्दर्भगत ग्रन्थ अब अप्राप्त हैं । अत इनके प्रयोग स्थान को निर्धारित कर पाना भी एक दुरूह कार्य है । शब्दो के स्वरूप को देखकर, मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि ये युग-युगो से अशिक्षित ग्रामीण जनता के बीच व्यवहृत होते आये शब्द है ।

**राजनीति और शासन व्यवस्था :**

इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली शब्दावली प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित है । इसे तत्कालीन गुजरात की शासन व्यवस्था से भी सदर्भित किया जा सकता है । देशीनाममाला मे राजा के लिए उम्मल्लो (1-131) शब्द का व्यवहार हुआ है । एक शब्द "आयासतल" (1-72) मे राजा के निवास स्थान "राजमहल" का भी सकेत किया गया है । महल के दरवाजे पर रहने वाले द्वार-रक्षक के लिए कडअल्लो (2 15) शब्द आया है । राजा का राजमहल नगर के मध्य मे होता था । नगर प्रधान के लिए कउअ (2-56)शब्द आया है । पूरे नगर मे छोटी और बडी सडको का निर्माण कर सचार व्यवस्था की जाती थी । देशीनाममाला मे नगर के लिए कोट्ट (2-45) तथा सडक के लिए किलणी (2-31) और खुखुणी (2-76) शब्द आये हैं । छोटी सडक के अर्थ मे छेंडी (3-31) शब्द का व्यवहार हुआ है । चौराहे के लिए "जघाछेओ' शब्द आया है । नगर के बाहर चारो ओर जल से भरी खाई का प्रचलन अतिप्राचीन है । इसके लिए "खाइआ (2-73) शब्द व्यवहृत हुआ है । नगर के मध्य बाजार के लिए कव्वाल (2-52) शब्द आया है । राज्य की सीमा के लिए सदेवो (8-7) शब्द का प्रयोग हुआ है ।

पूरे राज्य का शासन अलग-अलग ग्रामाधिपतियो के हाथ मे रहता था ।

सान्कृतिक महत्ता है। आज भी यदि इन शब्दो का विकास विभिन्न प्रान्तीय संस्कृतियो की शब्दावली मे खोजा जाय तो अवश्य ही कही न कही प्राप्त हो जायेंगे। विषय विस्तार के कारण यहाँ इन सास्कृतिक शब्दो का विवरण मात्र दे दिया गया है। इस के सभी शब्दो का तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचन एक अत्यन्त दुरूह तथा अपने आप मे भविष्य के अनुसधित्सुओ के लिए एक स्वतत्र कार्य है।

**ग्रामीण कृषक-जीवन से सम्बन्धित शब्दावली**

"देशीनाममाला" के शब्दो से सूचित होने वाला समाज अधिकाश रूप मे एक खेतिहर समाज है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उदाहरण की गाथाओ से होता है। वहा आये हुए हालिक युवक युवतियो के वर्णन खेतो के बीच उनकी उन्मुक्त काम क्रीडाओ मे एक खेतिहर वर्ग का चित्र ही उभर कर सामने आता है। जहा तक कृषि कला से सबधित शब्दावली का प्रश्न है, इसके लिए भी पर्याप्त शब्द इस कोश-ग्रन्थ मे मिल जाते हैं। खेतो की सिचाई के काम आने वाली पानी की चर्खी के लिए कुल चार शब्द आये हैं – आगत्ती (1-63), उक्कती, उक्कद तथा उक्का (1-87)। सिचाई के लिए बिना जगत के (मुडे) का व्यवहार होता था, इसका सकेत उत्तूहो (1-94)–बिना जगत का कुआ–मे मिलता है। एक शब्द उच्छुअरण (1-117) से दूर दूर तक फैले हुए ईख के खेतो का सकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित और भी अनेको प्रकार के पशु पक्षियो और पेड पौधो से सम्बन्धित शब्द बहुतायत से मिलते हैं। इनका अलग-अलग उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा।

**पेड-पौधे और फल-फूल ·**

आअल्ली (1-61) – एक लता या झुरमुट, आरणाल (1-67) – कमल आवगो (1-62) तथा कग्घाडो (2-53) – बहेडे का वृक्ष, उम्मत्तो (1-89) धत्तूर, ककेल्ली (2 12) – अशोक वृक्ष, ककोड (2-7) तथा कच्छुरी (3-11)– करई नाम का एक वृक्ष विशेष, कडार (2-10) – नारियल, कणई (2-5), एकलता, कदोट्ट–नीलकमल (2-9), करयदी (2-18) – मलिकापुष्प, कराइणी (2-18) शाल्मलितरु, कलओ (2-54) – अर्जुनवृक्ष कलको (2-8) – वास, कवय (2-3) – कुकुरमुत्ता, कसई (2 6 – जगलीफल, कालिजणी (2-29) – तापिच्छलता, काहेणू (2-21 – गुजा नामक झाडी, कुती (2-34) – मजरी, कुदीर (2-39) – कुदरू का फल, केआरवाणो (2-45) – पलाश, केऊ (2 44)–कद, गद्दह (2 83) – श्वेतकमल, गुड (2 91) लचका नाम की घास, चक्कगणगय (3-7) – नारगी, चदोज्ज (3-4) – श्वेतकमलिनी, चोढो (3 19) बेल का पेड, जबुओ (3-52) – वेतस वृक्ष, झडुओ (2-53) – पीलु नामक वृक्ष, टक्कारी (4 2) – एक वनेलाफूल टोलवो (4-4) – मधूक वृक्ष, डाऊ (4-12) – फल हमक नामक वृक्ष, णडमासय (4-23) – जल मे उत्पन्न होने वाला एक फल, णीलकठी (4-42) – वाण वृक्ष इस प्रकार के अनेको पेड पौधो एव फूलो-फूलो से सम्बन्धित शब्दावली इस कोश मे पग-पग पर बिखरी हुई है।

**पशु-पक्षी**

देशीनाममाला की पशु-पक्षियो से सम्बन्धित शब्दावली भी आश्चर्य मे डाल देने वाली है। इनमे आये हुए पशु-पक्षियो के नाम विचित्र है, यद्यपि पशु-पक्षी

सुपरिचित ही हैं। इन शब्दो के सचयन मे आचार्य हेमचन्द्र को पर्याप्त छान-बीन करनी पडी होगी। पशु-पक्षियो तथा विभिन्न जीव-जन्तुओ से सम्बन्धित कुछ उल्लेखनीय शब्द नीचे दिये जा रहे हैं—

आलई (1-64) – शकुनिपक्षी, आलत्थो (1-65) – मयूर, आलासो (1-61) –विच्छू आविग्र , (1-76) – इन्द्रगोप–एक लालरग का बरसाती कीडा, आसक्खओ (1-67) – श्रीवद् नामक पक्षी, आहु (1-61) – उलूक इद्दडो, (1-79) – भ्रमर, इदगाई (1-81) – झुड मे चलने वाले कीडे, इदमहकामुओ (1-82) – कुत्ता, इरमदिरो (1 81) – युवा हाथी, इरावो (1 80) – गज, इल्ली (1 83) – सिंह, इसओ (1-82) – रोज्झ नामक मृग, उड्डणो (1-23) – बैल, उड्डसो (1-96), खटमल, उररी (1-88) – एक पशु, उलुहतो (1-109) – कौआ, एणु वासिओ (1-147) – मेढक आलेओ (1 160) – बाजपक्षी कणइल्लो (2-21), तोता, कठ (1-51) – सुअर, कणच्छुरी (2 19) – छिपकली, कद्दमिओ (2-15), भैसा या भैस, कामकिसोरो (2-30) – गधा कायचुलो (2-29) – जल मे रहने वाला पक्षी, कायरिउच्छो (2-30) – कोकिला, किक्किडी (2-33) – सर्प, कुतो (2-29) – तोता, कुल्हो (2-34) – सियार, कोविआ (2-48), – सियारिन, खच्चल्लो (2-69) – भालू, खिक्खिडो (2-74) - केकडा, गड्डरी (2-84) – बकरी, गहरो (2-34) – गीध, गामेणी (2-34) – भेड, गुत्थडी (2-92) – पानी मे रहने वाला जीव, गाहुली (2-89) – एक क्रूर जलचर। इसी प्रकार के और अनेको शब्द देशीनाममाला मे पग-पग पर बिखरे देखे जा सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इन नामवाची शब्दो का सकलन देश के कोने-कोने से प्राप्त सूचनाओ के आधार पर किया था। इस वर्ग के सन्दर्भगत ग्रन्थ अब अप्राप्त हैं। अत इनके प्रयोग स्थान को निर्धारित कर पाना भी एक दुरूह कार्य है। शब्दो के स्वरूप को देखकर, मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि ये युग-युगो से अशिक्षित ग्रामीण जनता के बीच व्यवहृत होते आये शब्द हैं।

**राजनीति और शासन व्यवस्था :**

इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली शब्दावली प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसे तत्कालीन गुजरात की शासन व्यवस्था से भी सदर्भित किया जा सकता है। देशीनाममाला मे राजा के लिए उम्मल्लो (1-131) शब्द का व्यवहार हुआ है। एक शब्द "आयासतल" (1-72) मे राजा के निवास स्थान "राजमहल" का भी सकेत किया गया है। महल के दरवाजे पर रहने वाले द्वार-रक्षक के लिए कडअल्लो (2-15) शब्द आया है। राजा का राजमहल नगर के मध्य मे होता था। नगर प्रधान के लिए कउअ (2-56)शब्द आया है। पूरे नगर मे छोटी और बडी सडको का निर्माण कर सचार व्यवस्था की जाती थी। देशीनाममाला मे नगर के लिए कोट्ट (2-45) तथा सडक के लिए किलणी (2-31) और खुखुणी (2-76) शब्द आये हैं। छोटी सडक के अर्थ मे छेंडी (3-31) शब्द का व्यवहार हुआ है। चौराहे के लिए "जघाछेओ' शब्द आया है। नगर के बाहर चारो ओर जल से भरी खाई का प्रचलन अतिप्राचीन है। इसके लिए "खाइआ (2-73) शब्द व्यवहृत हुआ है। नगर के मध्य बाजार के लिए कव्वाल (2-52) शब्द आया है। राज्य की सीमा के लिए सदेवो (8-7) शब्द का प्रयोग हुआ है।

पूरे राज्य का शासन अलग-अलग ग्रामाधिपतियो के हाथ मे रहता था।

ग्रामाधिपति का अर्थ देने वाले, खगिग्रो (2-69) गामउटो, गामगोही, गामगी (2-89), गोहो (2-89), जणउत्तो (3-52), सेग्रालो (8-58), मेट्ठी (8-42) आदि कई शब्द आये हैं। प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था मे ग्रामआयुक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। देशीनाममाला के समाज और उसमे आयी शासन व्यवस्था में सर्वत्र ग्रामाधिपति या ग्राम आयुक्त का ही बोल-बाला है। एक स्थान पर छल से ग्रामाधिपति का पद धारण करने वाले व्यक्ति को "गामगोढो" (2-90) कहा गया है। राज्य-शासन की सुविधा के लिए कई ग्रामो का एक सघ बना दिया जाता था। इस ग्राम सघ के लिए "ऊरो (1-143) शब्द आया है। ग्रामाधिपति इसी सघ का प्रमुख अधिकारी होता था। प्रत्येक गाव की सीमा एक सीमाकाष्ठ गाड कर अलग कर दी जाती थी, इसके लिए खोडो (2-80) शब्द आया है। एक अलग गाव के लिए गामहणं (2-90) तथा गाव मे रहने वाले लोगो के लिए जग्गलविग्रो (3-44) शब्द आये हैं। गाव के शासक को मुखिया कहते थे। इसके लिए भी दो शब्द अइरः (1-16) और ओग्रायो (1-166) आये हैं। इन शब्दो के माध्यम से व्यक्त होने वाली ग्रामव्यवस्था या राज्य शासन व्यवस्था प्राचीन भारत की राज्य-व्यवस्था व ग्राम व्यवस्था से पर्याप्त साम्य रखती है।

**युद्ध या सुरक्षा-सामग्री**

प्राचीन भारत के लिए युद्ध आये दिन, होने वाली वस्तु थी। देशीनाममाला मे युद्ध के लिए आडर (1-65) और खम्मक्खम्मो (2-79) शब्द आये है। युद्ध मे विपक्षी शत्रु के लिए कली और कल्लोलो (2-2) शब्द मिलते हैं। युद्ध मे सुरक्षा हेतु किले का निर्माण भी होता था। गढो (2-81) शब्द इसी किले का वाचक है। युद्ध मे धनुष-बाण और तलवार का व्यवहार होता था। इस कोश मे धनुष के लिए गडीव (2-84) तथा तलवार के लिए टको (4-4) एव अणप्पो (1-12) शब्द आये है युद्ध मे पकडे गये कैदी के लिए अवयड्ढिय (1-46) शब्द व्यवहृत हुआ है। युद्ध मे होने वाली पराजय के लिए अहिलिअ (1-57) तथा पराजित व्यक्ति के लिए अक्कत (1-16) शब्द आये है।

राजनीति एव शासन व्यवस्था से सम्बन्धित ऊपर दी गयी शब्दावली प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था से सबद्ध हैं। तत्कालीन गुजरात भी बहुत कुछ इसी व्यवस्था को प्रश्रय देने वाला था, अत इन शब्दो का सम्बन्ध तत्कालीन गुजरात की राजनीति एव शासन व्यवस्था से भी स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार की शब्दावली "प्राचीन इतिहास" विषय के अनुसधित्सुओ के लिए पर्याप्त उपयोगी है।

**निष्कर्ष —**

ऊपर "देशीनाममाला" की सास्कृतिक शब्द सपत्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। इन शब्दो के माध्यम से जिस सस्कृति का परिचय मिलता है, वह युग-युगो से चली आने वाली भारतीय निम्न तथा निम्न मध्य-वर्गीय सस्कृति है। इसका किसी युग विशेप से सम्बन्ध स्थापित कर पाना एक असभव कार्य है। देशीनाममाला की सास्कृतिक शब्दावली इतनी विशाल है कि इसका अध्ययन एक अलग ही शोध प्रबन्ध का विषय हो सकता है।

———————

# 5

# 'देशी' शब्दों का विवेचन

'देशी' शब्द का सामान्य अर्थ ग्राम्य या 'प्रान्तीय' है। भाषा के अर्थ मे इसका प्रयोग प्राकृत व्याकरणकारो ने किया है। सस्कृत व्याकरणकारो ने किसी भाषा विशेष के अर्थ मे इसका प्रयोग न कर 'प्रान्त' के अर्थ मे किया था। पाणिनि की अष्टाध्यायी[1] मे यद्यपि कई स्थान पर 'देश' शब्द है परन्तु वहा यह प्रान्तवाचक ही है। पाणिनि के पहले भी निरुक्तकार यास्क ने[2] 'देश' शब्द का प्रयोग प्रान्त के ही अर्थ मे किया था। महाभारत[3] मे सर्वप्रथम 'देश' शब्द का प्रयोग 'भाषा' के साथ किया गया प्राप्त होता है। इसके बाद भरत ने 'देश' शब्द का प्रयोग अपने नाट्यशास्त्र मे विभिन्न प्रान्तो मे बोली जाने वाली बोलियो के अर्थ मे किया—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम्।

× × ×

अथवा अच्छन्त. कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभि ॥

नानादेशसमुत्थं हि काव्य भवति नाटके॥ 17।46

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र (1।4।50) विष्णुधर्मोत्तर तथा मृच्छकटिक (अ क 6, पृष्ठ 225) विशाखदत्त ने मुद्रारक्षस, बाणभट्ट ने कादम्बरी तथा धनजय ने अपने दशरूपक मे नाना देशो मे बोली जाने वाली भाषाओ को देशभाषा कहा है—

---

1 एङ्प्राचा देशे 1।1।75 तदस्मिन्नस्तीति देश तन्नाम्नि 4।2।67
2. निरुक्त, अध्याय 2, पाद 1, दुर्गाचार्य एव मोहरचन्द पुष्करिणी टीका
3. नाना चर्ममृगश्छिन्ना, नाना भाषाश्च भारत
कुशला देशभाषास्तु, जल्पतोऽन्योन्य ईश्वर.—महाभारत-शल्यपर्व, अध्याय 46

देशभाषा क्रियावेश लक्षणाः स्यु प्रवृत्तयः ।
लोकावेदागम्येता यथौचित्य प्रयोजयेत् ।

यद्देशनीच पात्र यद् तद्देश तस्य भाषितम् ।। दशरूपक 2।58।61

घनजय स्पष्ट ही 'देशीभाषा' का प्रयोग निम्न श्रेणी के पात्रो की भाषा के लिये करते हैं।

उपर्युक्त कुछ उल्लेखो से यह विदित होता है कि भिन्न भिन्न प्रान्तो व स्थानो मे वोली जाने वाली भाषा देशभाषा कहलाती है तो क्या यह 'देशभाषा' ही देशी है ? इसका निश्चय करने के लिये प्राकृत वैय्याकरणो द्वारा किये गये उल्लेखो का विवरण आवश्यक है।

प्राकृत व्याकरणकारो ने प्राकृत भाषा मे तीन प्रकार के शब्द वताये हैं। (1) तत्सम (2) तद्भव (3) देशज।

(१) तत्सम .

ऐसे शब्द जो सीवे सस्कृत से विना किसी रूपपरिवर्तन के प्राकृत ग्रन्थो मे आ गये हैं, तत्सम कहलाते हैं। इन्हे मस्कृतसम (चण्ड 1।1 डे ग्रामिटिकिल प्राकृतिस पेज 80) तत्तुल्य (वाग्भट्टालकार 2।2) तथा समान (नाट्यशास्त्र 17।2) आदि सज्ञाए भी दी गयी हैं।

(2) तद्भव ·

ऐसे शब्द जो रूप और ध्वनि परिवर्तन के कारण विकृत हो जाते हैं परन्तु यह विकार व्याकरण की प्रक्रिया के आधार पर होता है। उन्हे 'तद्भव' कहा गया है। इसके भी विभिन्न नाम हैं जैसे—हेमचन्द्र (1।1) तथा चण्ड इसे 'सस्कृतयोनि' कहते हैं। वाग्भट्ट ने ऐसे शव्दो को 'तज्ज' कहा है। भरत ने (नाट्यशास्त्र 17।3) इसे विभ्रष्ट' सज्ञा दी है।

(3) देशी :

ऐसे शब्द जो वहुत अनादिकाल से वोलचाल मे व्यवहृत होते आये हैं और जिनकी व्युत्पत्ति व्याकरणलभ्य नही है—'देशी' शब्द कहलाते हैं। हेमचन्द्र त्रिविक्रम सिहराज मार्कण्डेय तथा वाग्भट्ट ने ऐसे शव्दो को देश्य या देशी[1] नाम दिया है। चण्ड (प्राकृत लक्षण) ने इसे देसी प्रसिद्ध तथा भरत ने 'देशीमत'[2] नाम दिया है।

---

1. देशीनाममाला, पृ० 1, 2 दण्डिन और धनिक।
2 नाट्यशास्त्र 17।3

शब्दो के इन तीन प्रमुख विभाजनो के अतिरिक्त कुछ विदेशी विद्वानो ने इनके उपविभाग भी किये हैं। शब्दो की दूसरी कोटि 'तद्भवो' को दो भागो मे विभाजित किया गया। (1) साध्यमान सस्कृतभवा (2) सिद्ध सस्कृत भवा। पहले वर्ग मे वे प्राकृत शब्द आते हैं जो उन सस्कृत शब्दो का जिनसे वे प्राकृत शब्द निकले हैं, बिना उपसर्ग या प्रत्यय के मूल रूप बताते हैं। इनमे विशेषकर शब्द रूपावली और विभक्तिया आती है जिनमे वह शब्द व्याकरण के नियमो के अनुसार बनाया जाता है उसे ही 'साध्यमान तद्भव' कहते है। बीम्स[1] इसे ही आदि तद्भव (Early Tadbhava) कहते है। दूसरे वर्ग मे वे शब्द आते है जो सस्कृत व्याकरण मे सिद्ध सस्कृत रूपो से निकले है। जैसे अर्धमागधी वन्दित्ता सस्कृत वन्दित्वा का विकृत रूप है।[2]

प्राकृत व्याकरणकारो और अन्य ग्रन्थकारो द्वारा किया गया प्राकृत शब्दो का यह विभाजन बहुत कुछ उनके पारम्परिक रूढिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। इनकी दृढ मान्यता है कि 'प्राकृत' सस्कृत से निकली है। 'तत्' शब्द के प्रयोग द्वारा उन्होने 'सस्कृत' को ही मूल मे रखा है। सस्कृत और उससे लिये गये शब्द तत्सम और उससे नि सृत प्राकृत दोनो के व्याकरणिक नियमो से परे रहने वाले शब्द 'देश्य' या 'देशी' कहे गये। परन्तु यह रूढिवादी दृष्टिकोण 'देशी' शब्दो के वास्तविक स्वरूप उनके उद्भव और विकास का ज्ञान कराने के लिये पर्याप्त नही है। न तो प्रान्तीय भाषाए शुद्ध रूप से वैज्ञानिक अर्थो मे 'देशी' ही कही जा सकती है और न अन्य साहित्यिक भाषाए 'देशी' शब्दो की सीमा के परे ही कही जा सकती है। अब हमे देखना यह है कि 'देशी' शब्द वास्तविक रूप मे है क्या ? और प्राकृतो मे इनका प्रचार कैसे हुआ।

### देशी शब्दो का स्वरूप विभिन्न मत :

'देशी' शब्दो के अन्तर्गत प्राय: विद्वानो ने ऐसे शब्द रखे हैं जिनका मूल सस्कृत मे नही मिलता और जो साहित्यिक भाषाओ से परे सामान्य जनता के बीच युगयुगो से व्यवहृत होते आ रहे हैं। परन्तु इन शब्दो के विवेचन मे सभी विद्वान् अलग-अलग धारणाए रखते है। 'देशी' शब्दो का सबसे बडा कोश आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' है यदि इसे ही ध्यान से देखा जाये तो देशी शब्दो के बारे मे एक भ्रान्त धारणा उठ खडी होती है। इसके अन्तर्गत अनेको ऐसे शब्द है जो तत्सम और तद्भव होते हुए भी देशी मान लिये गये हैं। सस्कृत भाषा का शब्द भडार अत्यन्त

---

1. कैम्परेटिव ग्रामर 1।37
2. पिशेल की हे0 च0 के सूत्र 1।1 पर टीका

विस्तृत है यह एक व्यक्ति या छोटे-मोटे समूह के भी वश की वात नही है कि वह समस्त शब्दो का ज्ञान प्राप्त कर यह निर्णय दे सके कि अमुक अमुक शब्द सस्कृत मे नहीं है। यही कारण है कि देशी शब्दो के विवेचन के वीच ऐसे शब्द आ गये है जो विशेषत सस्कृत के मूल तक पहुँचते हैं।[1] इस प्रकार परम्परा मे जितने भी 'देशी' शब्दो का आख्यान किया गया है वे सभी विवाद मे भरे हुए हैं। 'देशी' शब्दो के वास्तविक स्वरूप का विवेचन पूरी आर्य-भाषा के विकास का आलोड़न करने के वाद ही किया जा सकता है।

स्वरूप की दृष्टि से 'देशी' शब्द जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है प्रादेशिक शब्दों के वाचक रहे होगे। आगे चलकर धीरे-धीरे इन्हे साहित्यिक भाषाओं मे स्थान मिलने लगा होगा क्योकि साहित्यिक भाषाए सदैव से लोक जीवन से प्राण और जीवनी शक्ति ग्रहण करती आयी हैं। इसी प्रक्रिया मे युग-युगो मे जनता के वीच प्रचलित शब्द प्राकृतों और अपभ्रंशो के रास्ते सस्कृत कोशों और धातुपाठ आदि मे ले लिये गये होगे। इस प्रकार ग्रहण किये गये शब्दो को सस्कृत शब्दावली के वीच ढूँढ पाना सर्वथा असम्भव है क्योकि इनमें सभव है कि कुछ अनार्य भाषाओ तथा मूल आर्यभाषा[2] के शब्द आ गये हो। रुद्रट के 'काव्यालकार' 2।12 की टीका मे नमिसाधु ने प्राकृत की एक व्युत्पत्ति दी है, जिसमे उसने वताया है कि प्राकृत तथा सस्कृत दोनो ही की आधारभूत भाषा प्राकृत अर्थात् मानव जाति की सहज वोलचाल की भाषा है जिसका व्याकरणिक नियमो से वहुत कम सम्वन्ध है। आर० पिशेल नमि साधु के इस मत को भ्रमपूर्ण वताते हुए इस सम्वन्ध मे सेनार[3] द्वारा दिये गये मत का समर्थन करते हैं। 'प्राकृत भाषा की जड जनता की वोलियो के वीच जमी हुई है और इनके मुख्यतत्त्व आदि काल मे जीती जागती और वोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं, किन्तु वोलचाल की वे भाषाए, जो वाद को साहित्यिक भाषाओ के पद पर चढ गयी सस्कृत की भाति ही वहुत ठोकी पीटी गयी, ताकि उनका एक सुगठित रूप वन जाये।[4] पिशेल की यह सहमति नमिसाधु की मान्यता से अधिक दूर नही दिखायी देती। यह वात तो सर्वथा सत्य ही है कि साहित्यिक भाषाए लोकप्रचलित भाषाओ

---

1. हेमचन्द्र जोशी—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण हिन्दी अनुवाद, पृ० 13

2 मूल अथवा आदि आर्य भाषा वह है जिसके कुछ रूप 'आर्ष' वताये जाने वाले वैदिक रूपों में मिलते हैं और जिन्हें वास्तव में आदि आर्य अपने मूलदेश में, वहा से इधर-उधर विखरने के पहले वोलते रहे होंगे। —हेमचन्द्र जोशी, वही, पृ० 14

3 हेमचन्द्र जोशी, वही पृ० 14

4. हेमचन्द्र जोशी प्राकृत भाषाओं का व्याकरण–हिन्दी अनुवाद, पृ० 14

है। शब्दों को ग्रहण कर उन्हें अपने अनुरूप ढाल लेती है। धीरे-धीरे इन शब्दों का रूप ग्रहण किया जाता है। शब्दों का इस प्रकार का स्वरूप परिवर्तन पाणिनि की [illegible] में भी निर्दिष्ट किया जा सकता है। देशी शब्दों मे क्रियापदो की बहुलता है। पाणिनि के धातुपाठ में ऐसी अनेकों धातुएं हैं जो संस्कृत की धातुओं [illegible] हैं। पाणिनि ने इनका प्रत्ययादि द्वारा रूप भी निश्चित किया है। किन्तु ये धातु साहित्यिक संस्कृत में अधिक प्रचलित नहीं रहे। उसके विपरीत इन्ही धातुओं से [illegible] लोकभाषाओं के माध्यम से चलती हुई आज की भाषाओं में प्रचलित हैं।[1] यही स्थिति बाद विकसित होने वाली प्राकृत और अपभ्रंश जैसी साहित्यिक भाषाओं की भी है। इन भाषाओं के व्याकरण ग्रन्थों मे भी देशी शब्दों [illegible] की गयी। परन्तु इनमें इनका स्वरूप स्पष्ट ही परिलक्षित हो जाता है क्योंकि ये भाषाएं 'देशी' शब्दों के विकास के अनुरूप ही एक स्वाभाविक वातावरण में उठकर विकसित हुई हैं। यही कारण है कि इन दोनो मे 'देशी' शब्दों की भरमार है।

भारतीय आर्य भाषाओं की सुविस्तृत परम्परा के बीच साहित्यिक संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जो लोकतत्त्व को न स्वीकार करते हुए अपनी साहित्यिक ऊंचाई का निर्माण करती है तथा वैदिक भाषा की बात कुछ लोक मे प्रचलित शब्दावली से पूर्ण है। जैसे घोड़े के लिए घोटक और अश्व, कुत्ते के लिए कुक्कुर और श्वान, बिल्ली के लिए बिडाल और मार्जारी, भालू के लिए भल्लूक और ऋक्ष साथ-साथ चलते हैं। इन शब्दों की स्थिति और अन्यानेक आर्षप्रयोग यह सिद्ध कर देते हैं कि वैदिक काल में ही भाषा में 'देशी' तत्वों का प्रचलन हो चला था। उपर्युक्त उदाहरणों में आये हुए घोटक, बिडाल, कुक्कुर तथा भल्लूक शब्द सुनिश्चित ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के साथ आज भी लोक भाषाओं में प्रचलित हैं। इनके पर्यायवाची ऋक्षादि संस्कृत की अपनी सम्पत्ति तब भी थे और आज भी ज्यों के त्यों हैं। आगे चलकर लोक भाषाओं के सहारे विकसित होने वाली पालि तथा प्राकृत (अपभ्रंश भी) भाषाएं वैदिक भाषा के अधिक समीप हैं। इस प्रकार 'देशी' शब्दों का प्रादुर्भाव सामान्य जनता की बोलचाल की भाषाओं से हुआ होगा। इनका विकास प्रकृत (स्वाभाविक) ढंग से युग-युगों में होना चला आया है। इस विषय मे नमिसाधु[1] का कथन बहुत कुछ सत्य भी प्रतीत होता है। 'देशी' शब्दों का प्राकृतों से घनिष्ठतम सम्बन्ध है अतः 'प्राकृत' शब्द पर विचार कर लेना अवसर लभ्य एव समीचीन होगा।

---

1. देखिये–प्राकृत भाषाओं का व्याकरण–हिन्दी अनुवाद, हे० जो० फुटनोट, पृ. 65–66।
2. नमिसाधु-काव्यालंकार 2।12 की टीका

प्राकृत तथा 'देशी'

भाषावाची 'प्राकृत' शब्द 'प्रकृति' से निर्मित है। इस 'प्रकृति' शब्द की व्याख्या में विद्वानों में बहुत बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'मूलभाषा' करते हैं और कुछ 'मूल' अर्थात् संस्कृत के आधार पर विकसित भाषा मानते हैं। भारतीय विद्वत्परम्परा इसी विश्वास को मानकर चली है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएं (पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) संस्कृत से ही विकसित हुई हैं। यही कारण था कि अधिकतर प्राकृत व्याकरणकारों जैसे हेमचन्द्र, मार्कण्डेय, धनिक, सिंहदेव गणि आदि ने प्राकृत भाषाओं का मूल उद्गम संस्कृत को माना। प्राकृत व्याकरणकारों में सर्वप्रमुख हेमचन्द्र का कथन है —

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्रभवं तत् आगतम् वा प्राकृतम्। संस्कृतानन्तरं प्राकृतमधिक्रियते। संस्कृतानन्तरं च प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमान भेद संस्कृत योनेरेव तस्य लक्षणं न देश्यस्य इति ज्ञापनार्थम् ॥[1]

'प्रकृति संस्कृत है। इस संस्कृत से आयी हुई भाषा प्राकृत है। संस्कृत के पश्चात् प्राकृत का अधिकार आरम्भ होता है। प्राकृत में जो शब्द संस्कृत से मिश्रित हैं उनको संस्कृत के समान ही जानना चाहिए। प्राकृत में तद्भव दो प्रकार के हैं— साध्यमान संस्कृत भव, सिद्ध संस्कृत भव। यह प्राकृत का अनुशासन इन दोनों प्रकार के शब्दों का ही प्रतिपादक है। देश्य का नहीं।

हेमचन्द्र के इसी मत का समर्थन मार्कण्डेय[2] दशरूपक के टीकाकार धनिक,[3] कर्पूर मंजरी के टीकाकार[4] वासुदेव, षड्भाषाचन्द्रिका के रचयिता लक्ष्मीधर,[5] वाग्भट्टालंकार[6] के टीकाकार सिंहदेवगणि, 'प्राकृत शब्द प्रदीपिका' के रचयिता नरसिंह, गीतगोविन्द की 'रसिकसर्वस्व' टीका के रचयिता नारायण एवं अभिज्ञानशाकुंतल के टीकाकार शंकर आदि ने भी किया है। वास्तव में इन विद्वानों का सारा प्रयास संस्कृत के माध्यम से प्राकृतों को समझाना था इसी कारण संस्कृत का आधार लेते-लेते वे स्वाभाविक रूप से विकसित प्राकृत भाषाओं को संस्कृत की विकृति बता गये।

प्राकृत व्याकरणकारों और अलंकारशास्त्रियों द्वारा किया गया यह विवेचन स्वाभाविकता से बहुत दूर जा पड़ता है। ऊपर दिये गये विद्वानों के मत का फलितार्थ निकालते हुए डा० नेमिचन्द्र लिखते हैं[7]—

---

1 सिद्धहैमशब्दानुशासन 8।1।1—'अथप्राकृतम्'।
2 प्रकृतिः संस्कृतं। तत्रभवं प्राकृतमुच्यते ॥ प्राकृतसर्वस्व 1।1
3 प्रकृतेः आगतं प्राकृतं। प्रकृतिः संस्कृतम्। दशरूपक परि० 2 श्लोक 60 की व्याख्या
4 प्रकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः। 9।2 संजीवनी टीका
5 प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृतीमता। ष० च०, पृ 4 श्लोक 25
6 प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम् ॥ वाग्भटालंकार–2।2। की टीका
7 डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ 13

'1 प्राकृत भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से नही हुई है, किन्तु' प्रकृति सस्कतम्' का अर्थ है कि प्राकृत भाषा को सीखने के लिये सस्कृत शब्दो को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारण भेद के कारण प्राकृत शब्दो का जो साम्य-वैषम्य है, उसको दिखाना अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत भाषा को सीखने का यत्न करना। इसी आशय से हेमचन्द्र ने सस्कृत को प्राकृत की योनि कहा है।

2 सस्कृत या प्राकृत भाषा के बीच किसी प्रकार का कार्य कारण या जन्यजनक भाव है ही नही। ये दोनो भाषाए सहोदराए हैं। दोनो का विकास किसी अन्य स्रोत से होता है, यह स्रोत छान्दस[1] ही है।

3 उच्चारण भेद के कारण सस्कृत और प्राकृत मे अन्तर हो जाता है। पर इतने अन्तर से इन दोनो भाषाओ को बिल्कुल भिन्न नही माना जा सकता। जनसाधारण प्राकृत का उच्चारण करते है पर सस्कारापन्न नागरिक सस्कृत का। अत सस्कृत को प्राकृत की योनि इसी अर्थ मे कहा गया है कि शब्दानुशासन से पूर्णतया अनुशासित सस्कृत भाषा के द्वारा ही प्राकृत के तद्भव शब्दो को सीखा जा सकता है। वस्तुत सस्कृत और प्राकृत एक ही भाषा के दो रूप हैं।'

साराश यह है कि प्राकृत वैय्याकरणो तथा अन्य विद्वानो द्वारा विवेचित और सस्कृत को प्रकृति मानकर चलने वाली 'प्राकृत' भाषा की कल्पना बहुत बाद की वस्तु है। वास्तव मे 'प्राकृत' तो वह भाषा है जो बहुत अनादि काल से जन-सामान्य की भाषा रही है। यह वैदिककाल मे भी थी। साहित्यिक सस्कृत के युग मे भी इसका प्राधान्य रहा और फिर एक समय वह भी आया जब यह सस्कृत का सहारा लेकर साहित्यिक भाषा भी बन गयी। हेमचन्द्र प्रभृति प्राकृत वैय्याकरणो ने इसी साहित्यिक प्राकृत को सस्कृत से उद्भूत बताया है। यहा उनका आशय जन-सामान्य के बीच प्रचलित प्राकृत से नही है। वे अपने प्राकृत शब्दानुशासन मे कहते भी हैं– "यहा सिद्ध और साध्यमान सस्कृत भव शब्दो का विवेचन है, देश्य का नही। देश्य से उनका अभीष्ट अर्थ जन सामान्य मे प्रचलित भाषा से ही होगा। इसी कारण उन्होंने आगे चलकर 'देशी शब्दो' का आख्यान एक अलग सग्रह ग्र थ 'देशीनाममाला' के अन्तर्गत किया है। वास्तविक 'प्राकृत' तो वह थी जिसका विवेचन नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यालकार के श्लोक[2] की टीका मे किया था.—

---

1 'छान्दस्' या आर्ष या प्राचीन वैदिक कविता की भाषा, जो प्राचीनतम भारतीय–आर्यभाषा का साहित्यिक रूप थी और जिसका ब्राह्मण लोग पाठशालाओ मे अध्ययन करते थे।
—भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ. 75 चटर्जी

2. प्राकृतसस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देशविशेषादपभ्र शः। —काव्यालकार 2.12

'प्राकृतेति सकल जगज्जन्तूना' व्याकरणादिभिरनाहित सस्कार सहजोवचन व्यापार. प्रकृति , तत्रभव सैव वा प्राकृतम् ।' आरिसवयणेसिद्ध देवाण अद्धमाग हा वाणी 'इत्यादिवचनाद् वा प्राक् पूर्व' कृत प्राक्कृत वालमहिलादि सुवोध सकलभापा-निवन्वभूत वचनमुच्यते । मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूप तदैव च देशविशेपात् सस्कारणाच्च समासादित सस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति । अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्ट तदनु सस्कृतादीनि । पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन सस्करणात् सस्कृत्तमुच्यते ।'

'प्राकृत शब्द का अर्थ है, लोगो का व्याकरण आदि के सस्कारो से रहित स्वाभाविक वचन व्यापार, उससे उत्पन्न अथवा वही प्राकृत है ।' प्राक् कृत' शब्द से प्राकृत वना है और इसका अर्थ है पहले किया गया । द्वादशाङ्ग ग्रन्थो मे ग्यारह अ ग ग्र थ पहले किये गये हैं और इन ग्यारह अ ग ग्र थो की भापा 'आर्पवचन' सूत्र अर्धमागवी कही गयी है जो वालक, महिला आदि को सुवोव, सहजगम्य है और जो सकल भापाओ का मूल है । यह अर्धमागवी भापा ही प्राकृत है । यही प्राकृत मेघ युक्त जल की तरह पहले एक रूपवाली होते हुए भी देशभेद से सस्कार करने से भिन्नता को प्राप्त करती हुई अर्थात् अर्द्ध मागधी प्राकृत से सस्कृत और अन्यान्य प्राकृत भापाओ की उत्पत्ति हुई है । इसी कारण से मूल ग्रन्थकार रुद्रट ने प्राकृत का पहले और सस्कृत आदि का वाद मे निर्देश किया है । यही पाणिन्यादि के व्याकरण ग्रन्थो मे सस्कार पाने के कारण सस्कृत कहलाती है ।'

'प्रसिद्ध प्राकृत काव्य 'गउडवहो' के रचयिता वाक्पतिराज ने भी प्राकृत को ही समस्त भापाओ का उद्गम स्थान माना है —

सयलाओ इम वाया विसति एत्तोय णेतिवायाओ ।
एति समुद्द चिय णेति सायराओच्चिय जलाइ ॥

'जिस प्रकार जल समुद्र मे प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्प रूप से वाहर निकलता है, इसी तरह प्राकृत भापा मे सव भापाए प्रवेश करती हैं और इस प्राकृत भापा मे ही सव भापाए निकलती हैं ।' 'इस का यही आशय है कि 'प्राकृत' आदि भापा थी । सस्कृतादि भापाओं का विकास इन प्राकृतो का परिष्कार करके किया गया न कि ये सस्कृत से स्वयं विकृत हुई । नवम् शती के प्रसिद्ध कवि राजशेखर भी अपनी वाल रामायण[1] मे कहते हैं —' ये यद्योनि किल सस्कृतस्य सुदशा जिह्वामुयन्मोदते ।' यहा इन्होंने प्राकृत को ही सस्कृत की योनि वताया है । इन्ही विद्वानो की परम्परा मे कुछ विदेशी विद्वान् भी प्राकृतो को उन्मुक्त रूप से युगयुगो

1 वालरामायण 48, 49 ।

मे स्वानुरूप विकास प्राप्त करने वाली भाषाए बताते है । एल्फ्रेड सी, वुलनर[1] प्राकृत भाषाओ को स्वाभाविक रूप मे 'विकसित मानते है । उनका मन्तव्य है कि प्राकृते साधारण लोगो के बोलचाल की भाषाए थी और सस्कृत पढे-लिखे शिक्षित वर्ग की भाषा थी । प्राकृत का सम्बन्ध साहित्यिक सस्कृत की अपेक्षा 'छान्दस्' से अधिक है । वैदिक 'छान्दस्' भाषा की प्रकृति से प्राकृतो की प्रकृति कुछ मिलती जुलती हुई है ।[2]

डा० पिशेल[2] भी जनता की भाषा को ही मूल प्राकृत के रूप मे मानते है । उनका कथन है "प्राकृत भाषाओ की जडे" "जनता की बोलियो के भीतर जमी हुई है और इनके मुख्य तत्त्व आदिकाल मे जीती जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये है, किन्तु बोल-चाल की वे भाषाए जो बाद को साहित्यिक भाषाओ के पद पर प्रतिष्ठित हुई सस्कृत की भाति ही बहुत ठोकी पीटी गयी, ताकि इनका एक सुगठित रूप बन जाये ।"

हिन्दी के प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डा० हरदेव बाहरी[3] भी प्राकृतो को वैदिक तथा साहित्यिक दोनो ही सस्कृतो की जननी मानते हैं —

"प्राकृतो से वेद की साहित्यिक भाषा का विकास हुआ, प्राकृतो से सस्कृत का विकास भी हुआ और प्राकृतो से इनके अपने साहित्यिक रूप भी विकसित हुए ।" सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी प्राकृतो को वैदिक सस्कृत के समानान्तर ही सामान्य लोगो के बीच बोली जाने वाली भाषा के रूप मे स्वीकार किया है । वे कहते है ।[4]—

"From the incription of Ashoka (Circ-250 B C ) and from the writings of grammarian Patanjali (Circ-150 B C.) we learn that by third century before our era an Aryan Speech (in several dilects) was employed in the north of India and having gradually developed from the ancient vernaculars spoken during the period in which vedic hymns were composed, was the ordinary language of mutual intercourse Parrelel with it the so called classical Sanskrit had developed from one of these dilects, under the influance of the Brahman's as the secondary language, and had achieved a

---

1 एल्फ्रेड सी वूल्नर 'इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत' पजाब विश्वविद्यालय-लाहौर, द्वारा प्रकाशित द्वितीय सस्करण 1928. पृ 3-4 ।

2 आर पिशेल द्वारा लिखित 'प्राकृत भाषाओ का व्याकरण', पृ 14-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।

3 प्राकृत भाषा और उसका साहित्य डा हरदेव बाहरी, राजकमल, प्रका. प्र स पृ 13

4. 'लिग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' इन्ट्रोडक्शन, I पी. 121

position much the same as that of latin of the middle ages. For centuries the Aryan Vernacular langauge of India has been called Prakrit, Prakrit i e the natural, unartificial language as opposed to Sanskrit the polished, artificial language From this definition of the term 'Prakrit' it follows that the vernacular dilects of the period of the vedic hymns as compared with the comparatively artificial Sanskrit language of these hymns as they have been preserved by the Brahmans who complied them were essentially Prakrits and as such they may be called the 'Primary Prakrits' of India

इस प्रकार जार्ज ग्रियर्सन तीन प्रकार की प्राकृतो की कल्पना करते हैं। प्राथमिक प्राकृत द्वितीय प्राकृत और तृतीय प्राकृत। प्राथमिक प्राकृत की स्थिति वे पूर्व उल्लिखित "छान्दस्" के मूल मे मानते हैं। द्वितीय प्राकृत वे साहित्यिक प्राकृतो को बताते हैं जिन्हे हेमचन्द्रादि प्राकृत व्याकरणकार "प्रकृति सस्कृत। तत्रभव तत् आगतम्" आदि कहकर परिभाषित करते हैं। तृतीय प्राकृत आधुनिक आर्य भाषाओ के मूल मे देखी जा सकती है। यहा हमारा अभीष्ट केवल प्राथमिक प्राकृत से है। यह प्राकृत आर्यो के भारत मे बसने के पहले से जो भाषा बोली जाती रही होगी उसमे भी सदर्भित की जा सकती है। आगे विकसित होने वाली साहित्यिक भाषाओ मे पायी जाने वाली देश्य या देशी शब्दावली निश्चित ही इसी बोलचाल की प्राथमिक प्राकृत से सम्बन्धित है। ये शब्द आर्य तथा अनार्य दोनो ही वर्ग की अशिक्षित जनता की भाषा मे व्यवहृत होते रहे होंगे। इस आशय का प्रमाण हमे वेदो की भाषा से भी मिल जाता है। ऋग्वेद की भाषा अधिक साहित्यिक है इसके विपरीत अथर्ववेद की भाषा[1] इन बोल-चाल की भाषा के तत्त्वो से भरी हुई है। वैदिक या छान्दस् भाषा के समानान्तर लोक प्रचलित प्राकृत भाषाए विकसित होती जा रही थी। अनेको वैदिक रूप जनभाषा के तत्त्वो से प्रभावित देखे जा सकते हैं।[2]

---

1. अथर्ववेद की सृष्टि ऋग्वेद से निराली है, रोज ब रोज के रीतिरिवाज और जीवन व्यवहार की बातें और मान्यताए उसमे ठीक ठीक प्रतिबिम्बित होती हैं। समग्र दृष्टि मे अथर्ववेद के कुछ अ श ऋग्वेद के समकालीन तो है ही, फिर भी अथर्ववेद के शब्द और शब्दप्रयोग ऋग्वेद मे काफी निराले हैं। जिन शब्दो को ऋग्वेद मे स्थान नहीं, वे शब्द अथर्ववेद मे व्यवहृत होते हैं। —डा प्रबोध बेचारदास पडित-प्राकृत भाषा, पृ 13

2 सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा लिखित 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी', द्वितीय स., पृ 74, पृ 71, 72 भी।

ब्राह्मण साहित्य मे तो स्पष्ट ही तीन "देश्य" भाषाओ या विभाषाओ का उल्लेख हुआ है। (1) उदीच्या (2) मध्यदेशीया (3) प्राच्या। उदीच्या विभाषा उस काल की परिनिष्ठित भाषा थी। इसका केन्द्र सप्तसिन्धु प्रदेश था। इसी मे ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषदो आदि की रचना हुई। मध्यदेशीया विभाषा का रूप स्पष्ट नही है। "प्राच्या भाषा आधुनिक अवध-पूर्वी उत्तर प्रदेश एव बिहार प्रदेश मे बोली जाती थी। यह असस्कृत एव विकृत भाषा थी इसमे द्रविड एव मुण्डा भाषा के तत्वो का पूर्ण मिश्रण विद्यमान था। इस भाषा के बोलने वाले ऐसे लोग थे जिनका विश्वास यज्ञीय सस्कृति मे नही था। इसी कारण उन्हे व्रात्य कहा जाता था। इन व्रात्यो का सामाजिक एव राजनैतिक सगठन भी उदीच्य आर्यो की अपेक्षा भिन्न था। बुद्ध और महावीर इन्ही आर्यों मे से थे। इन दोनो ने सामाजिक क्रान्ति के साथ मातृभाषा को समुचित महत्त्व दिया।"[1] ताण्ड्यब्राह्मण[2] मे व्रात्यो का उल्लेख हुआ है वहा कहा गया है कि व्रात्य[3] लोग उच्चारण मे सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते है यद्यपि वे दीक्षित नही है फिर भी दीक्षा पाये हुओ की भाषा बोलते है।

इस प्रकार बहुत प्रारम्भिक काल से ही आर्य भाषाओ (साहित्यिक) मे लोक या देश्य तत्त्व स्थान पाते आये है। महावीर तथा बुद्ध ने इन्ही जन-भाषाओ का सहारा लेकर अपने धर्मो का प्रचार किया। इन दोनो क्रान्तिकारी महापुरुषो के कुछ समय बाद ही उदीच्य मे एक ऐसी शक्तिशालिनी प्रतिभा से युक्त व्यक्तित्व का उदय हुआ जिसने समस्त लौकिक तथा साहित्यिक भाषाओ के तत्त्वो का एकत्र समाहार कर एक सर्वथा नवीन भाषा का निर्माण कर दिया जो युग-युगो से देवभाषा के पद पर विभूषित चली आ रही है। यह महान् कार्य शालातुर निवासी महर्षि पाणिनि के हाथो सम्पन्न हुआ। उन्होने भाषा परिष्कार के उद्देश्य को सामने रख कर साहित्येतर अर्थात् जनभाषा मे प्रचलित शब्दो के रूपो का भी

---

1 डा नेमिचन्द्र शास्त्री 'प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास' पृ 5, तारा पब्लिकेशन कमच्छा, वाराणसी से प्रकाशित।

2 अदुरुक्तवाक्य दुरुक्तमाहु अदीक्षिता दीक्षितवाचवदन्ति। ताण्ड्यब्रा० 17/4॥

3 'उपनयनादि मे हीन मनुष्य व्रात्य कहलाता है। ऐसे मनुष्यो को लोग वैदिक कृत्यो के लिये अनधिकारी और सामान्यत पतित मानते है। परन्तु यदि कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो तो ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करें, परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।"
—डा. सम्पूर्णानन्द द्वारा सम्पादित व्रात्यकाण्ड भूमिका, पृ 2 प्र सस्करण, डा नेमिचन्द्र शास्त्री 'प्राकृतभाषा और साहित्य का इतिहास', पृ 6 की पादटिप्पणी 2 से उद्धृत।

परिष्कार कर दिया। इतना हो जाने पर यद्यपि साहित्यिक संस्कृत अपने सुगठित रूप के कारण अत्यन्त प्रभावशालिनी बनी रही फिर भी जनभाषाओं का विकास अपनी स्वाभाविक रीति से होता रहा और समय-समय पर इनमें प्रचलित शब्द साहित्यिक भाषाओं की निधि बनते गये। शुद्धता पर अधिक बल देने वाली साहित्यिक संस्कृत में ये तत्व कम आये। लेकिन इसका सहारा लेकर आगे साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने वाली प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं इन जनभाषा के तत्वों या देशी शब्दों के बाहुल्य को बचा न सकीं। प्रकृति, स्वरूप और संगठन सभी दृष्टियों से "छान्दस" भाषा के समीप रहने वाली ये मध्यकालीन आर्यभाषाएं संस्कृत से मात्र विषय वस्तु ही ले सकीं। इसके समस्त निर्माण में जन भाषाओं का बहुत अधिक योग रहा। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में पाये जाने वाले ये ही तत्त्व "देशी" कहे जाने चाहिए। युग-युगों से सामान्य लोगों के बीच में प्रचलित होने के कारण इनकी व्युत्पत्ति देना भी अत्यन्त कठिन कार्य है। ऐसे तत्त्वों में आर्य और आर्येतर दोनों ही प्रकार के तत्त्व सम्मिलित हैं। अब तक हुए अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि साहित्यिक भाषाओं में पाये जाने वाले ऐसे तत्त्व निश्चित ही कोल, संथाल, निषाद, द्रविड आदि जातियों की भाषा से लिए गये होंगे।

अस्तु! साराश रूप में यह कहा जा सकता है कि देशी "शब्दों" का, सामान्य जन भाषा, जो कि बहुत प्राचीन काल से व्यवहार में चली आ रही है, अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। अशिक्षित जनता के बीच में व्यवहृत होते रहने के कारण इन्हें नियमित साहित्यिक भाषाओं (विशेषत संस्कृत) में कम स्थान दिया गया। परन्तु जनभाषा का प्रश्रय लेकर विकसित होने वाली साहित्यिक भाषाओं में इन्हें बहुतायत से प्रयोग किया गया। प्राकृत एक ऐसी ही जनभाषा थी जिसकी देशी शब्दों से निकट का सम्बन्ध भी है अत "देशी" शब्दों को इसमें विशेष रूप से प्रश्रय मिला। संस्कृत-विद्वानों के लोकभाषाओं से प्रति घृणापूर्ण दृष्टिकोण से परे प्राकृत और इसी के अन्तिम विकसित रूप अपभ्रंश[1] के कवियों तथा चिन्तकों ने प्राय अपनी भाषा को "देशी"[2] ही बताया है। प्राकृतों से भी कहीं अधिक "देशी" शब्द अपभ्रंशों में पाये जाते हैं। अत: इन दोनों के आपसी सम्बन्ध पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा।

"अपभ्रंश और देशी"

अपभ्रंश का "भाषा" के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख महाभाष्य में प्राप्त होता

1 अधिकतर विद्वान् 'अपभ्रंश' को प्राकृत का एक भेद ही मानते हैं। इन पंक्तियों के लेखक की भी सम्मति इन्हीं विद्वानों के साथ है।
2 प्राकृत के कवि भी अपनी भाषा को प्राय 'देशी' ही कहते हैं।

है। वहां महर्षि पतंजलि बताते है कि —एक ही शब्द (संस्कृत) के अनेको अपभ्रंश भी होते है जैसे संस्कृत गो का अपभ्रंश गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिका आदि मिलता है — "एकस्यैवशब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।" पतंजलि द्वारा गिनाये गये उन रूपो मे से कुछ को चण्ड[1] और हेमचन्द्र[2] ने "प्राकृत" शब्दो के रूप मे स्वीकार किया है। यहा इस उल्लेख मे स्पष्ट हो जाता है कि पतंजलि शुद्ध संस्कृत से अलग जितने भी शब्द है सभी को "अपभ्रंश" कहते हैं। प्राकृत व्याकरण कार पतंजलि के द्वारा गिनाये गये बहुत से अपभ्रंश रूपों को 'प्राकृत" का मानते है। अतः स्पष्ट है प्राकृत व्याकरणकार "अपभ्रंश" को प्राकृत से अलग नही मानते।

आगे चलकर भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के 17वें अध्याय मे प्राकृत व देशी भाषाओ के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा है। वे संस्कृत से विकृत रूपो को प्राकृत कहते हैं और प्राकृत शब्दो से तीन भेद करते हैं —समान (तत्सम) विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी। इसी सन्दर्भ मे वे म्लेच्छ प्रयोगो से युक्त भिन्न-भिन्न जाति भाषाओ का भी उल्लेख करते हैं। उन्होने मागधी, आवन्ती, प्राच्या सूरसेनी अर्धमागधी, वाल्हीका और दाक्षिणात्या सात भाषाओ तथा शबर, आभीर, चाण्डाल, सचर, द्रविड, उद्रज, हीन और वनचरो द्वारा बोली जाने वाली विभाषाओ का भी उल्लेख किया है।[3]

भरत के इस विवरण की संक्षेप मे व्याख्या करते हुए हीरालाल जैन[4] यह निष्कर्ष निकालते है कि—"भरत मुनि का मत है कि संस्कृत के अतिरिक्त दो प्रकार की भाषाए हैं— एक प्राकृत—जिसमे संस्कृत के विकृत शब्द प्रयोग मे आते है और इसलिए जिन्हे वे 'विभ्रष्ट' कहते है और दूसरी देशी — जिसमे संस्कृत प्राकृत के शब्द भी हैं तथा कुछ म्लेच्छ (अनार्य अर्थात् असंस्कृत शब्द भी हैं। मुख्य देशी भाषाए (भाषा) मागधी आवन्ती आदि सात है और गौण देशी भाषाए (विभाषा) शबर आभीर चाण्डालादि की अनेक हैं।'

हीरालाल जैन द्वारा निकाला गया यह निष्कर्ष सोद्देश्य है— वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि भरत ने भी अपभ्रंश (आभीरो की भाषा) को देशी कहा है। परन्तु अपने मन्तव्य की सिद्धि मे वे भरत द्वारा कही गयी बात के सन्दर्भ को भूल गए। यहा भरत का मन्तव्य नाटको मे प्रयोग योग्य भाषाओ का हल्का विवेचन

1. चण्ड 'प्राकृत लक्षण' 2,16 गोगावि ।
2 हेमचन्द्र प्रा व्या 2,174 गो गौणो, गावी, गाव, गावीओ।
3 नाट्यशास्त्र 17, 1-4-49 तक
4 पाहुड दोहा की भूमिका, पृ. 37

मात्र है जिसे नाटककार विभिन्न पात्रो से स्वच्छन्दतापूर्वक बोलवा सकता है। यदि हीरालालजी की तरह भरत के अनुसार आभीरो की भाषा (विभाषा) अपभ्रंश के रूप मे कल्पित कर ली जायेगी तो फिर द्रविड भाषा (एक विभाषा) को भी आर्य-भाषा के अन्तर्गत लिया जा सकता है। कुछ भी हो इस विवाद से परे हटकर भरत ने जिन प्राकृत की भाषाओ और विभाषाओं की चर्चा की है उनमे 'देशी' तत्त्व विद्यमान हैं। हा इतना अवश्य है कि इस स्थल पर उल्लिखित प्राकृते दो प्रकार की है- एक सस्कृत सम्मत, उसके विकृत रूप मे, दूसरी विभिन्न प्रान्तीय और जातीय तथा स्थानीय बोलियो से सम्मत जिसे हम देशी बहुल प्राकृत कह सकते है।

भरत से आगे प्राकृत और अपभ्रंश की अलग-अलग भाषाओ के रूप मे गणना की गयी। परन्तु यह भरत की मान्यता के विपरीत बात नही थी। सस्कृत के विकृत रूपो की जिनमे प्रधानता रही वे काव्य प्राकृत के काव्य कहलाये। परन्तु ऐसे काव्य जिनमे आभीरादि देशी तत्त्वो की प्रधानता होती गयी एक अलग विभाग के अन्तर्गत रख दिये गये। यह विभाग सभवत साहित्यिक प्राकृत और देशी प्राकृत को अलग-अलग स्पष्ट करने के लिए रखा गया होगा। यही देशी तत्त्वो से युक्त प्राकृत (विभाषा) अपभ्रंश कही जाने लगी होगी।

वास्तव मे अपभ्रंश प्राकृत की ही अतिम अवस्था है जिसमे हिमालय के पार्वत्य प्रदेश, सिन्धु और सौवीर प्रदेश के निवासियो का उकार बहुल प्रयोग बढ गया था। भरत ने इसी उकार बहुला भाषा को (विभाषा-प्राकृत) के रूप मे स्वीकार किया है। विभ्रष्ट शब्द के प्रयोग से उनका तात्पर्य तद्भव शब्दो से युक्त साहित्यिक प्राकृतो से रहा होगा। इस प्रकार भरत द्वारा दिया गया। विवेचन[1] प्राकृतो से ही सम्बन्धित है।

विक्रम की प्रथम सदी से ही प्राकृत साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लग गयी थी। धीरे-धीरे व्याकरणकारो के हाथो यह परिष्कृत होती गयी और परिनिष्ठित भाषा बनकर जन भाषा के स्वरूप से दूर होती गयी। परिणामत. इन परिनिष्ठित भाषा, प्राकृतो की जगह एक तृतीय युगीन[2] प्राकृत का विकास हुआ जिसे भाषाशास्त्रियो ने अपभ्रंश कहा है। इस नाम के अनेको प्राकृत रूप अवहस[3] -अवब्भस, अवहट्ट-अवहत्थ आदि मिलते हैं। भरत ने इसी का उल्लेख उकार बहुला प्राकृत (विभाषा) के रूप मे किया है।

---

1 समानशब्द विभ्रष्ट देशीगतमथापि च। ना शा 17।3॥

2. प्राकृत भाषाओं का विस्तृत वर्गीकरण डा नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक ग्रन्थ के पृ 17 पर दिया है। वहा इन्होंने भी अपभ्रंश को तृतीय युगीन प्राकृत के रूप में स्वीकार किया है।

अपभ्रंश कही जाने वाली इस तृतीय-युगीन-प्राकृत का प्रचलित जनभाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध था यह बात भरत ने भी स्वीकार की है। इसी प्राकृत का विवेचन भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय मे किया है —

शब्द संस्कार हीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षते।

तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशनम्।। वाक्यपदीय, 1 का०, कारिका 148 यहा भर्तृहरि का संकेत ऐसे शब्दो की ओर है जो पाणिनीय व्याकरण से असिद्ध है। पतंजलि ने भी यही बात कही थी जो शब्द भ्रष्ट, च्युत, स्खलित विकृत और अशुद्ध हैं उन्हे वे अपभ्रंश शब्द कह देते है। एक बात यहा स्पष्ट कर देने की है। पतंजलि ने यहा अपभ्रंश पद का प्रयोग शब्द के संदर्भ मे किया है, भाषा विशेष के नही। महाभाष्य के टीकाकार कैयट (10 मृ शदी) इस बात को और भी स्पष्ट कर देते है —

अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्दसमानार्थञ्च

'अपभ्रंश शब्द' साधु शब्दो के समान अर्थ मे लोक मे प्रयुक्त होते है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय युगीन प्राकृत जिसे कि अपभ्रंश नाम दिया गया है, जन भाषा के तत्त्वो से भरी हुई है। इसका विकास विभिन्न प्रदेशो मे स्थानीय जनभाषाओ का सहारा लेकर होता रहा। धीरे-धीरे इसमे भी काव्यादि की रचना होने लगी। इसे अलग भाषा के रूप मे भले ही मान लिया गया हो परन्तु इसका स्वरूप निर्माण और शब्दावली सभी कुछ देश्य तत्त्वो से युक्त है और सबसे आश्चर्यचकित कर देने वाली बात तो यह है कि अपभ्रंश के लगभग सभी कवियो ने अपनी काव्यभाषा को 'देशी' कहा है। संस्कृत के आचार्यो ने तो इसे पूर्ण रूप से देशी भाषा माना ही है। अब अपभ्रंश के कवियो के विचारो का उल्लेख कर देना भी समीचीन होगा।

'पउमचरिउ' के रचयिता स्वयभू अपने रामायण को 'देशीभाषा' या ग्रामीण भाषा मे विरचित बताते हैं।[1] पुष्पदन्त[2] ने भी अपनी भाषा को 'देशी' नाम से अभिहित किया है। पद्मदेव[3] कृत 'पासणाहचरिउ' लखमेव[4] (लक्ष्मणदेव) कृत

---

1 देसी-भासा उभय तडुज्जल गामेल्ल भास परिहाणइ। पउमचरिउ 3/1

2. णउ हउ होमि देसिण वियाणमि। —महापुराण 1/18

3 वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ
छदालंकारविसाल पोढ।
+ + + पाहुड दोहा की भूमिका, पृ 44 से उद्धृत

4 ण समाणमि छद न वधभेउ।
णउ हीणाहिउ मत्ता समेउ।
णउ सक्कय पायउ देस-भास।
णउ सद्दु वण्णु जाणमि समास। इत्यादि पाहुड दोहा भूमिका, पृ 45

'णेमिणाह चरिउ', पादलिप्त[1] कृत 'तरंगवई कहा' (तरंगवती कथा) तथा विद्यापति[2] सभी ने अपनी काव्य-भाषा देशी बताया है ।

इस प्रकार सभी दृष्टियों से यह सत्य है कि अपभ्रंश तृतीय युगीन प्राकृत थी । पिशेल ग्रियर्सन, भण्डारकर, चटर्जी, वुलनर जैसे विद्वानों ने अपभ्रंश को देशी-भाषा माना । पिशेल ने लिखा भी है "मोटे तौर पर देखने से पता चलता है कि प्रामाणिक संस्कृत से जो बोली थोड़ी बहुत भेद दिखाती है, वह अपभ्रंश है । इसलिए भारत की जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का नाम अपभ्रंश पड़ा और बहुत बाद को प्राकृत भाषाओं में से एक बोली का नाम भी अपभ्रंश रखा गया । यह भाषा जनता के रात दिन के व्यवहार में आने वाली बोलियों से उपजी और प्राकृत की अन्य भाषाओं की तरह थोड़े बहुत फेर-फार के साथ साहित्यिक भाषा बन गयी ।"[3]

पिशेल के इस कथन से यह स्पष्ट है कि एक प्रकार की अपभ्रंश शब्द रचना और रूपरचना में प्राकृत के ही रास्ते पर चलती है । इसे ही दण्डी[4] ने काव्यभाषा के रूप में स्वीकार किया है । दूसरी प्रकार की अपभ्रंश बोलचाल की भाषा रही है । विद्यापति आदि अपभ्रंश कवियों ने इसी बोल-चाल से सम्मत भाषा को देशी कहा होगा ।

अपभ्रंश के इन दोनों रूपों की सिद्धि सर जार्ज ग्रियर्सन के 'लेंग्वेज आफ इण्डिया' निबन्ध से भी होती है । इन्होंने प्राकृतों को प्रारम्भिक अपभ्रंश कहा है[5] । लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' में ग्रियर्सन ने अपभ्रंशों को प्राकृत का स्थानीय अथवा प्रादेशिक विकार कहा है । 'इसी प्रकार' आन दि मार्डन इण्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स '(इण्डियन एण्टीक्विरी, जिल्द-60) में इन्होंने अपभ्रंश के अन्तर्गत बोलचाल की प्राकृतों को लेने से इन्कार करते हुए अपभ्रंश को साहित्यिक प्राकृतों के बाद की देशभाषा माना है । स्पष्ट है कि अपभ्रंश में देशीभाषा के तत्त्व अवश्य हैं । यह सम्भव है कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा न भी रही हो, पर इतना तो मानना पड़ता है कि पूर्ववर्ती साहित्यिक प्राकृत ही देशीभाषा के योग से अपभ्रंश की अवस्था

---

1. पालित्तएण रइया वित्थरओ तह देसिवयणेहिं
   नामेण तरंगवई कहा विचित्ता य विउला य ।। पाहुड दोहा-भूमिका, पृ 45
2. देसिल बअना सबजन मिट्ठा ।
   त तैसन जम्पओ अवहट्ठा ।।
   —पाहुड दोहा-भूमिका, पृ 33
3. 'प्राकृतभाषाओं का व्याकरण'
   — हिन्दी अनुवाद-बिहार राष्ट्रभाषा परि , पृ 57
4. आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रंश इतिस्मृता' । का. आ 1136
5. 'लैंग्वेज आफ इण्डिया', जिल्द 1, पृ 123

मे विकसित हुई है। नमिसाधु ने काव्यालकार की टीका मे 'प्राकृतमेवापभ्रंश:[1] 'द्वारा इस प्राकृत को अपभ्रंश कहा है।'[2]

निष्कर्ष .

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि 'देशी' शब्दो का प्रादुर्भाव बहुत अनादिकाल से बोली जाने वाली जनभाषा से हुआ और समय-समय पर जन भाषाओ का सहारा लेकर विकसित होने वाली साहित्यिक भाषाए (पालि-प्राकृत आदि) इन्हे आत्मसात करती रही। ऐसे शब्द असख्य परिवर्तनो से होकर गुजरने के कारण युगयुगो से विकासमान भाषाओ का अत्यन्त ही रुचिकर इतिहास बताते है। उनमे अनेको आर्येतर शब्द भी आर्यीकृत रूप मे व्यवहृत होते आ रहे हैं। इनका अर्थ और सन्दर्भ जानने के लिये हमे व्याकरण का सहारा छोड कर सामान्य लोगो के व्यवहार का सहारा लेना पडता है। ये शब्द जिस सदर्भ और वातावरण मे आदिकाल से व्यवहृत होते आ रहे है प्राय उसी सदर्भ और वातावरण मे आज भी प्रचलित हैं। जन-भाषाओ से गृहीत इन शब्दो का हेमचन्द्र ने जैसा परिचय दिया है, आज की भाषा मे भी वे उसी सन्दर्भ और वातावरण मे प्रयुक्त दिखायी देते हैं। व्याकरण ग्रन्थो के बीच इनका सन्दर्भ खोज पाना अत्यन्त दुरूह कार्य है। साथ ही आर्यो के भारत आगमन के पहले तथा स्वय आर्यो की ही मूलभाषा का कोई लिखित प्रमाण न मिलने के कारण इनके उद्भव का पता लगा पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। इन शब्दो का उद्भव भारत मे युगयुगो से बसती चली आयी जातियो के सास्कृतिक इतिहास के मूल मे खोजा जा सकता है।' भारतवर्ष मे अनेक जातियो के लोग और उनकी भिन्न-भिन्न भाषाए हैं। इन उपादानो के मिश्रण से ही भारतीय जन तथा भारतीय सस्कृति निर्मित हुई है। ... .. ... । अत्यन्त प्राचीनकाल से भिन्न-भिन्न विदेशी जातिया अपनी विभिन्न सस्कृतियो को साथ लेकर भारत मे आयी हैं और यहा बसती गयी हैं। उन्होने अपने वशानुगत सस्कारो विचारो एव सामर्थ्य के अनुसार यहा व्यवस्थित समाज और सस्कृति का निर्माण किया है और अपने ढग से जीवन बिताने की प्रणालिया और विचार विकसित किये हैं। .......... ...... .. ... .... । हमारे यहा के आदिवासी निग्रोवटु या नेग्रिटो जातिया हैं इन नेग्रिटो आदिवासियो के पश्चात् पश्चिमी एशिया की आस्ट्रिक जाति के मनुष्यो का आगमन हुआ और उनके पश्चात् द्रविड उसी पश्चिम दिशा से आये। आस्ट्रिक

1. रूद्रट काव्यालकार—1।12 की टीका।
2. "प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास"—डा. नेमिचन्द्र, पृ. 100।

जाति के लोग भारत मे 'निषाद' कहलाते थे और द्रविड लोग आर्यों मे 'दस्यु' या 'दास' नामो से प्रसिद्ध थे। द्रविडो के बाद आर्य जातिया आयी और उत्तर तथा उत्तरपूर्व से तिब्बती चीनी लोग जो प्राचीन भारत मे किरात कहलाते थे, आये। भारतीय जातियो और भारतीय सस्कृति की आधार ये ही चार जातिया थी- निषाद, द्रविड, किरात और आर्य। परन्तु यह स्वय भी आने के समय पूर्णरूप से विशुद्ध या अमिश्रित नही कही जा सकती। ... ... .... . ... ...... .. .. परन्तु इन सब विभिन्न उपादानो का सम्पूर्ण एकीकरण आर्यो की उच्चकोटि की व्यवस्था शक्ति के फलस्वरूप ही हो सका। कही-कही यह एकीकरण रासायनिकपूर्णता को पहुच गया, तो कही केवल परस्पर के सम्मिश्रण तक ही सीमित रहा। .... . .. .
आस्ट्रिक और द्रविडो द्वारा भारतीय सस्कृति का शिलान्यास हुआ था, और आर्यो ने उस आधारशिला पर जिस मिश्रित सस्कृति का निर्माण किया उस सस्कृति का माध्यम, उसकी प्रकाशभूमि एव उसका प्रतीक यही आर्यभाषा बनी, आरम्भ से सस्कृत, पालि, पश्चिमोत्तरीय प्राकृत (गान्धारी) अर्धमागधी अपभ्रश आदि रूपो मे तथा बाद मे हिन्दी, गुजराती, मराठी, उडिया, बगला और नेपाली आदि विभिन्न अर्वाचीन भारतीय भाषाओ के रूप मे, भिन्न भिन्न समयो एव प्रदेशो मे भारतीय संस्कृति के साथ इस भाषा का अविच्छेद्य सम्बन्ध बनता गया।'[1]

चाटुर्ज्या महोदय के इस विवेचन को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यो और आर्येत्तर जातियो के आपसी आदान-प्रदान के माध्यम से भारतीय आर्य-भाषाओ का निर्माण सम्पन्न हुआ। इस सारी प्रक्रिया के बीच आर्यो की भाषा का प्रमुख स्थान रहा। इसके इर्द-गिर्द अनेको आर्येत्तर भाषाओ के फैली होने के कारण समय-समय पर यह उनसे प्रभावित होती रही। आर्येतर भाषाओ से लिये गये कुछ उपादान तो आर्यो की साहित्यिक भाषा की अपनी वस्तु बन गये। एक तरह से उनका आर्यीकरण हो गया परन्तु बहुत से ऐसे उपादान फिर भी समय पाकर साहित्यिक भाषाओ मे आते रहे जिनका कोई भी स्रोत आर्यभाषा के अन्तर्गत नही मिलता। इन्हीं असदर्भित तत्त्वो को देशी कहा गया है जो निश्चित ही आर्येतर जातियो और उनकी संस्कृति के प्रभाव स्वरूप देखे जा सकते हैं। मध्यकालीन आर्य-भाषाओ मे ये उपादान स्पष्ट होकर ऊपर आ गये।

**देशी शब्दों के प्रति हेमचन्द्र के पूर्व के आचार्यों का दृष्टिकोण:-**

'देशी' शब्दो का प्रयोग वैदिक युग की भाषा से होता आ रहा है। आर्यो

---

1 सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' पृ. 14–15

की सस्कृति प्रारभ से ही गामीण सस्कृति रही है अत ग्रामीण या जनभाषा के शब्दो का प्रभाव इनकी साहित्यिक भाषा पर भी पडा ।[1]

ब्राह्मणकाल मे आर्य-भाषा के तीन रूपो का स्पष्टत अनुमान किया जा सकता है– (1) उदीच्य-उत्तरीय या पश्चिमोत्तरीय (2) मध्यदेशीय और (3) प्राच्य । उदीच्य परिनिष्ठित भाषा थी । 'कौषीतकि ब्राह्मण' मे एक जगह उल्लेख है कि 'उदीच्य प्रदेश मे भाषा बडी जानकारी से बोली जाती है, भाषा सीखने के लिए लोग उदीच्यजनो के पास ही जाते है, जो भी वहा से लौटता है, उसे सुनने को लोग इच्छा करते है ।'

'(तस्माद् उदीच्या प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते, उदच एवयन्ति वाच शिक्षितम्'
यो वा तत् आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति)[2]'

–शाखायन या कौशीतकि ब्राह्मण 7।6 ।।

'प्राच्या पूर्व मे रहने वाली बर्बर अटनशील और असुर वर्ग के लोगो की भाषा के सम्पर्क से प्राप्त आर्य-भाषा का रूप है । परिनिष्ठित भाषा-भाषी आर्य इन प्राच्य जनो को घृणा की दृष्टि से देखते थे । इस प्रकार यह प्राच्य भाषा स्थानीय बोलियो की ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियो तथा सभवत शब्दावली से भी युक्त थी । इसी आशय का उल्लेख पतजलि के महाभाष्य मे एक ब्राह्मण मे आयी कथा के सदर्भ मे भी मिलता है । वहा बताया गया है कि असुरवर्ग के लोग सस्कृत के शब्दो का शुद्ध उच्चारण नही कर पाते । वे 'अरयो' को 'अलयो, कहते हैं । क्यों कि उनकी भाषा की प्रकृति परिनिष्ठित भाषा से परे हटकर है । आर्य-भाषा का मध्यदेशीय रूप उदीच्या और प्राच्या के बीच-बिचाव के रूप सामजस्य से प्राप्त हुआ । प्राचीन आर्य-भाषा के इन तीनो रूपो के उदाहरणस्वरूप एक शब्द के तीन रूप लिये जा सकते हैं– श्रीर, श्रील तथा श्लील, पहले रूप मे केवल र' है, जो उदीच्या का लक्षण है । तीसरे मे केवल 'ल' है, जो कि परिवर्ती मागधी को देखते हुये स्पष्टत प्राच्या का लक्षण है और दूसरा रूप 'श्रील' जिसमे 'र' तथा 'ल' दोनो विद्यमान हैं, 'मध्यदेशीया' का रूप है ।

ब्राह्मणो के बाद पालि साहित्य के विकास के साथ ही जनभाषा का प्रभुत्व बढा । पालि मे 'देशी' तत्त्व बहुतायत से खोजे जा सकते हैं । अभी तक जनभाषा का आश्रय लेकर चलने वाली भाषाओ मे किसी का व्याकरण नही लिखा गया था । जैन आगम के अन्तर्गत प्राचीनतम रचना 'आयारग' के अन्तर्गत 'अणुओगदार सुत्त'

1 देखिये 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' चाटुर्ज्या–, पृ 74–75 ।
2 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, द्वि स , पृ 72 से उद्धृत ।

है। इस ग्रन्थ मे प्राकृतो की समस्त शब्द राशि को पाच भागो मे विभक्त किया गया है।[1] यहा चौथे विभाग नैपातिक के अन्तर्गत देशी शब्दो को समाहित कर लिया गया है। वहा दिये गये उदाहरण-अक्कनो, जह, जहा आदि हैं।

जन भाषाओ के साथ-साथ सदैव ही किसी न किसी अश मे सस्कृत अभिजात वर्ग की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित रही है। सस्कृत मे अधिक से अधिक जनभाषा के तत्त्वो को न रखने की प्रवृत्ति रही। फिर भी ये शब्द काफी मात्रा मे स्वय ही स्वाभाविक रूप से आ गये। सस्कृत मे भी शब्दो के दो विभाग किये गये हैं (1) व्युत्पन्न शब्द (2) अव्युत्पन्न शब्द। व्याकरण के नियमो से सिद्ध होने वाले शब्द व्युत्पन्न तथा जिनकी सिद्धि व्याकरण सम्मत न होकर लोक परम्परा या व्यवहार से हो वे अव्युत्पन्न शब्द कहलाये। इन्ही अव्युत्पन्न शब्दो के बारे मे पतजलि ने कहा है कि लोक मे शब्दो का भण्डार बहुत बडा है उन शब्दो मे कुछ ऐसे हैं जिन्हे व्याकरण से व्युत्पन्न नही किया जा सकता। ऐसे शब्द लोक मे स्वत उत्पन्न होते हैं और अर्थों के साथ उनका सम्बन्ध स्वय जुड जाता है और वे लोगो के कण्ठ मे रहकर व्यवहार मे आते हैं। उनके लिये लोक ही प्रमाण है। इसी प्रकार के शब्दो को पाणिनि ने सज्ञा प्रमाण'[2] कहा है। सस्कृत मे कुछ ऐसे भी शब्द थे जो बिना व्याकरण के नियम के ही प्रयुक्त होते थे। पाणिनि ऐसे शब्दो को 'यथोपदिष्ट' मानकर प्रामाणिक मान लेते हैं– पृषोदरादीनि-आदिष्टम्॥ सम्भवत इन्ही आधारो पर व्याकरण द्वारा अव्युत्पादित शब्द आचार्यों द्वारा देशी कह दिये गये हैं।

इसके बाद प्राकृत के व्याकरणकारो ने 'प्राकृत-शब्द- सम्पत्ति' को तीन प्रमुख भागो मे बाटा है (1) तत्सम (2) तद्भव (3) देश्य या देशी।[3] प्राकृतो का सर्वप्रथम भाषा गत विवेचन करने वाले भरत हैं। इन्होने भी प्राकृत को तीन[4] प्रकार के शब्दो से युक्त माना- समान, विभ्रष्ट तथा देशीमत। अन्य प्राकृत व्याकरणकारो मे 'चण्ड' इसे 'देशीप्रसिद्ध' कहते हैं त्रिविक्रम मार्कण्डेय सिहराज वाग्भट्ट आदि देश्य या देशी कहते हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र के पहले तथा बाद के सभी आचार्यों तथा विद्वानो ने आर्य भाषाओ मे "देशी" शब्दो की स्थिति स्वीकार की है। अपने

---

1. पचणामे पचविहे, पराणत्ते त जहा-(1) नामिक (2) नैपातिक (3) आख्यातिक (4) औपसर्गिक (5) मिश्र। अणुओगदारसुत्त–प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० नेमिचन्द्र पाद टिप्पणी, पृ० 5 8
2 तदशिष्य सज्ञाप्रमाणत्वात ॥ 1।1।53
3 हे० प्रा० व्या० 1।1 त्रिविक्रम का व्याकरण प्रारम्भिक 6 ठी कारिका–शब्द चन्द्रिका करिका 49 शभचन्द्र का व्याकरण 1।1।16 इत्यादि
4 समान विभ्रष्ट देशीमतपश्चापि च। ना० शा० 17।3

पहले के आचार्यों की विचारधारा का पोषण स्वय हेमचन्द्र ने किया और आगे चलकर उनके बाद के व्याकरणकारो ने स्वय हेमचन्द्र की मान्यताओ का समर्थन किया। इतना अवश्य है कि आचार्य हेमचन्द्र की भाति किसी भी व्याकरणकार ने "देशी" शब्दो पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर अपने मतो का प्रतिपादन नही किया। पूरी भारतीय आर्य-भाषा परम्परा मे "देशी" शब्दो का परिज्ञान कराने वाला हेमचन्द्र का एकमात्र ग्रन्थ "देशीनाममाला" है। इसी से हमे यह भी पता चलता है कि इन तरह के ग्रन्थ पहले भी लिखे गये थे परन्तु अब वे उपलब्ध नही होते। हेमचन्द्र ने परम्परा के इन सभी देशीकारो के स्वीकार्य मतो को माना और अस्वीकार्य मतो का खण्डन किया है। अब यहा "देशी" शब्दो के प्रति स्वय आचार्य हेमचन्द्र का क्या दृष्टिकोण है ? इसका विवेचन कर लेना समीचीन होगा।

## आचार्य हेमचन्द्र का मत

भारतीय व्याकरण ग्रन्थो की परम्परा मे आचार्य हेमचन्द्र के "सिद्धहेम शब्दानुशासन" का बहुत बडा महत्त्व है। इस एक ही ग्रन्थ मे उन्होने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तीनो का व्याकरण दे दिया है। तीनो भाषाओ मे व्याकरण-सिद्ध शब्दो का आख्यान कर चुकने के बाद उन्होने अपने ग्रन्थ के अष्टम अध्याय (प्राकृतव्याकरण) के पूरक ग्रन्थ के रूप मे व्याकरण से असिद्ध "देशी" शब्दो का आख्यान करने के लिये एक कोश का निर्माण किया। इसका नाम देशीनाम माला" रखा। भारत ही नही समस्त विश्व के भाषा सम्बन्धी ग्रन्थो मे यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

आचार्य हेमचन्द्र "देशी" शब्द की परिभाषा देते हुए देशीनाममाला के प्रारम्भ मे ही कहते हैं—

> जे लक्खणे सिद्धा ण प्रसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
> ण य गउणलक्खणासत्तिसभवा ते इह णिबद्धा ॥[1]

"जो न लक्षण (व्याकरण) ग्रन्थो से सिद्ध होते हैं और न जो संस्कृत कोशो मे ही प्रसिद्ध हैं तथा जिन्हे लक्षणा आदि शब्द शक्तियो के आधार पर भी नहीं समझा जा सकता—ऐसे "देशी" कहलाने वाले शब्द इस कोश मे निबद्ध किये गये हैं।"

इस बात को वे मूल गाथा की व्याख्या मे भली भाति स्पष्ट करते हैं। "लक्षणे शब्द शास्त्रे सिद्ध हेमचन्द्र नाम्नि ये न सिद्धा प्रकृति प्रत्ययादि विभागेन

---

1 दे० ना० मा०–पिशेल द्वि० सं० 1।3॥ पृ० 2

न निष्पन्नास्तेऽत्र निबद्धा : । ······ ···· ये च सत्यामपि प्रकृति प्रत्यय विभागेन सिद्धौसंस्कृताभिधान कोशेषु न प्रसिद्धास्तेऽप्यत्र निबद्धा । ' " ये च संस्कृताभिधान कोशेषु अप्रसिद्धा अपि गौण्या लक्षणया वालङ्कार चूडामणिप्रतिपादितयाशक्त्या संभवन्ति······ ···· " ते इह न निबद्धा : ।

"सिद्ध हैमशब्दानुशासन" प्रभृति व्याकरण ग्रन्थों से जो प्रकृति प्रत्यय आदि व्याकरणिक विभागों से सिद्ध नहीं होते ऐसे शब्द इस कोश में रखे गये हैं । और जो व्याकरणिक प्रकृति-प्रत्यय आदि विभागों से सिद्ध होते हुए भी संस्कृत कोशों में प्रसिद्ध नहीं हैं, उन्हें भी "देशी" मानकर निबद्ध कर लिया गया है । और जो संस्कृत कोशों में अप्रसिद्ध होते हुए भी गौणी लक्षणा या अलकार चूडामणि आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित शब्दशक्तियों के द्वारा भी दुर्बोध हैं, ऐसे शब्दों को यहां रख दिया गया है"[1]

इसके बाद भरतादि शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को कोई "देशी" न समझ ले इस बात की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं—

णाणा देस पसिद्धीइ भण्णमाणा अणन्त या हुन्ति ।
तम्हा अणाइ पाइअ पयट्टभासा विसेसओ देसी ।।[2]

देशविशेष (महाराष्ट्र विदर्भादि) में बोली जाने वाली भाषाएं अनेक हैं । अत: उनके शब्दों की सीमा भी नहीं है । इस कारण अनादिकाल से प्रचलित भाषा के शब्दों को ही यहां देशी माना गया है ।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र देशी शब्दों की कोटि में प्रमुखत: चार प्रकार के शब्द रखते हैं (1) ऐसे शब्द जिन्हें व्याकरणगत नियमों से सिद्ध न किया जा सके । (2) ऐसे शब्द जो व्याकरण में सिद्ध होते हुए भी संस्कृत के कोशों में अप्रसिद्ध या अप्रचलित हों – जैसे – अमयणिग्गम.–अमृत निर्गम.– चन्द्रमा । यह शब्द चन्द्रमा के अर्थ में संस्कृत के कोशों में न प्राप्त होने के कारण "देशी" शब्दों की कोटि में रख दिया गया है। (3) ऐसे शब्द जो लक्षणा इत्यादि शब्द शक्तियों के आधार पर भी अपने अर्थ से न जोड़े जा सकें । (4) ऐसे शब्द जो अनादि काल से स्वाभाविक रूप से प्रचलित चले आ रहे हों ।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त चार कोटि के शब्दों को "देशी" माना है । परन्तु इन आधारों पर उनके द्वारा संकलित किये गये शब्दों में "वास्तविक" रूप से

1. देशीनाममाला–पिशेल, द्वि० सं० 1।3।1, पृ० 3
2 वही, 1।4, पृ० 3

"देशी" कहे जाने वाले शब्दों की संख्या कम है। पिशेल आदि विद्वानो ने हेमचन्द्र की इस देशी विषयक मान्यता को ठीक नही बताया है। इनके द्वारा सकलित किये गये शब्दो मे शुद्ध रूप से लगभग 1500 शब्द ही देशी है। शेष तद्भव और तत्सम हैं जिनका सग्रह आचार्य ने कोशो मे उनकी अप्रसिद्धि तथा पूर्व आचार्यो की मान्यता के आधार पर किया होगा। पी० एल० वैद्य ने हेमचन्द्र की "देशीनाममाला" मे सकलित शब्दो को 8 भागो मे विभाजित किया है।[1]

(1) ऐसे शब्द जो दिये गये अर्थ मे ही सस्कृत मे जा ढूँढे सकते हैं। जैसे अहिविण्ण (अभिविण्ण, दुखी निराश) अइहारा (अचिराभावर्ण व्यत्यय मात्र) आसिअअ (आयासिका) खुलह (गुल्क) आदि।

(2) ऐसे शब्द जिनका मूल सस्कृत मे खोजा तो जा सकता है परन्तु उनका वह अर्थ नही है जो प्राकृत मे है। जैसे अरुण-कमल (प्राकत) लाल (सस्कृत) गहवइ-गृहपति-(सस्कृत पति या स्वामी, प्राकृत, चन्द्रमा।

(3) प्राकृतो का स्वरूप धारण किये हुए सस्कृत शब्द—जैसे एक्कघरिल्ल

(4) प्राकृत शब्द या तद्भव शब्द।

(5) सस्कृत के उपसर्गों से युक्त प्राकृत शब्द – जैसे चिल्ला—उचिल्ला, फेसाउफे्फसा, चल्लि-उच्चल्लिअ, वुक्का-उव्वुक्का।

(6) सस्कृत के स्वरूप के प्राकृत शब्द-जैसे, अण्णा, अन्णी।

(7) प्राकृत शब्दो का तोड़ा मरोडा गया रूप[2]—जैसे खट्टा—खट्टिक्का, गोणा—गोण्णिक्का, घर—घरिल्ली।

(8) प्राकृत और सस्कृत शब्दो के मिश्रण बने शब्य जैसे खोडपजल्ली, गयसाउल्ल आदि।

## आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों का मत

प्राचीन व्याकरणकारो और भाषाविदो की भांति आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी प्राकृतो की शब्द सम्पत्ति को तीन भागो मे विभाजित करते है (1) तत्सम (2) तद्भव (3) देश्य या देशज। यहा केवल "देश्य" या "देशी" कहे जाने वाले शब्दो पर विचार करना अभीष्ट है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिको मे जान-बीम्स, हार्नले, जार्जग्रियर्सन, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पी० डी० गुणे आदि ने देशी

---

1. पी० एल० वैद्य 'आब्जर्वेशन आन हेमचन्द्राज देशीनाममाला',—'एनेल्स आफ भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' जिल्द 8 पृ० 67–68
2. "Prakrit words with Prakrit terminations" P L Vaidya A.B O I R V 8 P 68

शब्दो पर अपने विचार दिये हैं। इनका एक-एक कर उल्लेख कर देना समीचीन होगा — जानबीम्स अपने "कम्पेरेटिव ग्रामर आफ माडन आर्यन लैंग्वेज" नामक ग्रन्थ मे लिखते है—"देशी शब्द वे हैं जो किसी भी संस्कृत शब्द से व्युत्पन्न नही किये जा सकते इसलिए ये या तो आर्यों के पूर्व मे रहने वाले आदिवासियो की भाषा से लिये गये होंगे या फिर सस्कृत भाषा के विकसित होने के पहले ही स्वय आर्यों द्वारा आविष्कृत होगे।[1]"

ए एफ आर हार्नल[2] अपने 'कम्परिटिव ग्रामर ऑफ गौडियन लैंग्वेजेज' नामक ग्रन्थ मे "देशी" शब्दो को ग्रामीण अर्थात् प्रान्तीय या आदिवासियो की भाषा से ग्रहण किया गया बताते हैं ये ऐसे शब्द है जिन्हे सस्कृत के शब्दो से व्युत्पन्न नही किया जा सकता। इसका विचार है कि इन शब्दो को अशिक्षित ग्रामीण आर्यों ने यहा रहने वाली आदिवासी जातियो से सस्कृत (वैदिक) के विकास के पहले ही ग्रहण किया होगा या फिर इन ग्रामीण तथा अशिक्षित आर्यों ने अर्थ शब्दो को ही ऐसा तोड मरोड और बिगाड दिया होगा कि ये उनके परिनिष्ठित (साहित्य मे प्रचलित) रूपो से बहुत दूर जा पडे होंगे और आगे चलकर इनका पहिचानना बहुत मुश्किल हो गया होगा। जहा तक इन शब्दो पर पडे अनार्य तत्त्वो के प्रभाव का प्रश्न है, हार्नले का मत है जो भी अनार्य प्रभाव इन शब्दो पर पडा होगा वह अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन काल का होगा जब कि यहा आकर बसने वाले आर्य तथा पहले से ही रहने वाले आदिवासी सम्भवत "पैशाची" या प्राचीन अपभ्रंश बोलते रहे होंगे। हार्नले का विचार है कि उन आदिवासियो की भाषा जो सर्वप्रथम आर्यों के द्वारा अविकृत किये गये, "पैशाची" के समान रही होगी तथा आर्य, द्रविड और आदिवासियो के आपसी सम्बन्धो के कारण विकसित भाषा "प्राचीन अपभ्रंश रही होगी। परन्तु हार्नले के इस मत को ग्रियर्सन नही स्वीकार करते। वे अपभ्रंश को प्राकृतो की अन्तिम (तृतीय) विकासावस्था मानते हैं साथ ही पैशाची भी उनकी दृष्टि मे बहुत कुछ प्राकृतो से सम्बन्धित हैं। हार्नले का पैशाची और प्राचीन अपभ्रंश को आर्यों के पूर्व आदिवासियो की भाषा बताना-सर्वथा भ्रामक है।[3]

श्री आर जी भण्डारकर[4] का मन्तव्य है कि "देशज" वे शब्द हैं जो सस्कृत से व्युत्पन्न नहीं किये जा सकते। इन्हे किन्ही अन्य स्रोतो से सदर्भित किया

1. John Beams "Comparative Grammar of Modern Aryan Languages" V I P 12
2. A F R Hornle-A Comparative Grammar of Gaudian Languages" PP XXXIX-XL (39-40)
3. Introduction to Deshinammala by M D Banarjee F N. PP XXV
4. Bharkarkar "Wilson Philological lectures (1914) P 106.

जा सकता है। एक अन्य स्थान[1] पर वे इन शब्दो को निश्चित रूप से आर्यों से पूर्व भारत मे रहने वाले आदिवासियो की भाषा से सदर्भित करते हैं। इनका कहना है कि "देशा" शब्द आर्यो द्वारा विजित की गयी जातियो की भाषा के शब्द रहे होगे।

डा पी डी गुणे[2] स्वीकार करते हैं कि तत्सम और तद्भव शब्दो से अलग प्राकृतो मे अनेको देश्य या देशी (ग्रामीण) शब्द भी पाये जाते है। हेमचन्द्र ने अपने "देशीनाममाला" नामक कोश मे ऐसे शब्दो का सग्रह किया है। ऐसे ही कुछ शब्दो का सग्रह धनपाल ने अपने आइअलक्षी नाममाला नामक कोश ग्रन्थ मे भी किया था। यद्यपि इन दोनो कोश ग्रन्थो मे सकलित अनेको शब्द तद्भव हैं फिर भी इनमे अनेको शब्द ऐसे है जिन्हे सस्कृत से अलग स्रोतो से सदर्भित किया जा सकता है। आगे[3] हेमचन्द्र द्वारा गलती से देशी मान लिये गये शब्दो की एक सूची देते हैं जो वास्तव मे तद्भव है। इसके बाद ही उनका कथन है कि धनपाल और हेमचन्द्र द्वारा सकलित कोशो मे पाये जाने वाले शब्द आधुनिक आर्य-भाषाओ मे आर्येतर भाषाओ के प्रभाव का सुष्ठु द्योतन करते है। कुछ शब्द तो निश्चित रूप से द्रविड भाषाओ से सदर्भित किये जा सकते हैं।

प्राकृत भाषाओ और उनमे प्राप्त होने वाले विभिन्न तत्त्वो पर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने "लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इन्डिया" नामक ग्रन्थ की प्रथम जिल्द (भूमिका)[4] मे विस्तारपूर्वक विचार किया है। वहा उन्होने प्राकृतो की तीन अवस्थाओ प्रथम, द्वितीय और तृतीय का विवेचन करने के बाद "देश्य" शब्दो के बारे मे लिखा है—

"भारतीय व्याकरणकारो द्वारा बताया गया प्राकृत शब्दो का तीसरा प्रकार 'देश्य' कहलाता है। इसके अन्तर्गत ऐसे शब्द आते हैं जिन्हे व्याकरण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इन व्याकरणकारो द्वारा असदर्भित बताये जाने वाले तथा कथित अनेको "देश्य" शब्द आधुनिक भाषा वैज्ञानिको द्वारा तद्भव शब्द बताये गये हैं। इन शब्दो मे बहुत थोडे से शब्द ऐसे हैं जिन्हे मुण्डा तथा द्रविड भाषाओ से सदर्भित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन शब्दो मे से अधिकतर शब्द

---

1. Bharkarkar 'Wilson philological lectures (1914) P 106
2. Introduction to comparative philology III Ed. 1958 P. 275-276 277
3 वही, पृ 276।
4. Linguistic survey of India V I P. 127-28.

"प्रथम प्राकृत"[1] से व्युत्पन्न किये जा सकते हैं। उनका कथन है कि इन शब्दो का उस प्राथमिक प्राकृत जिसमे कि सस्कृत का विकास हुआ, मे अलग हटकर तत्कालीन जनभाषा मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये वास्तविक "तद्भव" शब्द है तथापि यहा तद्भव का अर्थ वह नही है जो प्राकृत व्याकरणकारो ने लिया है। ये देश्य शब्द लोक मे बोली जाने वाली जनभाषा के शब्द होगे क्योकि ऐसे शब्द प्रायः 'गुजरात" आदि प्रदेशो मे लिखे गये साहित्य मे पाये गये हैं और गुजरात आर्यों के प्रमुख विद्यास्थान मध्यदेश से बहुत दूर भी पड़ जाता है।"[2]

इस प्रकार जार्ज ग्रियर्सन "देशी" शब्दो का सम्बन्ध आर्यो द्वारा वैदिक काल के पहले ही बोली जाने वाली जनभाषाओ से बताते हैं। इन बोलियो मे से एक का विकास वैदिक और साहित्यिक सस्कृत के रूप मे हुआ था। इसके अतिरिक्त वे देशी'शब्दो का सम्बन्ध प्रान्तीय बोलियो से, बताते हैं—विशेषत गुजरात इत्यादि प्रदेशो की बोलियो से जो कि सस्कृत के उद्भव स्थान मध्यदेश से बहुत दूर पड जाती है। शुद्धता पर अधिक बल देने के कारण सस्कृत के विद्वानो ने इन शब्दो को प्रश्रय न दिया होगा परन्तु जनभाषाओ के आधार पर विकसित होने वाली साहित्यिक भाषाओ मे ये शब्द स्वय ही आते गये। ग्रियर्सन की यह मान्यता बहुत कुछ उचित भी है। उनके द्वारा किये गये प्राकृतो के विभाजन आदि विषयो पर चाहे जो विवाद हो परन्तु 'देश्य' शब्दो के बारे मे दिये गये तथ्य कुछ हद तक मान्य हैं। उनका देशी, शब्दो का 'तद्भव' कहना भी व्याख्या की अपेक्षा रखता है। यहा 'तत्' का अर्थ सस्कृत से न होकर 'प्रथम प्राकृत' से है। प्रथम प्राकृत से उद्भूत होने के कारण ही ग्रियर्सन 'देशी' शब्दो को 'तद्भव' कहते हैं। ये देशी शब्दो को आर्यो और आर्येतर जातियो के आपसी आदान–प्रदान से विकसित शब्द मानते हैं। परन्तु यह आदान-प्रदान सस्कृत के विकास के पूर्व ही हो चुका था। सस्कृत मे ये तत्व पाणिनि जैसे वैयाकरण के हाथ से छाटकर बाहर कर दिये गये और जो बचे भी उनका संस्कृतीकरण कर लिया गया। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे कितने ही ऐसे शब्द खोजे जा सकते हैं जो निश्चित रूप से सस्कृत की

---

1. जार्ज ग्रियर्सन ने प्राकृतो के तीन विभाग किये हैं (1) प्रथम प्राकृत इससे वैदिक और साहित्यिक सस्कृत का विकास हुआ इसका मूल साहित्य न मिलने से यह समाप्त प्राय. है (2) द्वितीय प्राकृत–इसके अन्तर्गत पालि, जैन अर्धमागधी, अशोक के लेख (प्राथमिक अवस्था) सस्कृत नाटकों की प्राकृत महाराष्ट्री तथा साहित्यिक अपभ्रंश (द्वितीय अवस्था) आती है (3) 10 वी सदी के बाद विकसित ग्रामीण अपभ्रंश सम्मत आ आ भा को उन्होंने तृतीय प्राकृत के अन्तर्गत रखा है।
2 सेन्सर रिपोर्ट आफ इण्डिया, 1901, ग्रियर्सन, पृ. 159-60 तथा लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' जिल्द प्रथम, पृ. 125-28

प्रकृति के विपरीत हैं। इनका प्रयोग भी सस्कृत मे कम ही हुआ है। परन्तु वे ही शब्द आ० आ० भाषाओ मे थोडे रूप परिवर्तन के साथ उसी अर्थ मे चल रहे हैं। इस समस्या पर एक अन्य अध्याय मे विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा। ग्रियर्सन के बाद आधुनिक भाषा वैज्ञानिको मे उपाध्ये[1] तथा पी० एल० वैद्य[2] प्रभृति अनेको विद्वानो ने देशी शब्दो के आदि स्रोतो को ढूढने का प्रयत्न किया है। उपाध्ये ने 'देशीनाममाला' मे आये हुए कई शब्दो को 'कन्नड' भाषा से सम्बन्धित बताया है। इसी तरह के प्रयत्न और भी अनेको विद्वानो ने किये हैं परन्तु द्रविड भाषाओ या अन्य आर्येतर भाषाओ मे इन शब्दो का पाया जाना यह बिल्कुल नही सिद्ध कर पाता कि ये शब्द उन्ही से लिये गये हैं। हो सकता है आर्येतर जातियो ने ये शब्द आर्यो से ही ग्रहण किये हो। आधुनिक खोजो के आधार पर यह सिद्ध होता जा रहा है कि 'देशीनाममाला' मे आये हुए अनेको शब्द और हेमचन्द्र द्वारा धात्वादेश के रूप मे पठित देशी धातुए आ० भा० आ० भाषाओ की प्रान्तीय बोलियो मे अब भी प्रचलित हैं। पी एल वैद्य[3] ने ऐसे ही अनेको शब्दो को 'मरहठी' भाषा मे प्रचलित बताया है। इसी प्रकार के तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत पक्तियो के लेखक[4] ने अपनी विभागीय शोध सस्था के तत्वावधान मे पढे गये शोधपत्र मे भी किया है। लगभग 150 'देशी' शब्दो को 'अवधी' आदि हिन्दी की बोलियो मे उसी रूप और अर्थ मे प्रयुक्त होते दिखाया गया है जिस रूप और अर्थ मे वे 'देशीनाममाला' मे सकलित किये गये हैं।

इन तथ्यो को देखते हुए जार्ज ग्रियर्सन का यह मत कि इन देशी शब्दो मे अधिकतर शब्द आर्यों की ही प्रारम्भिक बोलियो से लिये गये है ठीक लगता है। इनमे कुछ शब्द निश्चित रूप से मुण्डा और द्रविड भाषाओ के हैं जिन्हे आर्येतर प्रभाव के रूप मे देखा जा सकता है। परन्तु अधिकतर शब्द निश्चित ही आर्यो द्वारा अनादिकाल से व्यवहृत होती आयी जनभाषा से लिये गये होगे। आ भा आ. भाषाओ मे इनका विकास इसी तथ्य की ओर सकेत करता है। अन्त मे पाइअसद्दमण्णवो[5] के उपोद्घात मे दिये गये 'देशी' शब्द के विवेचन को उद्धृत कर देना भी

---

1. ए एन उपाध्ये 'कन्नडीज वर्ड्ज इन देशी लेक्सिकन्स'—एनेल्स आफ भण्डारकार ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट जिल्द 12, पृ 171-72
2. पी एल वैद्य 'आब्जर्वेशन्स आन हेमचन्द्राज देशीनाममाला' एनेल्स आफ भण्डारक ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द 8, पृ 63-71
3. वही, पी एल वैद्य।
4. 'शोध सस्थान' हिन्दी–विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे 17 मार्च 1969 को पढाया गया 'हिन्दी और उसकी बोलियो मे कुछ देशीशब्द 'शीर्षक शोध-पत्र।
5. 'पाइअसद्दमहण्णवो' उपोद्घात-प्रथम-सस्करण, पृ. 21-22।

उपयुक्त होगा ।

... ...... वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा पंजाब और मध्यदेश में प्रचलित वैदिक काल की प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई है । पंजाब और मध्यदेश के बाहर के अन्य प्रदेशों में उस समय आर्य लोगों की जो प्रादेशिक भाषाएं प्रचलित थीं उन्हीं में ये 'देशी' शब्द गृहीत हुए हैं । यही कारण है कि वैदिक और संस्कृत साहित्य में देशी शब्दों के अनुरूप कोई शब्द (प्रतिशब्द) नहीं पाया जाता है ।

प्राचीनकाल में भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाएं प्रत्यक्ष थीं, इस बात का प्रमाण व्यास के महाभारत, भरत के नाट्य शास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में और जैनों के ज्ञाताधर्मकथा विपाकश्रुत-औपपातिकसूत्र, तथा राजप्रश्नीय आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों में मिलता है ।[1] इन ग्रन्थों में "नाना भाषा, 'देशभाषा' या 'देशी भाषा' शब्द का प्रयोग प्रादेशिक प्राकृत के ही अर्थ में किया गया है । चंड ने अपने प्राकृत व्याकरण में जहां देशी प्रसिद्ध[2] प्राकृत का उल्लेख किया है वहां भी देशी शब्द का अर्थ 'देशीभाषा' ही है । ये सब देशी या प्रादेशिक भाषाएं भिन्न-भिन्न प्रदेशों के निवासी आर्य लोगों की कथ्य भाषाएं थीं । इन भाषाओं का पंजाब और मध्यदेश की कथ्य भाषा के साथ अनेकों अंशों में जैसे सादृश्य था वैसे किसी अंश में भेद भी था । जिस-जिस अंश में इन भाषाओं का पंजाब और मध्यदेश की प्राकृत भाषा के साथ मतभेद था उसमें से जिन भिन्न-भिन्न नामों ने और धातुओं ने प्राकृत साहित्य में स्थान पाया है वे ही हैं प्राकृत के देशी या देश्य शब्द ।

---

1 'नानाचर्मभिराच्छन्ना नानाभाषाश्च भारत कुशला देशभाषासु जल्पन्तोऽन्योन्यमीश्वराः ।'
महाभारत श. प., 46, 103 ॥
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषा विकल्पनम् ।'
अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः ।' ना. शा. 17.24.46
नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया । कथां गोष्ठीषु कथयन्लोके बहुमतो भवेत् ।
कामसूत्र 1.4.50)
'तते णं से मेहे कुमारे अट्ठारसविहिप्पगार देसीभासा विसारए होत्था ।' 'तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्तानाम गणिया परिवसइ अड्ढा-अट्ठारस देसीभासा विसारया ।'
॥ ज्ञाताधर्मकथासूत्र-पत्र 38, 92 ॥
तत्थ णं वाणिय गामे कामज्झयाणाम गणिया होत्था.... .अट्ठारस देसीभासा विसारया ।'
—॥ विपाकश्रुत पत्र 21–22 ॥
'तए णं दढपण्णे दारए अट्ठारसदेसीभास विसारये ।' —औपपातिक सूत्र पेरा 109 ॥
'तए णं दढपइण्णे दारए अट्ठारसविहदेसिप्पगार भासा विसारए ।'
राजप्रश्नीय-पत्र, 148 ।

2 सिद्ध प्रसिद्ध प्राकृत त्रेधा त्रिप्रकार भवति-संस्कृतयोनि 'संस्कृतसम देशीप्रसिद्ध तच्चे-तद्भव-स्वसिद्ध (प्राकृत लक्षण)

प्राकृत-वैयाकरणो ने इन समस्त 'देश्य' शब्दो मे अनेक नाम और धातुओ को सस्कृत नामो और धातुओ के स्थान मे आदेश द्वारा सिद्ध करके तद्भव विभाग के अन्तर्गत किया है।[1] यही कारण है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी "देशीनाममाला" मे केवल देशी नामो का ही सग्रह किया है और देशी धातुओ का अपने प्राकृत व्याकरण मे सस्कृत धातुओ के आदेश रूप मे उल्लेख किया है, यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती कई वैयाकरणो ने इनकी गणना देशी धातुओ मे की है।[2] ये सव नाम और धातु सस्कृत के नाम और धातुओ के आदेश रूप मे निष्पन्न करने पर भी तद्भव नही कहे जा सकते क्योकि सस्कृत के साथ इनका कुछ भी सादृश्य नही है। कोई-कोई पाश्चात्य भाषा तत्वज्ञ का यह मत है कि उक्त देशी शब्द और धातु भिन्न-भिन्न देशो की द्रविड मुण्डा आदि अनार्य भाषाओ से लिये गये हैं। यहा पर कहा जा सकता है कि यदि आधुनिक आर्य भाषाओ मे इन देशी शब्दो और धातुओ का प्रयोग उपलब्ध हो तो यह अनुमान करना असगत नही है। किन्तु जब तक यह प्रमाणित न हो कि ये देशी शब्द और धातु वर्तमान आर्य भाषाओ मे प्रचलित है, "तव तक ये शब्द और धातु प्रादेशिक आर्य भाषाओ से गृहीत हुए है" यह कहना ही अधिक सगत प्रतीत होता है। "इन आर्य भाषाओ मे दो एक देश्य शब्द और धातु प्रचलित होने पर भी" वे अनार्य भाषाओ से प्राकृत मे लिये गये हैं" यह अनुमान न कर 'प्राकृत भाषाओ से ही वे देश्य शब्द और धातु अनार्य भाषाओ मे गये हैं" यह अनुमान किया जा सकता है। हा जहा ऐसा अनुमान करना असम्भव हो वहा हम यह स्वीकार करने के लिये बाध्य होगे कि 'ये देश्य शब्द और धातु अनार्य भाषाओ से ही प्राकृत मे लिये गये हैं, क्योकि आर्य और अनार्य ये उभयजातिया जब एक स्थान मे मिश्रित हो गयी है तब कोई कोई अनार्य शब्द और धातु का आर्य भाषाओ मे प्रवेश करना असभव नही है।"[3]

इस प्रकार आधुनिक भाषा वैज्ञानिको की दृष्टि मे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ मे प्रचलित 'देशी' शब्द अनादिकाल से सामान्य जन जीवन के बीच व्यवहृत होने वाले शब्द है। आधुनिक आर्य भाषाओ की ग्रामीण बोलियो मे इनका बहुतायत से पाया जाना यह सिद्ध करता है कि ये भिन्न-भिन्न प्रान्तो की जनसाधारण

---

1. हेमचन्द्र कृत प्रा व्या के द्वि पा के 127, 129, 134, 136, 138, 141, 174 वगैरह सूत्र तथा चतुर्थपाद के 2, 3, 4 5, 10 11, 12 प्रभृति सूत्र।'

2 एते चान्यैर्देशीषुपठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता (हे प्रा 4, 2) अर्थात् अन्य विद्वानो ने वज्जर, पजर उप्फाल प्रभृति धातुओ का पाठ देशी मे किया है तो भी हमने सस्कृत धातु के आदेश रूप से ही बताये हैं। —प.इअसद्दमहण्णवो उपोद्घात, पृ 21-22 की पादटि

3 'पाइअसद्दमहण्णवो' प्रथम सस्करण-उपोद्घात, पृ 21-22।

के व्यवहार की भाषा के शब्द रहे होंगे। साहित्यिक भाषा का यह स्वभाव होता है कि वह अपने से प्राय: 'ग्रामीण तत्त्वों' को दूर रखती है जैसा कि संस्कृत में देखा जा सकता है। परन्तु ऐसी भाषा बहुत दिन तक नहीं चल पाती वह स्थिर होकर रह जाती है। उसी समय फिर कोई लोक भाषा ऊपर उठकर साहित्यिक भाषा का स्थान ग्रहण करती है। ऐसी ही लोक सम्मत भाषायें प्राकृतें थीं जिनमे अधिकांशत. ग्रामीण तत्व पाये जाते हैं। आ० आ० भाषाओं मे इन शब्दो के प्रचलित रूप और वातावरण को देखकर यही निश्चित होता है कि ये अवश्य ही भिन्न-भिन्न प्रान्तो की स्थानीय जातियो के शब्द रहे होंगे। जहा तक इनमे आर्येतर तत्त्वो के मिश्रण का प्रश्न है यह अत्यन्त विवादास्पद है। इसकी विस्तृत चर्चा एक अलग अध्याय मे की जायेगी।

**देशी शब्दों का उद्भव और विकास :**

'देशी' शब्दो के स्वरूप विवेचन को लेकर अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानो के मतमतान्तरो की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। जहा तक इनके उद्भव और विकास का प्रश्न है इसे हम दो मोटे कारणो मे विभाजित कर सकते हैं—

(1) भाषा वैज्ञानिक कारण

(2) सांस्कृतिक कारण

**(1) भाषावैज्ञानिक कारण :**

इसे दो भागो मे विकसित किया जा सकता है—

(अ) देशी शब्दो का विभिन्न प्रान्तीय बोलिया से उद्भव

(ब) देशी शब्दो का आर्येतर भाषाओं से उद्भव।

**(अ) देशी शब्दों का विभिन्न प्रान्तीय बोलियों से उद्भव .**

"देशी" शब्दो का प्राकृत भाषा से घनिष्ठतम सम्बन्ध है। यह ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है। निष्कर्ष रूप मे यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है कि संस्कृत और साहित्यिक प्राकृतें दोनो ही एक अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित प्राकृत से निकली हैं। इसे ही ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानो ने प्रथम प्राकृत कहा है। यह वेदो की भाषा के निर्माण के पहले से ही प्रचलित जन भाषा रही होगी। इस सिद्धान्त की पुष्टि निम्नलिखित भाषा वैज्ञानिक तथ्यो के आधार पर भी हो जाती है—

(1) साहित्यक भाषाएं सदैव ही किसी न किसी बोलचाल की भाषा से विकसित होती हैं और आगे चलकर जब इनका व्याकरण निर्मित हो जाता है

तब ये रूढ हो जाती है और इनका विकास रुक जाता है । यहा वोलचाल की भापा की तुलना किसी लगातार प्रवाहित होने वाली नदी की धारा से की जा सकती है जो निरन्तर अपने प्रवाह को परिवर्तित करती तथा अनेक धाराओ को अपने साथ मे समेटती हुई सतत प्रवाहमान रहती है । दूसरी ओर साहित्यिक भापा की तुलना कूपजल से की जा सकती है जो एक ही क्षेत्र मे स्थिर होकर रह जाता है । इस पर अन्य किसी प्रवाहमानधारा का प्रभाव नही पडता । इस प्रकार कुए के जल के समान एक निश्चित सीमा क्षेत्र मे वद्ध साहित्यिक भापाओ रूपी जलधारा निरन्तर रुद्ध और अपरिवर्तित होने के कारण आगे नही वढ पाती । परन्तु उन्मुक्त नदी की जलधारा के रूप मे वोलचाल की भापा निरन्तर विकास के पथ पर वढती रहती है । इस तरह एक के निश्चित स्थान पर अवरुद्ध रहने तथा दूसरे के सतत विकासमान रहने के कारण दोनो की दूरी वढती जाती है और एक समय ऐसा आ जाता है जवकि दोनो का आपस मे कोई सम्बन्ध ही नही दिखायी पडता । सामान्य भापाभापी साहित्यिक भापा को न समझ पाने के कारण किसी अन्य भापा के निर्माण मे रत हो जाता है और फिर कोई लोक भापा आगे आकर साहित्यिक भापा का रूप धारण कर लेती है और पहले की साहित्यिक भापा मृतप्राय हो जाती है । भापा विकास के सिद्धान्त का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है ।

भारतीय आर्य भापाओ सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श तथा आधुनिक प्रादेशिक भापाओ के विकास मे भी भापा विकास का यही सिद्धान्त कार्य करता है । भिन्न-भिन्न युगो मे विकसित होने वाली भारतीय आर्य भापाए एक ही मूल स्रोत (प्रारम्भिक प्राकृत) से विकसित हुई हैं । साहित्यिक भापाए सस्कृत, पालि, अर्ध-मागधी, नाटको की प्राकृत, साहित्यिक अपभ्र श तथा आ. भा आ भापाए सभी क्रम मे अपने युगो मे विभिन्न प्रान्तो मे वोली जाने वाली प्राकृतो का प्रभाव ग्रहण कर विकसित हुई । भापाओ के इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन को देखते हुए वाक्पतिराज[1] और नमिसाधु[2] के सैकडो वर्ष पहले व्यक्त किये गये इस विचार की पुष्टि हो जाती है कि वोलचाल की प्राकृते ही साहित्यिक भापाओ का मूल आधार है ।

2 वेदो मे प्राकृत रूपो की प्राप्ति से भी इस वात की पुष्टि हो जाती है कि इनकी भापा किसी न किसी वोलचाल की भापा से विकसित हुई है । जनभापा

---

1 मयलाओ इम वाया विसति एत्तो य णेति वयाओ ।
एं ति समुद्द चियणेति सायराओच्चिय जलाइ ॥ वाक्पतिराज ॥ गउडवहो ॥93॥

2. काव्यालकार 2।12 की टीका – 'प्राकृतेतिसकलजगजगज्जन्तूनाम् ··· ॥

या प्राकृत के अनेकों रूप वेदों में खोजे जा सकते हैं जो आगे साहित्यिक संस्कृत में परिष्कृत कर दिये गये। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

(1) प्राकृत में संस्कृत ऋ की जगह उ प्राप्त होता है। ऋग्वेद में भी प्राकृतों के अनुरूप ही शब्द मिलते हैं — जैसे कृत कुट (ऋ 1 46।4)

(2) प्राकृत में संयुक्त वर्ण वाले शब्दों में एक व्यंजन का लोप होकर पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है जैसे दुर्लभ दूलभ, विश्राम वीसाम। इसी तरह के रूप वेदों में भी देखे जा सकते हैं—

दुर्लभ-दूलभ (ऋ-9-8), दुर्णाश-दूणाश (शु य प्राति 3।43)

(3) संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्दों का प्राकृतों में अन्त्य व्यंजन लोप हो गया है जैसे-तावत् — ताव, यशस्-जस। वैदिक साहित्य में भी यह प्रवृत्ति बहुतायत से देखी जा सकती है - पश्चात् पश्चा (अथ. 10-4-11) उच्चात्-उच्चा (तैत्ति स 2।3।14), नीचात्-नीचा (तैत्रि स 1।2 14)

(4) प्राकृत में संयुक्त य और र का लोप हो जाता है - जैसे प्रगल्भ-पगब्भ श्यामा-सामा। ये विशेषताएं वैदिक शब्दों में भी देखी जा सकती हैं। यथा अ-प्रगल्भ-अपगल्भ (तै स 4-5-61) त्र्यचत्रिच (शत ब्रा 1।3।3 33)।

(5) प्राकृत में संयुक्त वर्ण के पूर्व का स्वर ह्रस्व होता है। पात्र पत्र, रात्रि-रत्ति वेद में भी-रोदसीप्रा-रोदसिप्रा (ऋ 10-88-10), अमात्र-अमत्र (ऋ-3।36।64)

(6) जहां संस्कृत में 'द' ध्वनि होती है, वहां प्राकृतों में अनेकों जगह 'ड' ध्वनि पायी जाती है - दण्ड-डंड, दोला-डोला। वेदों में भी यह विशेषता खोजी जा सकती है — यथा - दुर्लभ-दूडभ (वाज. स 3-36) पुरोदाम पुरोडाश (यज. प्राति 3-44)

(7) प्राकृत में ध का ह होता है बधिर-बहिर, व्याध-वाह। वैदिक भाषा में भी यथा प्रतिसंहाय-प्रतिसधाय (गो ब्रा 2,4) ऐसा ही है।

(8) प्राकृत में स्वरागम की प्रक्रिया अत्यन्त सामान्य है - क्लिष्ट-किलिट्ठ, स्व सुव। वैदिक भाषा में भी ऐसा देखा जाता है - स्वर्ग-सुवर्ग (तै स 4।2।3), तन्व - तनुव: (तैत्ति आर 7।22।1) स्व -सुव (तैत्तिरीय आरण्यक-6।2।7)

(9) प्राकृत की तरह वैदिक भाषा में भी चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति होती है।[1]

---

1 'चतुर्थ्यर्थे बहुलम् छन्दसि' (अष्टाध्यायी 2।3।62

(10) प्राकृत पचमी ए. व मे देवा, बच्छा, जिणा आदि रूप होते हैं। वेद मे भी इसी प्रकार उच्चा, नीचा, पश्चा आदि रूप होते हैं।

(11) प्राकृत मे द्वि. व के स्थान पर ब. ब होता है – वैदिक भाषा मे इस तरह के प्रयोगो की भरमार है यथा इन्द्रावरुणौ–इन्द्रावरुणा इसी तरह मित्रावरुणा 'यौ सुरथौ रथितमौ दिविस्पृशावश्विनौ"-"या सुरथा रथीतमा दिविस्पृशा अश्विना। इन सारी समानताओ को देखते हुए यह निश्चित हो जाता है कि सस्कृत और वैदिक सस्कृत दोनो के विकास के मूल मे प्राकृत थी। इस तरह सस्कृत व्याकरणकारो और आलकारिको द्वारा प्राकृत की परिभाषा मे आया हुआ 'तत्' शब्द अलग अर्थ मे लिया गया। यहा तत् का अर्थ सस्कृत न होकर यही 'प्राकृत' है जिससे वैदिक सस्कृत विकसित हुई थी। इस प्रकार प्राकृत (तद्भव) तथा सस्कृत दोनो ही शब्दो का मूल वैदिक कालीन बोलचाल की प्राकृत मे जा पडता है। 'ग्रियर्सन' ने 'देश्य' शब्दो को भी इसी आधार पर 'तद्भव' कहा है। इसका भी मूल स्रोत इन्ही प्राकृतो मे खोजा जा सकता है।

3 प्राकृत की सस्कृत से उत्पत्ति भाषातत्व के सिद्धान्त के आधार पर भी ठीक नहीं क्योकि वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत ये दोनो ही अच्छी तरह परिष्कृत और मार्जित साहित्यिक भाषाए हैं। यह भाषा अशिक्षितो, बालको तथा नारियो को बोधगम्य भी नही थी अत इन लोगो की एक अलग ही कथ्य भाषा प्रचलित रही होगी। शिक्षित वर्ग के लोग भी अशिक्षितो से बातचीत करने मे इसी भाषा का प्रयोग करते रहे होगे। इस आधार पर देखने से पता चलता है कि वैदिक काल मे भी एक या कई कथ्य भाषाए प्रचलित रही होगी। सस्कृत के युग मे तो यह बात नाटको के पात्रो की भाषा देखकर और भी स्पष्ट हो जाती है।

पाणिनि ने अपनी भाषा को लौकिक[1] भाषा कहा है और पतजलि ने इसे शिष्ट भाषा कहा है अर्थात् यह उस समय शिक्षित लोगो की सम्पर्क भाषा थी और शिक्षितो से अलग अशिक्षितो की भी एक भाषा थी – जो उनकी बोल चाल की भाषा रही होगी। इन अशिक्षितो के बीच अपने मन्तव्यो का प्रचार करने के लिए सस्कृत के पण्डित अवश्य ही इनके शब्दो का ग्रहण करते रहे होगे। कभी कभी इन बोल-चाल के शब्दो को साहित्य मे भी ग्रहण किया जाता रहा

---

1. पाणिनि द्वारा व्यवहृत 'लोक' शब्द से जनभाषा का भी ग्रहण किया जा सकता है। उनका 'लौकिकाः वैदिकाश्च' कथन प्रचलित जन भाषा तथा शिष्ट वैदिक भाषा दोनो की ओर सकेत करता है। आगे चलकर पण्डितों ने 'लौकिक'का अर्थ साहित्यिक सस्कृत लगा लिया।

होगा परन्तु वहा जाकर वे व्याकरण सम्मत बना लिये गये होंगे। इस कथन की पुष्टि पाणिनि के 'उणादि' प्रकरण के अनेकों प्रत्ययों के स्वरूप तथा उनके धातु-पाठ मे देशी धातुओं के संस्कृतीकरण को देखकर स्वय ही हो जाती है। इस प्रकार बहुत प्राचीन काल मे ही साहित्यिक भाषाए अनेकों जनभाषा के शब्दों को ग्रहण करती चली आयी हैं।[1] इतना ही नही यदि यह भी कहा जाये कि भिन्न-भिन्न युगो मे साहित्यिक भाषाओं का स्वरूप निर्माण इन जन भाषाओं के आधार पर होता आया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि देशी "शब्द और धातुएं इन्ही भिन्न-भिन्न कथ्य भाषाओं मे उद्भूत हुई हैं। निष्कर्ष रूप मे 'पाइअसद्दमहण्णओ' की भूमिका मे आया यह कथन उल्लेखनीय है—

"जिन प्रादेशिक देशी भाषाओं से ये सब देशी शब्द प्राकृत साहित्य मे गृहीत हुए हैं वे प्रथम स्तर की प्राकृत भाषाओं के अन्तर्गत और उनकी समसामयिक हैं। ख्रिस्त-पूर्व षष्ठ शताब्दी के पहले ये सब देशीभाषाए प्रचलित थी, इससे ये 'देश्य' शब्द अर्वाचीन नही हैं किन्तु उतने ही प्राचीन है जितने वैदिक शब्द।"[1] इस निष्कर्ष मे इतने संशोधन की आवश्यकता है कि अनेक देशी शब्द वैदिक भाषा के समकक्ष हो सकते हैं और तदनन्तर बाहर से आने वाली विभिन्न जातियों के साथ आगत भाषाओं ने भी समय-समय पर इन शब्दों की संख्या बढाई है।

(ब) 'देशी' शब्दो का आर्येतर भाषाओं से उद्भव —

आधुनिक भाषा वैज्ञानिको मे अधिकतर यह मानते हैं कि "देशी" शब्दो का उद्भव आर्येतर जातियों की शब्दावली के ग्रहण के कारण हुआ होगा। यह लगभग सर्वमान्य मत है कि आर्यजाति भारत मे आक्रामक जाति के रूप मे आयी।[2] यहा आकर इसका सम्पर्क पहले से रहने वाली जातियो से पडा होगा। इस संपर्क के बीच भाषा गत आदान-प्रदान होना सर्वथा संभव है। अत इन 'देशी' शब्दो मे अधिकतर शब्द कोल, संथाल, मुण्डा, निषाद, द्रविड आदि जातियो की भाषा से लिये गये होंगे। ये जातिया आर्यो के भारत आने के पहले ही से यहा निवास कर रही थीं। अब हमे आधुनिक प्राच्यविद्याविशारदो के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों को देखना है।

प्राकृत और देशी शब्दो के उद्भव के विषय मे आर काल्डवेल[3] ने विस्तार-

---

1 पाइअ सद्द महण्णवो' प्रथम संस्करण–उपोद्घात, पृ. 22

2 भारत का भाषा सर्वेक्षण, खण्ड 1 भाग 1 हिन्दी अनुवाद, डा उदयनारायण तिवारी मूल लेखक सर जार्ज ग्रियर्सन के पृष्ठ 223 की पाद टिप्पणी नम्बर 1।

3 आर काल्डवेल' कम्पेरेटिव ग्रामर आफ द्रवीडियन लेग्वेजेज' (लांगमेन्स, लन्दन 1856)

पूर्वक विचार किया है। उनका मत है कि उत्तर भारतीय भाषाए सीथियन और द्रविड भाषाओ से प्रभावित हैं। संस्कृत मे अनेको शब्द ऐसे पाये जाते हैं जो निश्चित रूप से द्रविड और सीथियन भाषाओ के शब्द हैं। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि मे वे तर्क देते हैं कि उत्तर भारतीय भाषाओ के बोलचाल के शब्दो की व्याकरणिक सरचना प्रारम्भ से लेकर अब तक सीथियन प्रभाव से ग्रस्त है। इसमे जो परिवर्तन हुए भी तो तब हुए जब आर्यों की विजय के बाद भाषाओं पर सस्कृत का प्रभुत्व छाता गया। लेकिन यह परिवर्तन शब्दो तक ही सीमित रहा। बोलचाल की भाषा के स्वरूप और उसके व्याकरण पर सस्कृत का विशेष प्रभाव न पड सका। आर० काल्डवेल केवल उत्तरी भारत की बोल चाल की भाषाओ पर ही द्रविड भाषाओ का प्रभाव नही देखते, उन्होने साहित्यक सस्कृत मे भी अनेको द्रविड शब्दो का उल्लेख किया है।[1] उन्होने कई शब्दो और धातुओ की एक तालिका देकर यह सिद्ध किया है कि ये शब्द निश्चित ही सस्कृत मे द्रविड भाषाओ से आये हैं। परन्तु काल्डवेल का यह कहना कि ये सभी शब्द और धातुए द्रविड भाषाओ की है एक खुला प्रश्न है। इसके विपरीत जब तक प्राचीन सस्कृत के स्रोतो को खोज कर यह निश्चित नही हो जाता कि ये तत्व आर्येतर हैं कुछ कहा नही जा सकता। ये तत्व, हो सकता है सस्कृत से ही द्रविड भाषाओ ने ग्रहण किया हो।

आर० काल्डवेल की इस स्थापना का खण्डन जान बीम्स ने अपने 'कम्परेटिव ग्रामर आफ माडर्न आर्यन लेंग्वेजेज' (1872) मे किया है। बीम्स का कहना है कि काल्डवेल[2] और उनके शिष्यो की यह स्थापना कि भारतीय आर्य भाषाए द्रविड प्रभाव से ग्रस्त हैं, भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा भाषा वैज्ञानिक तीनो ही दृष्टियो से ठीक नही है। यदि भौगोलिक दृष्टि से देखा जाये तो आर्य और द्रविड की जातियो के बीच मे मुण्डा जाति की स्थिति है। अत आर्यों का प्रथम सम्पर्क और उन पर प्रभाव मुण्डा जाति का पडना चाहिए न कि द्रविड जाति का, जो कि उनसे काफी दूर थी। जहा तक ऐतिहासिक दृष्टि का सम्बन्ध है सबसे पहले यह निश्चय करना होगा कि आर्यों और द्रविडो का सम्पर्क किस समय हुआ। क्या यह सपर्क वैदिक युग मे हुआ था ? या बहुत आगे चलकर मुसलमानो की विजय के बाद ? यदि यह सम्पर्क वैदिक युग मे हुआ था तो इसकी परम्परा मे विकसित पालि, जैनो के धार्मिक साहित्य की भाषा तथा अशोक के अभिलेखो आदि की भाषा सयोगात्मक क्यो रह

1 आर काल्डवेल 'कम्पेरेटिव ग्रामर आफ द्रवीडियन लेंग्वेजेज' (लागमेन्स, लदन,) पृ. 44 भूमिका। 1856।

2 जे बीम्स 'कम्परेटिव ग्रामर आफ माडर्न आर्यन लेंग्वेजेज, पृ. 29

गयी। काल्डवेल का कहना है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव है। आधुनिक आर्य भाषाएं विश्लेषणात्मक हैं और यह विश्लेषणात्मकता काल्डवेल के अनुसार द्रविड प्रभाव है तो यह प्रभाव वैदिक तथा उसकी परम्परा की अन्य मध्यकालीन आर्य भाषाओं पर भी क्यों नहीं पड़ा ? काल्डवेल की यह परिकल्पना भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक नहीं लगती। सभी द्रविड भाषाएं संश्लेषणात्मक हैं जबकि आ० आ० भाषाएं विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से युक्त होते हुए भी संस्कृत की संयोगात्मकता से युक्त हैं। इसमें कुछ निश्चित कारक पर सर्गों का विकास हो गया है लेकिन मूल रूप में ये संस्कृत- परम्परा का ही निर्वाह करती चल रही हैं। कुल मिलाकर आधुनिक आर्य भाषाएं प्राकृतों की परम्परा में विकसित हैं और प्राकृत भाषा के संयोगात्मक और वियोगात्मक दोनों ही प्रभावों से युक्त है। अत आधुनिक आर्यभाषाओं की संस्कृत से अलग स्वरूपगत और व्याकरणगत विशेषताएं हैं। आर्य जाति की भाषा प्राकृतों की परम्परा में है न कि सीथियन और द्रविड भाषाओं की परम्परा में। संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर यह विकास कोई नया उदाहरण नहीं, लेकिन (संयोगात्मक) में विकसित इटेलियन, फ्रेंच, स्पेनिश,पोर्चगीज आदि वियोगात्मक भाषाएं उदाहरण के रूप में देखी जा सकती हैं। अन्त में यह कहा जा सकता है कि डा० काल्डवेल के मत में वैदिक और लौकिक संस्कृत में अनेकों शब्द द्राविडीय भाषाओं से ग्रहण किये गये हैं ठीक नहीं है। क्योंकि द्राविडीय भाषा के जिस साहित्य में ये शब्द पाये जाते हैं वह वैदिक साहित्य से प्राचीन नहीं है। हो सकता है ये शब्द आर्य भाषा में द्रविड भाषा-भाषियों ने ग्रहण किये हों।

आधुनिक भाषाविदों में कुछ लोगों ने भाषा में पाये जाने वाले 'देशी' शब्दों का सम्बन्ध आर्येतर भाषाओं से बताया है परन्तु इस ओर बहुत कम ही प्रयास हुआ है। जितने लोगों ने भी थोड़े बहुत शब्दों को आर्येतर भाषाओं से सम्बन्धित करने का प्रयास किया है, उनका प्रयास अब भी सदिग्ध बना हुआ है। शब्दों का सादृश्य मात्र दिखा देना पर्याप्त नहीं है। इसके लिए पर्याप्त ऐतिहासिक भौगोलिक तथा भाषा वैज्ञानिक आधारों की आवश्यकता है। भारतीय आर्यों की संस्कृति मिश्रण प्रधान संस्कृति है। जब से यहां आर्य आये तब से लेकर अब तक उनका सम्पर्क किसी न किसी नयी जाति से होता रहा है। इस सम्पर्क के बीच आदान-प्रदान सर्वथा सम्भव तथ्य है। भारतीय आर्य भाषाओं ने भी इसी प्रक्रिया से आर्येतर जातियों से बहुत कुछ ग्रहण किया होगा। लेकिन इस प्रक्रिया ने इन पर जो भी प्रभाव पड़ा वह अत्यन्त सूक्ष्म है। आर्यों की भाषा प्रारम्भ से ही आर्येतर जातियों की भाषा में सशक्त रही है। जो भी प्रभाव उसने दूसरों से ग्रहण किया अपने ढंग से। जहां तक 'देशी' शब्दों का सम्बन्ध है सभव है कुछ शब्द आर्येतर जातियों से लिये गये हों पर उनके स्रोतों का ठीक ठीक निर्धारण कर पाना सर्वथा असंभव है।

"देशीनाममाला" मे आये हुए देशी शब्दो मे लगभग 800 शब्द आर्येतर भाषाओ विशेषत द्रविड भाषाओं से आये हुए बताये गये हैं। रामानुजन् ने देशी-नाममाला" के अन्त मे दिये गये शब्द कोश मे द्रविड भाषाओ से मिलते जुलते देशी शब्दो की ओर सकेत कर दिया है। इसी प्रकार ए एन उपाध्ये[1] महोदय ने कुछ देशी शब्दो की तुलना कन्नड भाषा के शब्दो से की है। इन अध्ययनों का यह अर्थ बिल्कुल ही नही है कि ये शब्द तमिल, तेलगु या कन्नड या इसी तरह की अन्य आर्येतर भाषाओ से लिये गये हैं। इन भाषाओ मे प्रचलित ये शब्द ही हो सकता है आर्य भाषा-भाषियो से आर्येतर भाषा-भाषियो ने ग्रहण किये हो। उसके विपरीत यदि इन "देशी" शब्दो को आधुनिक भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे बोली जाने वाली आर्य भाषाओ की बोलियो मे ढूढा जाये तो ये ज्यो के त्यो वहा उसी अर्थ मे थोडे रूप परिवर्तन के साथ मिल जाते है। इन शब्दो की वास्तविक स्थिति प्रो० विल्सन के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाती है —

"A Portion of a primitirve, unpolished and seanty speech. the relies of a period prior of civilization, has been calculated amount to one tenth of the whole"[1]

इस प्रकार प्रो० विल्सन के अनुसार साहित्यिक भाषाओ मे प्रचलित शब्दो का लगभग 1-10 भाग बहुत प्राचीनकाल से आदिम अवस्था के निवासियो मे प्रचलित ऊबड-खाबड तथा कर्णकटु बोलचाल की भाषा का अवशेष है। समय समय पर साहित्यिक भाषाओ मे इन अवशेषो का परिष्कार होता रहा है। ऐसे शब्दो का स्रोत कोई भी साहित्यिक भाषा नही हो सकती। लोक मे प्रचलित परम्पराओ, रीति-रिवाजो तथा सदियो से चली आ रही सामाजिक मान्यताओ से इन शब्दो को सदर्भित किया जा सकता है। देशीनाममाला मे प्राप्त होने वाले विशुद्ध "देशी" शब्दो मे अधिकाश शब्द 'मराठी' भाषा की बोलियो से सदर्भित किये गये है।[2] इसी प्रकार यदि अन्य प्रान्तीय भाषाओ की बोलियो मे इन शब्दो को खोजा जाये तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जायेंगे। एक बात यहा और भी ध्यान देने की है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने देशीकोश का सकलन करते समय प्राकृत की साहि-त्यिक रचनाओ के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रान्तीय बोलियो के आकडो को अवश्य

---

1 A N Upaddhye' 'cannaries words in Desi laxieons" A B O. I R. V XII

2 आर काल्डवेल 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ द्रवीडियन लैंग्वेजेज' पृ 53 से उद्धृत।

3 पी एल वैद्य, आब्जर्वेशन्स आन देशीनाममाला एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट खण्ड 8 पृ 63-71।

रखा होगा । यही कारण है कि इसके कुछ शब्द साहित्यिक प्राकृतो मे नही प्रयुक्त हुए है । ऐसे शब्द अवश्य ही प्रचलित प्रान्तीय बोलियो से लेकर सग्रहीत किये गये होंगे । इन तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए विद्वानो द्वारा दिया गया यह तर्क कि "देशी" शब्दो मे आर्येतर तत्त्व मिले हुए हैं तर्क की कसौटी पर खरा नही उतरता । दूसरी ओर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की बोलियो मे इन शब्दो की खोज मे यह निश्चित होता जा रहा है कि ये शब्द प्राचीनकाल से जनसाधारण की बोलचाल की भाषा मे प्रचलित थे और आज भी उसी वर्ग के लोगो मे प्रचलित देखे जा सकते हैं । उदाहरण सहित इस बात का विवेचन प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के एक अलग अध्याय मे किया जायेगा ।

**देशी शब्दो के उद्भव और विकास का सास्कृतिक आधार .**

यह पहले ही बताया जा चुका है कि "देशी" शब्द बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलित सामान्य बोचचाल की भाषा के रूप है । इन शब्दो के उद्भव और विकास की कहानी समस्त आर्य सस्कृति के विकास की कहानी है । देशी शब्दो के उद्भव का मूल आर्यों के यहा आकर बसने तथा उनका विभिन्न भाषा भाषियो से सम्पर्क होने में निहित है । आर्य सस्कृति बहुत प्रारम्भ से ही ग्राम्य सस्कृति रही है । 'देशी' शब्दो का बहुत कुछ सम्बन्ध ग्राम्य सस्कृति से ही है । ये शब्द युग-युगो से सास्कृतिक आदान-प्रदानो तथा विविध धार्मिक तथा सास्कृतिक आन्दोलनो के बीच मे गुजरते हुए आज की भाषाओ मे भी अपने वास्तविक स्वरूप को सजोये हुए हैं ।

भारतीय आर्यों की सस्कृति का निर्माण मिश्रण से हुआ है । आर्यों के यहा आने क पहले यहा प्रमुख रूप मे तीन चार आर्येतर जातियो का प्रभाव इन पर पडा था वे जातिया कोल, किरात, मुण्डा और द्रविड थी । निषाद कही जाने वाली आस्ट्रिक जाति भी इन्ही मे शामिल की जा सकती है । इन जातियो से सम्पर्क होते ही आर्यों की सस्कृति मे इनकी सस्कृति के अनेको तत्त्व मिश्रित हो गये । आर्यों के पास एक सशक्त भाषा थी उन्होंने इन आर्येतर जातियो के सास्कृतिक प्रभावो का ग्रहण अपनी भाषा मे करने के साथ ही आर्येतर जातियो को अपनी भाषा से भी अवगत कराया । धीरे-धीरे आर्येतर जातिया भी आर्य भाषा भाषी बनती गयीं । उनके अनेको सास्कृतिक उपादान आर्य भाषाओ का सहारा लेकर आर्य सस्कृति के बीच समाहित होते गये । यह आपसी आदान-प्रदान धीरे-धीरे अपना वास्तविक रूप आर्य-भाषाओं के अन्तर्गत छिपाता गया । यह काल 'छान्दस्' काल रहा होगा । इस समय प्रचलित भिन्न भिन्न स्थानीय बोलियो मे आर्य आर्येतर तत्त्व एकाकार हो चुके रहे होंगे ।

'देशी' शब्दो के उद्भव के मूल मे यही सास्कृतिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया देखी जा सकती है। 'देशीनाममाला' मे अनेको शब्द 'अनुकार शब्द' (onomatopoeic) हैं। द्राविड तथा निपाद दोनो भाषाओ के अनुकार शब्द उनके एक बहुत महत्त्व-पूर्ण भाग है। इसी प्रकार प्रतिध्वनि वाले शब्द भी बहुत कुछ आर्येतर ही कहे जा सकते है। ये सभी तत्त्व ग्रामीण आर्यो और आर्येतर जातियो के सम्पर्क के दृढतर होने के साथ ही दोनो की बोलियो मे स्थान पाते गये। जिस वातावरण और जिस अवस्था के लोगो मे इन शब्दो का उद्भव हुआ था उसी वातावरण और उन्ही अवस्थाओ मे रहने वाले लोगो के बीच इनका विकास भी आधुनिक आर्य भाषाओ मे देखा जा सकता है।

ऊपर बताये गये तथ्य ये सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि 'देशी' शब्द प्रचुर मात्रा मे आर्येतर सस्कृति से सम्बन्धित होते हुए भी स्वरूप की दृष्टि से आर्यो की भिन्न भिन्न प्रान्तीय बोलियो के शब्द हैं। ये बोलिया आर्य और आर्येतर दोनो ही वर्ग के लोगो मे प्रचलित रही होगी। इन्ही बोलियो को 'प्राथमिक प्राकृत' कहा गया है। इसी की एक बोली वैदिक 'छान्दस्' भाषा के रूप मे विकसित हुई थी। वैदिक साहित्य मे इन्ही भिन्न-भिन्न बोलियो के बोलने वाले लोगो को व्रात्य, असुर, दस्यु आदि कहा गया है। जब वैदिक भाषा मध्यदेश की साहित्यिक भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो गयी और वह सामान्य बोलियो से दूर हटती गयी, फिर इन बोलियो ने सिर उठाना प्रारम्भ किया और साहित्यिक भाषा से अलग हटकर ग्रामीण तत्त्वो से युक्त पालि का विकास हुआ। इसी परम्परा मे मध्यकालीन प्राकृतो और नव्य भारतीय आर्य भाषाओ का भी विकास हुआ। ये सारी भाषाए सस्कृत के प्रभाव से इतनी ग्रस्त रही कि आगे चलकर इन्हे सस्कृत से ही उद्भूत मान लिया गया। लेकिन यह अवस्था केवल साहित्यिक प्राकृतो की थी। प्रत्येक साहित्यिक भाषा के युग मे सामान्य बोलचाल की स्थानीय भाषाए अपने मूल स्रोत प्राथमिक प्राकृत से जुडी रही। आधुनिक आर्य-भाषाओ के सदर्भ मे भी यही बात देखी जा सकती है। इन साहित्यिक भाषाओ की बोलिया आज भी अपने आप मे अनादि काल से चले आ रहे प्राकृत के शब्दो को सजोये हुए है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दो मे—

"नव्य भारतीय आर्य भाषाओ तथा बोलियो मे ऐसे कई सौ शब्द है जिनकी व्युत्पत्ति भारतीय आर्य उद्गमो से नही मिलती" हा उनसे प्राकृत पूर्व रूपो का अवश्य सरलतया पुनर्निर्माण किया जा सकता है।"[1]

---

1 चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी', पृ 111

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि 'देशी' शब्द बहुत अनादिकाल से साहित्यिक भाषाओ मे प्रविष्ट होकर विकसित होते चले आये हैं। ये अपने अन्तराल मे अनेको सास्कृतिक उथल-पुथल छिपाये आज की भाषाओ मे भी विकास प्राप्त कर रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन शब्दो का अध्ययन एक रोचक सास्कृतिक तथ्य का उद्घाटन करता है। वैदिक युग से लेकर साहित्यिक सस्कृत, उसके बाद पालि और साहित्यिक प्राकृतो मे, इन्हे बराबर स्थान मिलता रहा है। इन शब्दो मे चिरकाल से सचित आर्यो की मिश्रित सस्कृति का इतिहास सुगमतापूर्वक खोजा जा सकता है।



# 6

# मानक हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियों में विकसित देश्य शब्द

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के मूल मे विद्यमान प्राकृत भाषाओ की शब्द सम्पत्ति को वैयाकरणो ने तीन भागो मे विभाजित किया है—(1) तत्सम (2) तद्भव तथा (3) देशज। इनमे प्रथम दो वर्ग के शब्दो का विकास व्याकरण सम्मत और सीधे सस्कृत से जुडा हुआ है। तृतीय वर्ग के 'देश्य' शब्द सम्पूर्ण भारतीय आर्य भाषाओ की विविध विकासात्मक अवस्थाओ की अनोखी कहानी प्रस्तुत करने वाले है। प्राकृतो मे आयी हुई, अव्युत्पाद्य 'देश्य' शब्दावली का सम्बन्ध, यहा आर्यो से भी पहले रहने वाली जातियो मे जोडा जा सकता है। ऋग्वेद से लेकर भारतीय आर्य परम्परा की जितनी भी कृतिया लिखी गयी या जितनी भाषाए बनी, सभी पर 'देश्य' शब्दावली की अमिट छाप है। इसी परिपाटी से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ प्रमुखत· हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियो मे भी 'देश्य' शब्दो का व्यवहार होता आ रहा है, यही सिद्ध करना इस अध्याय का प्रमुख विषय है। भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी की तत्सम और तद्भव शब्दावली के अध्ययन के अनेको प्रयास हो चुके है, परन्तु इसमे युग-युगो से व्यवहृत होते आये 'देश्य' शब्दो के अध्ययन के प्रयास लगभग नही के बराबर हुए हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के 'देशज-कोश' 'देशीनामनाला' के प्रकाशित होने के बाद से ही विद्वानो ने इसमे सकलित शब्दावली का अध्ययन भिन्न-भिन्न दृष्टियो से प्रारम्भ किया। विदेशी विद्वानो मे पिशेल, टर्नर आदि ने इन शब्दो का अध्ययन अनार्य भाषाओ के सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया है। इन देश्य शब्दो मे लगभग 700 शब्द

निश्चित रूप से उसी अर्थ में द्रविड तथा अनार्य कोल, मुण्डा, सथाल आदि भाषाओ में खोजे जा सकते हैं। इस ओर प्रयास भी हुए हैं, परन्तु इन शब्दो के विकास को भाषाओ में खोजने का प्रयास कम ही हुआ है। मानक हिन्दी तथा उसकी बोलियो में भी ये शब्द अपना रूप बदल कर या फिर उसी रूप में व्यवहृत हुए हैं यहा यही देखना अभीष्ट है।

आज की भाषाओ मे 'देशी' शब्दो का विकास दिखाने के पूर्व ऐसे शब्दो की सर्वथा पूर्वसिद्ध प्राचीनता पर विचार कर लेना असगत न होगा। 'देशी' शब्द अत्यन्त प्राचीनकाल से ही असभ्य और अशिक्षित वर्ग के बीच प्रयुक्त होते रहे हैं। स्वय ऋग्वेद, जो आर्यों का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है — उसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दो तरह की भाषाए उस युग मे भी थी। ऋग्वेद प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डल की भाषा द्वितीय से अष्टम मण्डल तक की भाषा से सर्वथा अलग रूप मे देखी जा सकती है। प्रो० विल्सन ने अपनी "एन ओरिजन आव इण्डिया" नामक पुस्तक मे एक स्थान पर लिखा है कि भारत मे आर्य सभ्यता के उदय से पहले ही जो भाषाए, यहा विद्यमान थी उनका लगभग 10 वा भाग बाद की सभी भाषाओं मे प्राप्त होता है।[1]

प्रो० विल्सन के इस तथ्य पूर्ण कथन को ध्यान मे रखते हुए यदि हम महर्षि पाणिनि के लौकिक तथा वैदिक भाषा के व्याकरण-ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' को देखें तो कुछ स्पष्ट तथ्य यहा भी मिलेगे। पाणिनि के समय मे भी शिक्षितो की भाषा मे अलग हटकर कुछ भाषाए थी जिन्हे अधिकारी विद्वानो ने 'प्राकृत (अशिक्षित लोगों की) भाषा कहा है। इस बात का समर्थन पतजलि और भरत भी करते है। पाणिनि के धातुपाठ मे कई धातुए ऐसी आयी हैं जिनका प्रयोग उनके पूर्व की साहित्यिक भाषा मे नहीं मिलता। इन धातुओं का विकास आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक आर्य-भाषाओं विशेषतया हिन्दी मे मिलता है, परन्तु साहित्यिक सस्कृत मे इनका प्रयोग कम ही हुआ है। कुछ धातुए द्रष्टव्य हैं—

(1) अड्ड-अभियोगे-सिद्धान्त कौमुदी 1।371—हिन्दी मे 'अडना' क्रिया पद।

(2) कड्ड कार्कश्ये — सि. कौ 1।372 हिन्दी मे 'कड़ा' विशेषण पद।

---

1 "A Portion of a primitive unpolished and scanty speech, the relics of a period prior to civilization had been calculated to amount one tenth of the speech on the whole."

(3) कुट् शब्दे सि को –6।73 हिन्दी 'कुट्-कुट करना' – यह धातु नेपाली और कुमायुनी क्वीरा और क्वीडा (बात) के मूल मे आज भी है ।

(4) घिणि-ग्रहणे[1], सि को 1।461 – प्राकृत मे गेण्हइ, घेण्णइ आदि रूप इसी से विकसित है ।

(5) घुण-भ्रमणे – सि को. 1 464 – हिन्दी 'घूमना' क्रिया इसी से ।

(6) चक् तृप्तो – सि को 1।93 – हिन्दी के 'छकना' तथा 'चकाचक' आदि पद इसी से आए होगे ।

(7) चप् सान्त्वने – सि. को 1।426 – हिन्दी 'चुप' पद का मूल

(8) जमु अदने – सि को 1।426 – हिन्दी जमना (जमकर खाना) या जीमना आदि

(9) चुण्ट छेदने – वही, 8।347 – हिन्दी का 'च्यूँटी' पद ।

(10) जुड़ा बन्धने – वही 6।37 – 'जुडा' 'जोडना' आदि क्रिया पद ।

(11) टङ्क – बन्धर्थे - वही 10।97 – हिन्दी के टाँका लगाना 'टाँकना' आदि पद ।

(12) टङ्ग,गत्यर्थे – वही 1।887 – 'टाग' या 'टाँगना' पद ।

(13) धौर्-गतिचातुर्ये – वही 1।585 – हिन्दी 'दौडना' अवधी 'धोडना' क्रियापद इसी से विकसित होगे ।

(14) पेल् गतौ – सि को 1।574 – हिन्दी – 'पेलना', रेल, पेल, इत्यादि पद ।

(15) बाड आप्लावे - वही 1।306 – हिन्दी 'बाढ' पद ।

(16) मस्क् गत्यर्थे - वही – 1।102 – 'मसकना' (अवधी) (उससे) मस ।

(17) हिंड् गत्यर्थे – वही 1।287 – बगला–हाटा तथा कुमायुनी 'हिट्णो' आदि के मूल मे ।

(18) जिमु अदने – वही–1।500 – जेवना (अवधी तथा ब्रज, मारवाडी-जेवणे सथाली-जाम । कुर्कू-जोम । जुआग-जिम । सवर-जम ।

---

1. घुणि – घुणि ग्रहणे–क्रमशः सि को. – 1।462 – 1।463 ।

ऊपर गिनाये गये ये कुछ आख्यात पद संस्कृत में न के बराबर प्रयुक्त होते हैं। आगे लोक भाषाओं के सहारे विकसित होने वाली प्राकृत तथा उसकी अन्य सहचारिणी भाषाओं में ये धातुएं प्रयुक्त होती रहीं और कालक्रम से आधुनिक आर्य भाषा में अपने उसी अर्थ में प्रचलित हैं। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त होने मात्र से ये शब्द संस्कृत-योनि नहीं होंगे, फिर पाणिनि तो स्वयं ही 'लौकिक एवं वैदिक भाषा' का व्याकरण रचने की प्रतिज्ञा करते हैं। बाद में यदि 'लौकिक' का अर्थ 'साहित्यिक संस्कृत भाषा' हो गया तो इसमें पाणिनि का दोष नहीं। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में यह मान्यता जड़ पकड़ती जा रही है कि संस्कृत ऐसी भाषा है जिसको संस्कार (सुधार) कर उसे खूब ठोका-पीटा गया है। इस कार्य में पाणिनि ने सबसे अधिक योग दिया। इसी प्रक्रिया के बीच कितने ही लोक भाषाओं के शब्दों पर संस्कृत की मुहर लगायी गयी।

इसी तथ्य को दूसरे रूप में भी देखा जा सकता है। महर्षि पाणिनि के पहले तथा बाद की भाषा में कुछ विलक्षणताएं स्पष्ट ही परिलक्षित की जा सकती हैं। संस्कृत-भाषा की लम्बी परम्परा में कुछ शब्द ऐसे आते हैं जो व्यवहृत तो एक ही अर्थ में हुए हैं, परन्तु उनकी स्थिति स्पष्ट रूप से अलग-अलग है। संस्कृत में 'घोड़े' के लिए घोटक और 'अश्व' दो शब्द मिलते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि 'घोटक' शब्द आर्येतर भाषाओं से सम्बद्ध है – तमिल में 'कुदिरै', कन्नड़ में 'कुदरे' तथा 'कोटा' में भी 'कुदरे' मिलता है। इन भाषाओं में प्राप्त होने के कारण यह स्पष्ट ही आर्येतर भाषा (द्रविड़ भाषा) से लिया गया है। दोनों शब्द 'घोटक' और 'अश्व' साथ-साथ व्यवहृत होते रहे। स्थिति के अनुसार प्रथम लोकभाषा से आया हुआ शब्द रहा होगा और द्वितीय शिक्षितों की भाषा का शब्द रहा होगा। शिक्षितों का 'अश्व' शब्द आज हिन्दी में भी उसी वर्ग के लोगों का शब्द है – जब कि 'घोटक' 7 घोडअ 7 घोड़ा आदि रूपों में परिवर्तित होता हुआ सामान्यजनों द्वारा व्यवहृत होता है। इसी प्रकार कुत्ते के लिए 'कुक्कुर' और 'श्वान' दो शब्द हैं। बिल्ली के लिए 'बिल्लाड' और 'मार्जारी' दो शब्द व्यवहृत होते रहे हैं। यदि इन साथ-साथ चलने वाले शब्दों का विकासक्रम लक्षित किया जाये तो देखने में आयेगा कि वैदिक युग में चलने वाले प्राकृत जनों द्वारा व्यवहृत अनेकों पद बहुत थोड़े ध्वनि परिवर्तन या रूप परिवर्तन के साथ आज भी चल रहे हैं। आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' में ऐसे अनेकों पद हैं जिनका आधुनिक आर्यभाषाओं विशेषतः मानक हिन्दी में विकास, एक अनोखी भाषा-शास्त्रीय कहानी उपस्थित करता है। मानक हिन्दी का शब्द भण्डार विविध भाषाओं के मेल से बना

है। इसमें निहित विदेशी तत्त्वों को पहिचान लेना सरल है, परन्तु परम्परा से चली आती हुई 'देश्य' शब्दावली को पहिचान पाना एक अत्यन्त दुरूह कार्य है। हिन्दी में कितने ही ऐसे 'देशज' शब्द हैं — जिन्हें भ्रान्तिवश संस्कृत से उद्‌भूत और तद्‌भव मान लिया जाता है। मानक हिन्दी के ऐसे ही कुछ शब्दों पर प्रकाश डाला जायेगा जो युग युगों से भारतीय आर्य भाषाओं की सम्पत्ति रहे और आज भी भाषा के शब्द भण्डार को समृद्ध बना रहे हैं। जिन शब्दों का यहां उल्लेख किया जायेगा उन्हें आचार्य हेमचन्द्र ने 'देश्य' मान कर अपने कोश ग्रन्थ 'देशीनाम-माला' में सकलित किया है।

1 (अग्घाणो— विशेषण पद) — दे० ना० मा० 1–19 यह शब्द हिन्दी में 'अघाना अवधी में अघान व्रजभाषा में 'अघाना' 'अघानो' आदि क्रिया पदों के रूप में विकसित है। आचार्य हेमचन्द्र इस शब्द को देश्य मानते है। परन्तु शब्द की स्थिति और रूपात्मक विकास दोनों अलग कहानी कहते हैं। जहां तक इस शब्द की स्थिति का प्रश्न है यह लोक भाषा का शब्द है। साहित्यिक हिन्दी में 'अघाना' क्रिया का प्रयोग लगभग नहीं ही होता है। इसके स्थान पर 'तृप्त होना' आदि पद व्यवहृत होते है। लोक भाषाओं और बोलियों में 'देशी' शब्द प्रचुर-मात्रा में है यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह तो एक पक्ष हुआ। दूसरी ओर यदि इस शब्द को 'संस्कृत' के 'आघ्राण' पद से व्युत्पन्न माना जाये तो खींचतान करनी पड़ेगी। 'आघ्राण' का अर्थ है — 'नाक तक भरकर' इसका लाक्षणिक अर्थ ही तृप्तिवाचक होगा। ऐसी स्थिति में इस शब्द के सांस्कृतिक परिवेश के ही आधार पर इसकी कोटि का निर्धारण किया जाना चाहिए। इस कसौटी पर यह 'देश्य' ही ठहरता है। 'अग्घाण' शब्द से 'अघाना' क्रिया का विकास रूपात्मक विकास की दृष्टि से भी सही दिशा में है— अवधी में–'अघाइ के खावा' 'अघान अहै' आदि रूपों में इसका व्यवहार देखा जा सकता है।

उपर्युक्त शब्द विवेचन के बीच एक बात विज्ञजनों को खटक सकती है, वह यह कि यदि कोई शब्द संस्कृत भाषा में विद्यमान है तो उसे 'देश्य' बताने का आग्रह हम क्यों करें? इस प्रश्न पर विचार करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि कोई भी साहित्यिक भाषा लोक भाषा के स्तर से उठ कर ही साहित्यिक भाषा बनती है – ऐसी स्थिति संस्कृत की भी रही है। स्वयं महर्षि पाणिनि ने व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी में कितने ही शब्द ऐसे आये हैं — जिनका उद्‌गम लोक-भाषाओं में खोजा जा सकता है। पाणिनि के धातुपाठ में 'देश्य' तत्त्वों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अष्टाध्यायी के उणादि प्रत्यय भी बहुत कुछ इसी तथ्य की

ओर संकेत करते हैं। संस्कृत एक ऐसी भाषा है जिसका पाणिनि जैसे वैय्याकरणों ने संस्कार किया। इस क्रिया मे कितनी ही 'देश्य' शब्दावली संस्कृत हो उठी। इसका संकेत पहले भी किया गया है।

(2) अंगालिअं — (संज्ञा पद) इक्षु खण्ड – दे. ना मा 1–28 – इंगाली –1–79-ये दोनो शब्द – ईख के ऊपरी भाग-जिसमें उसकी पत्तियाँ आदि रहती हैं, के अर्थ मे व्यवहृत हुए हैं। अवधी का 'अगोरी' या 'अगौरी' पद तथा ब्रजभाषा और भोजपुरी में 'अंगोला' पद इन्हीं शब्दों के विकसित रूप हैं। इस शब्द का संस्कृत के 'अग्र' शब्द से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है, परन्तु ऊपर कही गयी बातों को ध्यान मे रखते हुए यह उपयुक्त नहीं होगा।

(3) अच्छं (विशेषण) — अत्यर्थं दे ना मा 1–49 – हिन्दी का 'अच्छा' विशेषण पद जो कि 'सुन्दर' का अर्थ देता है तथा बोलने मे जो भिन्न-भिन्न मनोभावों के द्योतन के लिए प्रयुक्त होता है, इसी पद का विकसित रूप होगा।

(4) अच्छिविअच्छी (संज्ञा) — परस्पराकर्षणम्–दे ना मा.–1।41 – यह एक ऐसे खेल का अर्थ देने वाला शब्द है जिसमे खेलने वाले परस्पर एक दूसरे को खींचते हैं। हिन्दी मे प्रचलित बच्चों के खेल का अर्थ देने वाले 'आँख-मिचौनी' पद को इसका विकसित रूप माना जा सकता है क्योंकि दोनो शब्द खेल वाचक हैं। खेल की प्राचीन प्रक्रिया और आज की प्रक्रिया मे भेद हो सकता है पर हैं दोनों एक ही।

(5) अजराडर — (संज्ञापद) उष्णम् दे ना मा – 1 45 – अवधी में जाड़े में प्रयुक्त होने वाले गर्म और मोटे कपड़े को 'जड़ावर' कहा जाता है। 'जड़ावर' शब्द निश्चित रूप से 'अजराडर' शब्द का ही विकसित रूप होगा। समय की लम्बी यात्रा के बीच उष्णतावाचक यह पद गर्म कपडों के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा। ध्वन्यात्मक परिवर्तन की दृष्टि से आदि स्वर का लुप्त हो जाना या 'र' का 'ड' हो जाना लोक भाषाओं की स्वयम् क्रिया है।

(6) अत्यग्घं तथा अत्थाह — अगाध (विशेषण) – दे ना मा 1-54 – हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों मे यह शब्द – थोड़े परिवर्तन के साथ 'अथाह' पद के रूप मे पानी की न नापी जा सकने वाली गहराई के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। संस्कृत के 'अगाध' शब्द से 'अथाह' पद का विकास मानना, ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से उपयुक्त नहीं होगा।

(7) अल्लट्ट-पल्लट्टं — 'पार्श्व परिवर्तन (संज्ञापद) दे ना मा 1-48–यह शब्द थोड़े विकार के साथ हिन्दी मे 'अलट-पलट या उलट-पुलट' तथा अवधी मे

'उलुटु-पुतुट' के रूप मे व्यवहृत हो रहा है । अवध के कुछ ग्रामीण क्षेत्रो मे इसका प्रयोग 'उलाट-पुलाट' के रूप मे भी होता है ।

(8) अवपुसिओ — सघटित (विशेषण) दे ना मा 1–48 – यह हिन्दी मे 'आपस' तथा अवधी मे 'आपुस' के रूप मे विकसित होकर प्रयुक्त हो रहा है। ध्वनि परिवर्तन की दृष्टि से अवधी का 'आपुस' इसके अधिक समीप है । अव 7 आ। अवधी मे 'प्' का 'उ' स्वर सुरक्षित है जब कि हिन्दी मे इसका सस्कार किया गया और 'देशी' प्रकृति हटाने के लिए प् के 'उ' का 'अ' कर दिया गया है ।

(9) असियं[1]–दात्रम् (सज्ञापद) दे ना मा 1–14—फसल शब्द आदि की कटाई के लिए लोहे का बना हुआ धारदार औजार विशेष । हिन्दी तथा अवधी मे 'हँसिया व्रजभाषा 'असि' आदि पद इसी के विकसित रूप होगे । अवधी मे प्राय स्वरो का महाप्राणीकरण देखा जाता है — जैसे 'अइसन' और 'हइसन' दोनो ही पदो का व्यवहार होना है । हेमचन्द्र द्वारा दिये गये अर्थ से भी इसकी पर्याप्त समानता है ।

(10) आऊरू — अतिशय (अधिकतावाची) (सर्वनामपद) दे ना मा 1।76 – यह शब्द हिन्दी मे 'और' अवधी मे 'अउर' आदि रूपो मे विकसित है । हिन्दी तथा इसकी अन्य बोलियो मे इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे होता है – एक अधिकतावाचक सर्वनाम के रूप मे जैसे और दीजिए', दूसरा सम्बन्ध बोधक अव्यय के रूप मे जहा पर इसे अग्रेजी के 'एण्ड' (And) का स्थानीय समझा जा सकता है । हमे अधिकतावाची सर्वनाम पद 'और' को ही लेना है । हिन्दी का 'और' तथा अवधी का 'अउर' दोनो ही पद 'आऊर' के विकास होगे । अर्थ की दृष्टि से अग्रेजी के एण्ड (And) का स्थानवाची सबधबाचक अव्ययपद 'और' सस्कृत 'अपर' शब्द का विकृत या तद्भव रूप है ।

(11) आहु-उलूक सज्ञा पद) दे ना. मा 1-61 – हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी ग्रामीण बोलियो मे व्यवहृत होने वाला 'हौवा' या 'हउआ' शब्द इसी से विकसित माना जा सकता है । इसका व्यवहार प्राय 'डरावना' जीव के अर्थ मे होता है । उल्लू नामक पक्षी स्वभाव से भीरु होते हुए भी आकृति से बहुत अधिक डरावना होता है । 'आहु' से 'हौवा' या 'हउआ' शब्द का विकास-भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से 'वर्णविपर्य' के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

---

1 सस्कृत के 'असि' (तलवार) तथा 'असित' (काला या अपवित्र) शब्दो से भी इसे व्युत्पन्न किया जा सकता है । इसके विपरीत यह भी सम्भावना है कि यह लोक भाषा का शब्द रहा हो और बाद मे साहित्यिक सस्कृत मे प्रयुक्त होने लगा हो ।

(12) उक्कासिग्रा—उत्थित–(विशेषण पद) दे ना मा 1-114 हिन्दी 'उकसाना' ब्रजभाषा 'उकसन' 'उकसनि' तथा अवधी 'उसकाना' या 'हुसकाना' आदि पद इसी से विकसित हुए होगे। विकास की इस प्रक्रिया के अन्तराल मे अर्थ साम्य और ध्वनि-साम्य दोनो ही परिलक्षित किया जा सकता है। उक्कासि-उक्कास-उकस 'ना' हिन्दी का क्रियावाची प्रत्यय – उकसाना। अवधी मे वर्ण विपर्यय से उकसाना-उसकाना-हुसकाना।

(13) उक्खली — पिठर (सज्ञापद) दे. ना मा 1188 — अवधी मे 'ओखरी', राजस्थानी ब्रजभाषा और भोजपुरी मे 'ओखली' 'उखली' 'ओखरी' और 'ओखडी' तथा बुन्देली में 'उखरी' शब्द 'उक्खली' शब्द के ही विकसित रूप हैं।

(14) उक्कुडो — मत्त (सज्ञापद) दे. ना मा 1-91 – हेमचन्द्र ने इसका अर्थ मदमत्त या घमण्डी बताया है। हिन्दी तथा इसकी सभी बोलियो में व्यवहृत 'गुण्डा'[1] शब्द इस शब्द का विकसित रूप कहा जा सकता है। क् का ग् में परिवर्तन तथा प्रारम्भिक स्वर का लोप मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के लिए सामान्य बातें हैं। उक्कुड तथा उसके विकसित रूप 'गुण्डा' दोनो का ही सम्बन्ध यहा बहुत प्राचीन काल मे रहने वाली बर्बर एव स्वेच्छाचारिणी 'गोंड' जाति से जोडा जा सकता है। हेमचन्द्र ने इसी आशय का एक अन्य शब्द 'गुन्दा' (दे ना. मा 2-110) अधम या नीच के अर्थ मे दिया है। अरबी मे 'गोन्द' या 'गुन्द' शब्द सिपाही के अर्थ मे आया है। राजघराने के सिपाहियो का स्वेच्छाचार और उनकी दुष्टता सर्वविदित है। हो सकता है बाद मे अत्याचारी सिपाहियो के समान ही आचरण करने वाले व्यक्ति का नाम भी 'गोंद' या इसी का विकसित रूप 'गुण्डा' पड गया हो। मेरी दृष्टि मे 'गोंड' जाति से इसका सम्बन्ध दिखाना उचित होगा।

(15) उच्चटो, उच्चट्टो — द्रुतचौर्यम्, चोर (सज्ञापद) दे ना मा 1-101 ये दोनो शब्द चोरी करने मे अत्यन्त पटु व्यक्ति के अर्थ मे आये है। हिन्दी का 'छँटा' शब्द – (जैसे 'छँटा हुआ बदमाश) स्पष्ट ही इन दोनो शब्दो से विकसित हुआ होगा।

(16) उच्छुअं — भयचौर्यम् (सज्ञापद) दे ना. मा. 1195 – चोरी करते समय भयभीत रहने वाले व्यक्ति का अर्थ देने वाला यह शब्द 'ओछा' पद के

---

1 ब्रजभाषा सूरकोष, पृ 400 पर 'गुण्डा' शब्द को सस्कृत के 'गुण्डक' (मलिन) शब्द से व्युत्पन्न बताया गया है। 'गुण्डा' शब्द की यह व्युत्पत्ति केवल व्युत्पत्ति दिखाने के लिए ही दी गयी लगती है। सस्कृत का 'गुण्डक' शब्द भी 'देश्य' प्रकृति का है। इस शब्द को भी ठोक पीटकर सस्कार युक्त किया गया होगा। मूल रूप से यह शब्द 'देश्य' है तद्भव नहीं।

रूप मे हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी बोलियो मे प्रचलित है। यद्यपि इसका अर्थ दुष्ट, धोखेबाज आदि हो गया है, फिर भी इस शब्द के अन्तराल मे निहित कायरता का आभास इसे 'उच्छुग्र' के अर्थ से बहुत दूर नही ले जाता। ध्वन्यात्मक विकास भी सही दिशा मे है। उच्छुग्र 7 ओच्छह☐ (उद्ओति) ओछा।

(17) उच्छविय — शयनीयम् (सज्ञापद दे ना. मा 1-103 – विस्तर का अर्थ देने वाला यह शब्द अवधी मे बिछौना, ब्रजभाषा मे बिछौन तथा बिछौना एव हिन्दी की अन्य बोलियो मे भी इन्ही रूपो मे विकसित देखा जा सकता है।

(18) उज्जडं — उद्वसम् (विशेषण पद) दे ना मा. 1-96 हिन्दी मे 'उजाड' 'ऊजड' अवधी मे ऊजर, ब्रजभाषा मे 'उजार' आदि रूपो मे इस शब्द का विकास देखा जा सकता है। हेमचन्द्र ने इसका प्रयोग 'सुनसान स्थान' के अर्थ मे किया है। हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे भी इसका यह अर्थ सुरक्षित है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ड् का र् या ड मे परिवर्तन हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे बहुतायत से देखा जाता है।

(19) उज्झमणं —पलायनम् – (सज्ञा पद) दे ना. मा. 1-103 – हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे व्यवहृत होने वाला त्वरावाचक 'झम' शब्द इसी शब्द से विकसित होगा। जैसे 'झम से उठा लिया', 'झम से भागा' 'झमकि झरोके झाकि' आदि।

(20) उड़िदो — मापधान्यम् – (सज्ञापद) दे ना मा. 1-98 – यह शब्द खडी बोली तथा ब्रजभाषा से 'उडद', अवधी और भोजपुरी से 'उरिद' बुन्देली मे 'उरदन' गुजराती मे 'अडद' तथा राजस्थानी मे 'उडिद' या 'उडद' के रूप मे विकसित है। यह अपनी प्रारम्भिक अवस्था से दो दाल वाले बीज विशेष का वाचक रहा है और आज भी उसी अर्थ मे प्रचलित है।

(21) उड्डसो — मत्कुण (सज्ञापद) दे ना मा 1-96 — भोजपुरी मे 'उडिस' या 'उडीस', बगला और मैथिली मे 'उडीस' के रूप मे विकसित यह शब्द आज भी 'खटमल' का वाचक है।

(22) उत्थल्लपत्थल्ला (सज्ञापद) — (ओत्थल्लपत्थल्ला)[1] पार्श्वद्वयेन परिवर्तनम् दे ना मा. 1।122 हिन्दी मे 'उथल-पुथल' शब्द इसी का विकसित रूप है। गुजराती मे यह शब्द 'उथल-पाथल' के रूप मे प्रचलित है।[2]

---

1 'उतओति' से।

2 हेमचन्द्र द्वारा दिया गया 'उत्थल्लपत्थला' शब्द एक स्थूल क्रिया' इधर-उधर बार-बार उलटना' का द्योतक है। हिन्दी मे यह 'उथल पुथल' के रूप में 'हलचल' वाची होकर सूक्ष्म अर्थ देने लगा है। शब्दो के इस अर्थविकास के अन्तराल मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य निहित है। पहले अशिक्षित वर्ग मे प्रचलित 'देशी' शब्द स्थूल क्रियाओ का ही अर्थ देते रहे होगे परन्तु सभ्यता और शिक्षा के विकास के साथ ही उन्ही शब्दो मे अर्थ गौरव आया। अभिधा के बाद लक्षणा फिर व्यजना और ध्वनि जैसी शब्द शक्तिया सभ्य सुशिक्षित मनुष्य का विकास लगती हैं। आदि युग का मानव और उसकी भाषा दोनो ही अभिधावादी रहे होगे।

(22क, उव्वुक्क-प्रलपित — (सज्ञापद) दे ना मा 1-128 – हिन्दी तथा उसकी सभी वोलियो मे प्रचलित 'वुक्का' शब्द जैसे 'वुक्का फाडकर रोना,' इसी शब्द से सम्वन्वित है।

(23) उम्मडा —(सज्ञा) वलात्कार – दे ना मा. 1-97 – हिन्दी तथा उसकी सभी वोलियो मे प्रचलित 'समड' विशेपरण पद या 'उमडना' क्रिया पद इसी से विकसित होंगे। जैसे 'समड-घुमड' कर वरसना 'नदी खूव उमड कर वह रही है' आदि। इन दोनो ही प्रयोगो के कारण अन्तराल मे' 'वलात्कारेण कार्य सम्पन्न होने की भावना निहित देखी जा सकती है।

(24) उव्वाग्रो-खिन्नार्थं—दे ना मा –1-102–व्रजभापा और अवधी की 'ऊवना' क्रिया भोजपुरी की 'उवना' क्रिया या ऊवना इसी शब्द से विकसित होगी। अवधी कोश मे इस क्रिया को 'ओवा' नामक वीमारी से सम्वद्ध वताया गया है। 'ओवा' नामक वीमारी से भी लोग वहुत अविक घवरा उठते हैं, फिर भी इससे 'ऊवना' क्रिया का सम्वन्व वनाना उपयुक्त नही है। 'ओवा' पद आज भी अवधी और भोजपुरी मे 'ओवा' (भयानक आपत्ति जो एकाएक आती है) के रूप मे प्रचलित है। अत. 'ओवा' से 'ऊवना' क्रिया का सम्वन्व जोडना ठीक नही। दूसरी ओर यदि इसे तद्भव मानकर संस्कृत के 'उद्वस' शब्द से व्युत्पन्न वताया जाये तो भी अनेको कठिनाइया आयेंगी। हिन्दी का 'ऊवना' या 'उवाऊ' शब्द 'देश्य' 'उव्वाग्रो' के अधिक समीप है।

(25) ओच्छिग्र—केशविवरणम् दे ना मा –1-150–'व्रजभापा मे ओछना' तथा अवधी मे 'ओइछना' क्रिया पदो के रूप मे इसका विकास देखा जा सकता है। व्रजभापा मे इसका मूल अर्थ 'वाल-झाडना' सुरक्षित है — सूरदास ने 'ओछन गुहन ··· ··· ··· ···' आदि रूपो मे इसका प्रयोग किया है। अवधी मे इसका थोडा अर्थ विकास हो गया है — जैसे 'गइआ कोएर ओइछ लइ गइ।' यहा ओइ-छना' पद 'कोई वस्तु झटके से खीच लेने' का अर्थ देता है। वाल भी खीच और झटक कर ही साफ किये जाते है। क्रिया वही है मात्र अर्थ विकास से विशिष्ट न रह कर सामान्य वन गयी है। अव फिर प्रश्न उठता है कि यह शब्द 'देशज' कैसे है – स मे भी 'उच्छि' – (मि को 1-230) —क्रिया विद्यमान है। उसका भी अर्थ 'पोछना' या 'साफ करना है', फिर इस शब्द को इसी धातु से व्युत्पन्न क्यो न किया जाय। इस विवाद को मिटाने के लिए हमे अन्य आर्य पूर्व भारतीय भापाओ की ओर जाना पडेगा। यह शब्द तमिल मे उरिञ्जु (साफ करना, मिटाना) कन्नड मे 'उञ्जु' के रूप मे मिलता है। सस्कृत के पहले की भापाओ के

इन शब्द की विद्यमानता यह सिद्ध करती है कि यह शब्द संस्कृत शब्द भण्डार की अपनी वस्तु न होकर अपहृत है। इसका प्रमाण इसी अध्याय मे पहले भी दिया जा चुका है। ऐसी स्थिति मे इसे तद्भव न मानकर 'देशज' मानना ही अधिक उपयुक्त होगा।

(26) ओज्झरी (संज्ञापद)–दे ना मा. 1-157–हेमचन्द्र ने इस शब्द का प्रयोग 'गर्भाशय को ढके रहनी वाली पतली झिल्ली' के अर्थ मे किया है। अवधी, भोजपुरी तथा 'व्रजभापा' तथा हिन्दी की अन्य सभी ग्रामीण बोलियो मे यह शब्द 'ओझरी' के रूप मे थोडे ध्वनि विकार के साथ ज्यो का त्यो प्रचलित है अर्थ भी वही है जो हेमचन्द्र ने दिया है। 'ओझर' या 'ओझल' शब्द जो छिपने के अर्थ मे चलते हैं उनका भी सम्बन्ध इस शब्द से जोडा जा सकता है।

(27) ओड्ढणं — उत्तरीयम्–दे. ना मा. 1-155 – व्रजभापा-ओँढनि, ओँढनी अवधी 'ओँढनी' तथा 'ओढना, इसी शब्द के विकसित रूप होगे। व्रजभाषा मे यह दुपट्टा (उत्तरीयवाची) ही है। अवधी मे यह संज्ञा (ओँढनी=वस्त्र) तथा क्रिया (ओटना)दोनो ही रूपो मे प्रचलित है। ग्रामीण बोलियो मे इसकी अवस्थिति स्वय इस शब्द के 'देशीपन' को व्यक्त करती है।

(28) ओलुग्गो — सेवक – दे ना मा 1–164- व्रजभापा का 'लगुवा' और अवधी का 'लगुआ' ये दोनो ही इसी शब्द से विकसित होगे। यह शब्द ऐसे नौकर के अर्थ मे चलता है जो केवल अपने स्वामी का ही काम करता है। प्राय यह शब्द काश्तकारो का पुश्त-दर पुश्त हल जोतने वाले मजदूरो के अर्थ मे आता है। संस्कृत 'लग्न' शब्द से इसे व्युत्पन्न करने मे पर्याप्त खीच-तान करनी पडेगी।

(39) ओलुंकी — छन्नरमणम् – दे ना मा 1-153– व्रजभाषा लुकना, लुकनो, अवधी 'लुका-लुकी' या लुकी-लुका' आदि पद इसी से विकसित हैं। 'लुकी-लुका' या लुका-छिपी' का खेल ग्रामीण बालको का अत्यन्त प्रिय खेल है।

(30) ओल्लरिओ — सुप्त – दे ना मा – 1-163 – अवधी का 'ओलरना' क्रियापद, व्रजभाषा का ओलरन (संज्ञा) तथा 'ओलराना' (प्रेरणार्थक क्रियापद) आदि पद इसी से विकसित होगे। स्वरूपगत विकास तो लगभग ठीक दिशा मे है पर अर्थ मे थोडा भेद है। प्राकृत का 'ओल्लरिओ पद 'सोता हुआ' अर्थ देता है परन्तु अवधी और व्रजभापा मे विकसित ओलरना या 'ओलराना' न सोते हुए भी 'लेटने' के वाचक है। ये शब्द 'विश्राम करने के लिए लेटने तथा 'सोने' दोनो ही क्रियाओ के वाचक है।

(31) ओसरिअं — अलिन्द '— दे ना मा 1-161 – घर के दरवाजे के सामने बनी हुई कुल बरसाती के अर्थ मे यह शब्द आया है । ब्रजभाषा मे ओसारा[1] अवधी मे 'ओसार' या 'ओसरिया' शब्द इसी के विकसित रूप है । सूर ब्रजभाषा कोश (पृ. 183) मे 'ओसारा' शब्द की व्युत्पत्ति 'उपशाला' शब्द से दी गयी है । परन्तु प्रत्येक शब्द को घसीट कर सस्कृत की सीमा मे ले जाना एक स्वस्थ मनोवृत्ति नही है ।

(32) ओसा — निशाजलम् – दे ना मा 1-164 – मानक हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे प्रचलित 'ओस' शब्द रात्रि मे स्वतः वर्षित जल के अर्थ मे प्रचलित है । यह शब्द 'ओसा' का ही एक विकसित रूप है । ऋग्वेद मे भी एक स्थान पर 'अवश्याय' शब्द 'ओस' के अर्थ मे आया है । इसका यह अर्थ नही कि मूल रूप मे यह वैदिक सस्कृत का शब्द है । ऋग्वेद मे कितने ही शब्द ऐसे हैं जो आर्यो ने अनार्यो से लिये और उन पर अपनी सभ्यता, सुशिक्षा और अपने ढग के उच्चारण की मुहर लगा ली । ऋग्वेद मे जगह-जगह आर्यो (देवो) और अनार्यो (असुरो) के बीच होने वाले सघर्ष की चर्चा है । यह रचना आर्यो ने ऐसे समय मे की जब वे धीरे-धीरे अनार्यो का प्रभाव ग्रहण करने लग गये थे । ऐसे कितने ही शब्द ऋग्वेद या इतरवेदो मे अनार्यो मे ग्रहण किये गये होंगे अनार्य या भारत के आदिवासियो का कोई लिखित साहित्यिक प्रमाण न मिलने के कारण ही यह भ्रान्त धारणा चल पडी कि जितने शब्द वेद – कम से कम ऋग्वेद मे आये, वे आर्यो के हैं, परन्तु आधुनिक खोजो से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यो ने अनार्यो से बहुत कुछ लिया है ।

(33) ओसाओ — प्रहार पीडा – दे ना.मा – 1-152—ब्रजभाषा और अवधी दोनो बोलियो का 'ओसाना' क्रिया-पद जो कि 'झेलने' या 'सहन करने' का अर्थ देता है — इसी से विकसित होगा । अपने मूल रूप मे प्रहार की पीडा का बोधक यह शब्द अर्थ-विकास के आधार पर 'पीडा सहन करने या झेलने' का वाचक बन गया है । इसे सस्कृत की 'सह' धातु से व्युत्पन्न करना उपयुक्त नही होगा ।

(34) ओहडणी — फलहकार्गला (सज्ञापद) दे ना मा. – 1-160– अवधी का 'ओडघनी' या 'ओडननी' पद इसी से विकसित है । 'ओडघनी' का तात्पर्य

---

1 दे ना मा 1–49 मे 'ओमारा' शब्द भी आया है जिसका अर्थ गोवाट अर्थात् गायो का बेडा दिया गया है । गावों मे घर के सामने बने हुए ओसारे मे बरसा या जाडे के दिनो मे जानवरों का बाध दिया जाना अतिसामान्य बात है ।

काठ की ऐसी लकडी है जिसे दरवाजा वन्द करने मे साकल की जगह प्रयोग किया जाता है । भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह विकास उपयुक्त दिशा मे है । ह् और ड् का वर्ण विपर्यय तथा ह् के घ् मे परिवर्तन हो जाने से – ओहडणी 7 ओडघनी रूप मे विकसित हो गया । प्राकृत शब्दो मे पाया जाने वाला अन्त्य ण् हिन्दी मे न् मे परिवर्तित हो जाता है ।

(35) ओहरिसो — घ्रात (विशेषणपद)–हेमचन्द्र ने इस शब्द का प्रयोग 'वासी' 'महकी' हुई वस्तु के विशेषण रूप मे किया है । अवधि मे 'ओहरना' क्रिया 'वासी पडने' के अर्थ मे ही व्यवहृत होती है । स्पष्ट है कि इसका विकास 'ओहरिसो' शब्द से हुआ होगा ।

(36) कट्टारी — क्षुरिका (सज्ञापद) – दे ना मा – 2-4 – हिन्दी तथा उसकी सभी वोलियो मे प्रचलित 'कटारी' शब्द इसी से विकसित होगा । सस्कृत के 'कर्तरी' शब्द से भी इसे व्युत्पन्न किया जा सकता है, परन्तु सस्कृत का यह शब्द स्वय ही प्राकृत शब्दो की प्रकृति का द्योतन करने वाला है ।

(37) कडच्छू — अयोदर्वी (सज्ञापद) दे ना. मा 2-7 – हिन्दी तथा उसकी सभी वोलियो मे प्रचलित 'कडछुल' 'करछी' 'करछुल' या 'कलछुल' पद इसी के विकसित रूप हैं । हेमचन्द्र ने 'कडच्छू' का अर्थ पाचन क्रिया मे काम आने वाले लोहे की वनी हुई वस्तु विशेष' दिया है । इस शब्द के विकसित रूप करछी आदि भी इसी अर्थ के द्योतक है । अन्तर इतना ही है कि हेमचन्द्र द्वारा प्रयुक्त मात्र लोहे की 'करछुल' का वाचक है जवकि इसके विकसित रूप किसी भी धातु से बनी हुई करछुल के लिए आते हैं ।

(38) कन्दो — मूलशाकम् (सज्ञापद) – दे ना मा 2-1 – सस्कृत हिन्दी, वगला, तथा मैथिली आदि मे प्रचलित 'कन्द' शब्द इसी शब्द से सम्बद्ध होगा । निश्चित ही 'कन्द' जैसी वस्तु का प्रचलन आर्यों के आने के पहले ही से रहा होगा ।

(39) कंडो — क्षीण – दे ना मा 2-51 – हिन्दी तथा लगभग उसकी सभी वोलियो मे प्रचलित 'कडा' शब्द इसी का विकास माना जा सकता है । 'कडा' का अर्थ सूखा हुआ (विशेषतया) गोवर होता है । 'कडो' शब्द का अन्य अर्थ 'मृत' भी है । इस अर्थ मे भी 'कडा' पद का व्यवहार होता है — जैसे 'वह कडा हो गया' अर्थात् मर गया । यहा शब्द के स्वरूपगत विकास के साथ ही उसमे थोडा सा अर्थगत विकास भी निहित है ।

(40) कतवारो तथा कयारो — तृणाद्युत्कर . (सज्ञापद) दे ना मा 2।11 - हिन्दी तथा उसकी सभी वोलियो मे प्रचलित 'कतवार' तथा 'कवाड' पद इन्ही दोनो शब्दो से विकसित होगे । हेमचन्द्र इनका अर्थ तृणसमूह' देते हैं–विकसित रूप मे 'कतवार' तथा 'कवाड' पद भी 'घास तथा कूडे कचरे के ढेर' का अर्थ देते हैं । 'कतवार' शब्द तो ज्यो का त्यो विना किसी ध्वन्यात्मक परिवर्तन के प्रचलित है, परन्तु कयार' पद अपनी विकसित अवस्था तक कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तनो से युक्त होकर पहुँचा है । 'कयार' के 'य' का 'व' फिर 'व' का 'व' तथा 'र' का 'ड' होकर 'कवाड' पद बना है । प्राकृतो से हिन्दी मे विकसित शब्दो मे ये ध्वनि परिवर्तन अति सामान्य है ।

(41) करिल्लं — वशाङकुरम्-(सज्ञापद) दे ना मा 2-10 – हिन्दी भाषा-भाषी गावो मे आज भी वास के फूटते हुए अ कुर को 'करैल' या 'करइल' (अवधी) कहा जाता है । यह शब्द 'करिल्ल' का ही विकसित रूप है ।

(42) कल्ला[1]— मद्यम्, (संज्ञापद) दे ना. मा – 2-2 – 'हिन्दी तथा उसकी वोलियो मे प्रचलित जाति विशेष का वोधक 'कलार' या 'कलवार' पद इसी शब्द से सबद्ध माना जा सकता है । ऐसी प्रसिद्धि है कि 'कलावार' नाम की एक जाति विशेष पहले मदिरा वनाती और उसका व्यवसाय भी करती थी । कल्ला (मदिरा) के व्यवसाय के आधार पर ही इस जाति का नाम 'कलार' या 'कलवार' पडा होगा ।

(43) कल्होडी — वत्सतरी – (सज्ञापद) दे ना मा 2-9 – हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी वोलियो मे गाय की वछिया के अर्थ मे 'कलोर' या 'कलोरी' पद का व्यवहार होता है । ये पद उपर्युक्त 'देश्य' शब्द 'कल्होडी' के ही विकसित रूप होंगे ।

(44) काहारो — जलादिवाही कर्मकर (सज्ञापद) दे ना मा –2-27– मानक हिन्दी व्रजभाषा-अवधी तथा अन्य वोलियो मे भी 'कहार'[2] शब्दो उत्सवो या

---

1 'कल्ला' पद देश्य न होकर तद्भव है और सस्कृत 'कल्या' शब्द का विकृत रूप है । यह भी कुछ विद्वानो का मत है । हेमचन्द्र स्वय भी लिखते हैं –"कल्ला शब्द कल्या शब्द भवोऽप्यस्ति । सत् कवीना नाति प्रसिद्ध ।" वे इस शब्द को सस्कृत में होते हुए भी कवियो मे प्रसिद्ध न होने के कारण 'देश्य' मानते है । यह तो कामचलाऊ तर्क हुआ । मेरी दृष्टि मे यह शब्द देश्य' ही है क्यो कि' 'तमिल' मे भी 'कल्' शब्द मदिरा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार इसे आर्येतर तत्त्व माना जाना चाहिए ।

2 सूर व्रजभाषा कोष में 'कहार' शब्द को तदभव माना गया है और इसकी दो व्युत्पत्तिया दी गयी है (1) स्कधभार (2) क – जल, हार – लाने वाला । जहा तक कहार शब्द को 'स्कधभार' शब्द से व्युत्पन्न करने की वात है वह किसी हद तक ठीक भी मानी जा सकती है – इसका सम्बन्ध कधे पर पालकी ढोने वाले नौकरों से दिखाया जा सकता है । परन्तु दूसरी व्युत्पत्ति तो अत्यन्त हास्यास्पद है । प्रत्येक शब्द को सस्कृत तक घसीट ले जाने का विद्वानों का यह मोह पता नहीं कब छूटेगा ।

सामान्य दिनो मे भी पानी ढोकर लाने वाले 'नौकर' का वाचक है। पालकी आदि ढोकर ले जाने वाले नौकर को भी 'कहार' ही कहते है। यही शब्द आगे चल कर कर्म के आधार पर निर्मित एक जाति विशेष का वाचक बन गया।

(45) कुक्कुसो–धान्यादितुष (सज्ञापद) दे ना. मा. 2-36 – हिन्दी 'कन-कूकम' मुहावरे का 'कूकस' शब्द 'कुक्कस' का ही विकसित रूप है। अवधी मे यह शब्द 'कुक्कुस' या 'कूकुस' दोनो ही रूपो मे प्रचलित है।

(46) कुदम्रो – कृश (विशेषण पद) दे ना मा 2-37 – हिन्दी मे यह शब्द 'कुद' रूप मे ज्यो का त्यो प्रचलित है। अर्थ भी लगभग वही है – जैसे कुन्द बुद्धि-वाला (मन्द या कमजोर बुद्धि) व्यक्ति।

(47) कुल्लड — लघुभाण्डम् (सज्ञापद) दे ना मा 2-63 – हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे व्यवहृत होने वाला 'कुल्हड' शब्द इसी से विकसित है। यह शब्द 'मिट्टी के छोटे बर्तन' का अर्थ देता है। अवधी के कुछ ग्रामीण क्षेत्रो मे 'कोहला' शब्द भी चलता है।

(48) कोइला[1] — काष्ठाङगार '— (सज्ञापद) दे. ना मा 2 49 – मानक हिन्दी मे 'कोयला' अवधी मे 'कोइला' आदि रूपो मे यह शब्द आज भी प्रचलित है। हिन्दी मे इ का य् (यण विधान) हो गया है, परन्तु अवधी मे यह शब्द ज्यो का त्यो 'ओ' के उच्चारण को हलका कर 'कोइला' के रूप मे चलता है।

(49) कोल्हुओ[2] — इक्षुनिपीडनयन्त्रम् (सज्ञा) दे ना मा. 2-65 – हिन्दी तथा इसकी सभी बोलियो मे प्रचलित 'कोल्हू' शब्द इसी से सबद्ध है। 'कोल्हू' एक यत्र विशेष है जिमसे ईख और तेल की पेराई की जाती है। पहले यह पत्थर का बना हुआ होता था।

(50) खट्ट — तीमनम् – (विशेषणपद) दे ना मा – 2-67 – हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे व्यवहृत 'खट्टा' विशेषणपद इसी का विकसित रूप है। सू.अ भा को पृष्ठ 320 पर 'खट्टा' पद की व्युत्पत्ति सस्कृत के 'कटु' शब्द से दी गयी

---

1 यूरोपीय भाषाओ की प्रतिनिधि भाषा अग्रेजी मे भी '      ' शब्द का मिलना यह सकेतित करता है कि यह मूलभारोपीय भाषा का शब्द होगा। सू. व भा को पृ 300 पर इस शब्द को तद्भव मानकर 'कोकिल' शब्द से इसकी अतिहास्यास्पद व्युत्पत्ति दी गयी है।

2. तमिल मे 'कोल' क्रिया पद जान से मार डालने के अर्थ मे मिलता है। प्राचीन काल मे अपराधियो को पत्थर के कोल्हुओ मे पेरवाकर मरवा डालने की अनेको कथाए मिलती हैं। इस तथ्य को दृष्टि रखते हुए तमिल' के कोल' क्रिया पद से इसका सम्बन्ध जोडा जा सकता है।

है। यह व्युत्पत्ति न तो ध्वन्यात्मक विकास की दृष्टि से और न ही अर्थगत विकास की दृष्टि से उपयुक्त है। कटु से कड़ुवा शब्द बना है। अर्थ भी वही है पर कटु से 'खट्टा' शब्द किसी भी प्रकार व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता। दोनों में अर्थगत भेद भी है।

(51) खट्टिक्को — शौनिक (संज्ञापद) दे ना. मा. 2-70 – हिन्दी का जातिवाची 'खटिक' पद इसी से विकसित है। अन्तर केवल इतना है कि इसका अर्थ थोड़ा परिवर्तित हो गया है। कहीं-कहीं तो यह 'वधिक' का ही अर्थ देता है परन्तु कुछ स्थानों पर यह शाक सब्जी का व्यापार करने वाली जाति का बोधक है। द्रविड़ कुल की तेलगु भाषा में भी 'कटिक' (Katık) शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। अत आर्येतर भाषा का शब्द होने से इसे 'देश्य' मान लेना उपयुक्त एव तर्क-संगत होगा।

(52) खड्डा — खानि. (संज्ञापद) दे ना मा – 2-66 – मानक हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'खड्डा' 'खड्ड' 'गड्ढा' 'गढ़ा' आदि पद व्यवहृत होते हैं। ये सभी शब्द स्पष्ट ही 'खड्डा' के ही विविध विकसित रूप हैं। इन पदों को संस्कृत 'खात'[1] पद से व्युत्पन्न मानना उपयुक्त नहीं है।

(53) खली — तिलपिण्डिका – (संज्ञापद) – दे ना. मा 2 66 – हिन्दी 'खली' अवधी तथा ब्रजभाषा 'खरी, 'खली' के रूप में ये शब्द ज्यों का त्यों विकसित है। संस्कृत में भी 'खलि' शब्द इसी अर्थ में आया है पर इसे संस्कृत का ही नहीं माना जा सकता। द्रविड़ कुल की कई भाषाओं में यह शब्द मिलता है। तमिल कलनु-कन्नड कळ (Kala) पुर्जी कली, कुयी-कलाइ। इन सभी भाषाओं में वर्गीय महाप्राण ध्वनियां नहीं हैं। अत इनका उच्चारण त०-खलनु, क०-खल, पर्जी – 'खली' कुयी–'खलाइ' भी किया जा सकता है। इन प्रमाणों के आधार पर निश्चय ही 'खली' शब्द आर्येतर भाषाओं की देन है। पर्जी में तो यह उच्चारण भेद के साथ ज्यों का त्यों विद्यमान है।

(54) खाइआ — परिखा – (संज्ञापद) दे. ना मा – 2-73 – हिन्दी तथा उसकी प्राय सभी बोलियों में प्रचलित 'खाई' या खाईं पद इसी से विकसित होंगे। अर्थ भी एक ही है—'किले या खेत के चारों ओर सुरक्षा के लिए बना हुआ घेरा।'

---

1. मू अ मा को, पृ 321 पर 'खड्डा' शब्द को संस्कृत 'खात' से व्युत्पन्न मानकर तद्भव की कोटि में रखा गया है।

(55) खुट्टं:त्रुटितम् (विशेपरण पद) दे ना मा – 2-14 – हिन्दी में प्रचलित ध्वनिवाची 'खुट' शब्द जैसे 'खुट' से टूट जाना या 'खट' शब्द – जैसे 'खट' से गिरना (इसमे भी टूटकर गिरने का भाव निहित है), इसी प्रकार ब्रजभाषा मे प्रयुक्त 'खुटकना' (तोडना) तथा अवधी मे 'कुटुकना' (तोडना) क्रियापद, ये सभी उपयुक्त शब्द से ही विकसित हुए होगे। ग्रामीण वोलियो मे इनका प्रयोग वाहुल्य ही उनके 'देशीत्व' को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। वालको द्वारा व्यवहृत 'खुट्टी' (करना) शब्द भी इसी से सम्वद्ध किया जा सकता है।

(56) खोट्टी -- दासी – सज्ञापद) दे. ना मा. 2-77 – हिन्दी तथा उसकी वोलियो मे व्यवहृत 'खोट' 'खोटी' 'खोटा' आदि पद इसी शब्द से विकसित कहे जा सकते हैं। हेमचन्द्र ने 'खोट्टी' शब्द का प्रयोग 'दासी' के अर्थ मे किया है। दासियो मे निहित वेईमानी तथा दुष्टता की भावना के कारण आगे चलकर यह सज्ञापद लक्षरण या विशेपरण के रूप मे व्यवहृत होने लगा होगा। ब्र भा. सू के, पृ. 352 पर इस शब्द को सस्कृत 'खोट' से निष्पन्न मानकर तद्भव की कोटि मे रखा गया है, परन्तु 'खोट' शब्द का सस्कृत शब्द भण्डार से सम्वद्ध होना भी सदग्धिता से रहित नही है। पाइअसद्दमहण्णव मे भी इस शब्द को 'देश्य' ही माना गया है।

(57) खोसलओ — दन्तुर (विशेपरण पद) दे ना. मा 2-77 – हिन्दी मे 'खूसट' तथा अवधी मे 'खोसडा' शब्द इसी के विकसित रूप होगे। ये शब्द 'असभ्य' या 'भद्दपन' का अर्थ देते हैं। कही-कही आक्रोश मे कहे जाने पर इनसे नपुसक का अर्थ भी ध्वनित होता है। हेमचन्द्र 'खोसलओ' का अर्थ बडे दाँत वाला या भद्दा व्यक्ति देते हैं। आगे चलकर हिन्दी मे इसका अर्थ-विकास हो गया और यह भद्दपन या वुद्धूपन के अर्थ मे चलने लगा।

(58) गड्डरी-छागी (सज्ञापद) दे ना मा 2-84 – हिन्दी गडरिया 'ब्रज तथा अवधी' गडेरिया जातिवाची पद इसी शब्द से सवद्ध किये जा सकते हैं। 'गड्डरी' (भेड या वकरी) का पालन करने के कारण ही वाद मे व्यवसाय के आधार पर एक जाति का नाम ही 'गडरिया' पड गया।

(59) गड्डी — गन्त्री (सज्ञा-पद) दे ना मा. 2-81 – हिन्दी तथा लगभग उसकी सभी वोलियों मे 'गाडी' शब्द 'वाहन' के अर्थ मे प्रचलित है। पजाबी में तो यह ज्यो का त्यो प्रचलित है। सस्कृत 'शकट' या 'गन्त्री' शब्दो से इसकी व्युत्पत्ति सम्भव नही है। इसके विपरीत कन्नड मे 'गाडि' शब्द इसी अर्थ मे मिलता है अत वहुत कुछ सम्भावना है कि यह आर्येतर भाषाओ की सम्पत्ति हो।

(60) गोच्छा — मजरी (सज्ञापद) दे. ना मा 2-15 — हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे 'गुच्छा' शब्द व्यवहृत होता है। सस्कृत मे भी 'गुच्छा' शब्द इसी अर्थ मे मिलता है। अत इस शब्द की स्थिति सदिग्ध है। भारत की आर्येतर भाषाओ मे प्रमुख तमिल मे 'कोत्त'[1] शब्द इसी अर्थ मे आया है। खीच-तान कर इसमे इस शब्द को व्युत्पन्न किया जा सकता है परन्तु इस शब्द को तद्भव ही मानना अधिक उपयुक्त लगता है।

(61) गोला—सखी (सज्ञापद) दे ना मा 2-104—राजस्थानी का दासी-वाचक 'गोली' शब्द इसी से विकसित होगा।

(62) गोबर – करीषम् (सज्ञापद) दे ना मा 2-96 हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो का 'गोबर' पद इसी से विकसित है अन्तर केवल इतना ही है कि हेमचन्द्र ने इसका प्रयोग सूखे हुए गोबर (कडे या उपले) के अर्थ मे किया है जब कि इसका विकसित अर्थ जानवरो द्वारा विसर्जित मल मात्र का वाचक है।

(63) गंडीरी—इक्षुखण्डम् (सज्ञापद) दे ना मा 2-82—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे व्यवहृत होने वाले 'गँडेली' 'गडेरी' तथा 'गँडीरी' पद इसी शब्द के विकसित रूप हैं। इनका अर्थ भी एक ही है।

(64) घाघर—जघनस्थवस्त्रभेद. (सज्ञापद। दे. ना मा 2-107—हिन्दी 'घाघरा' अवधी व्रज 'घघरा' 'घघरी' तथा राजस्थानी 'घाघरा' ये सभी पद उपर्युक्त शब्द के ही विकसित रूप हैं। इनमे अर्थगत साम्य तो है ही। इनका ध्वन्यात्मक विकास भी व्याकरण सम्मत है।

(65) घल्ली—अनुरक्तः (विशेषण पद) दे ना मा 2-105–हिन्दी मे 'घायल' अवधी तथा व्रजभाषा मे 'घाइल' पद 'मोहित या चोट खाया हुआ' के अर्थ मे प्रचलित है। ये 'घल्ली' शब्द के ही विकसित रूप होंगे।[2]

---

1 तमिल 'कोत्त' सम्हन (उच्चारण गोद् भी) से हिन्दी की बोलियो मे व्यवहृत होने वाले 'घोद' या घोदा' शब्द को सबद्ध किया जा सकता है—जैसे आम का घोद या घादा (गुच्छा)।

2 'घल्ली' शब्द से 'घायल' या 'घाइल' पद का विकास ध्वन्यात्मक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है परन्तु ऐसे स्थलों पर एक तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। देशी शब्दों के ध्वनि विकास की कोई परम्परा नहीं है। बहुत दिनों तक बोल-चाल मे रहने के कारण लोग मनमाने ढग से इनका प्रयोग करते रहे हैं। अत विकास की एक परम्परा निश्चित कर पाना सर्वथा कठिन ही नहीं असम्भव तथा काल्पनिक भी होगा।

(66) घट्टो-नदीतीर्थम्—(संज्ञापद दे ना. मा 2-111–हिन्दी का 'घाट' शब्द उसी से विकसित है। संस्कृत मे भी 'घाट' शब्द मिलता है परन्तु बहुत कुछ सम्भावना है कि यह शब्द संस्कृत मे प्राकृत से आया हो।

(67) घुग्घुस्सय–साशंकभणितम् (संज्ञापद) दे. ना. मा –2-109–हिन्दी मे प्रयुक्त 'घिग्घी' शब्द जैसे–घिग्घी बंध जाना (डर के मारे बोल न पाना) इसी से विकसित माना जा सकता है।

(68) घुघुरडो–उत्करः (संज्ञा) दे ना. मा 2-109–हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे 'घूर' शब्द कूडे का ढेर लगाये जाने वाले स्थान के अर्थ मे प्रचलित है। इसका विकास स्पष्ट ही 'घुघुरडो' शब्द से हुआ होगा।

(69) चंगं चारु (विशेषण) दे ना मा 3-1—हिन्दी, ब्रज तथा अवधी सभी मे प्रचलित 'चंगा' (अच्छा, भला सुन्दर) शब्द का विकास इसी शब्द से हुआ है।

(70) चट्टू दारुहस्त. (संज्ञा) दे ना मा 3-1—हिन्दी तथा उसकी प्राय सभी बोलियो मे 'चट्टू' शब्द ज्यो का त्यो प्रचलित है। यह लकडी का बनता है और करछी या करछुल की तरह इसका प्रयोग होता है। अवधी मे इसे ही 'दविला' भी कहते हैं।

(71) चाउला-तण्डुला (संज्ञा) दे ना मा 3-8—हिन्दी मे 'चावल' तथा अवधी मे 'चाउर' शब्द इसी शब्द से विकसित है।

(72) चिल्लरी–मशक (संज्ञा) दे ना. मा 3-11–हिन्दी की सभी बोलियो मे कपडे मे पडने वाले गन्दे कीडो के लिए 'चीलर' या 'चिल्लर' शब्द का प्रयोग होता है।

(73) चिल्लो-बालक (संज्ञा) दे ना मा 3-10—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे 'चेला' शब्द शिष्य के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। इस शब्द का सम्बन्ध 'चिल्लो' शब्द से ही होना चाहिए। सूर ब्रजभाषा कोश पृ० 526 पर चेला शब्द को संस्कृत 'चेटक' से व्युत्पन्न माना गया है (सं० चेटक 7 प्रा० चेडअ 7 चेडा 7 चेला) परन्तु यह उपयुक्त नही है। बालकवाची 'चिल्लो' शब्द ही 'चेला' पद के मूल मे है, बालको को बचपन मे ही दीक्षा देकर शिष्य बना लिया जाता था। अतः दोनो मे अर्थगत दूरी भी नही है। इसके अतिरिक्त पिथोरगढी-कुमायुनी भाषा मे 'चेला' शब्द बालक या लडके का ही वाचक है–जैसे–'चेलो षडाल लडके को सुला। अवधी मे यह शब्द 'चेरा' तथा 'च्याला' आदि रूपो मे प्रचलित है।

(74) चोट्टी-चूडा–शिखा (संज्ञा) दे ना मा.—3 1–हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे 'चोटी' 'चोटइया' 'चुटई' आदि पद शिखा के अर्थ मे व्यवहृत होते हैं। ये सभी उपर्युक्त शब्द के ही विकसित रूप हैं। इन शब्दो को सस्कृत 'चूडा'[1] से व्युत्पन्न मानना उपयुक्त नही है क्योकि सस्कृत मे 'चूडा' शब्द की स्वय की स्थिति ही सदिग्ध है। द्रविड कुल की लगभग सभी प्रसिद्ध भाषाओ तमिल-कन्नड तथा मलयालम आदि मे इस शब्द की उपस्थिति यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यह आर्य भाषा का शब्द नही है। तमिल मे 'चोटी' के लिए 'चुट्टु' (इसे शुड्डु भी पढा जा सकता है) कन्नड मे सुठु तथा मलयालम मे 'चुटुक' शब्द मिलते हैं। ऐसी स्थिति मे हिन्दी का 'चोटी' शब्द निश्चित रूप से तद्भव न होकर आर्येतर भाषाओ से प्राप्त तथा युग युगो मे व्यवहृत होने वाला 'देश्य' पद है।

(75) छइल्लो, छलिओ-विदग्ध दे. ना. मा.–3-24—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे प्रचलित 'छैला' तथा 'छलिया' पद इन्ही दोनो शब्दो से विकसित होगे। ब्र. भा सू. कोष मे छैला[2] शब्द की व्युत्पत्ति स छवि+ऐला (प्रत्यय) से दी गयी है। इसी तरह 'छलिया'[3] शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत छल+इया (प्रत्यय) से दी गयी है। परन्तु ये दोनो ही व्युत्पत्तिया पूर्वाग्रहग्रस्त हैं। इन शब्दो के प्रयोग का वातावरण ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि ये दोनो 'देश्य' शब्द हैं।

(76) छल्ली[4]–त्वक् (संज्ञा) दे ना. मा 3-24–हिन्दी तथा अवधी मे 'छाल' पद इमी से विकसित होगे। व्रजभाषा मे तो यह शब्द ज्यो का त्यो 'छल्ली' रूप मे चलता है। 'छल्ली' शब्द सस्कृत मे भी है, परन्तु वहा यह निश्चित ही प्राकृत से गया होगा।

(77) छिछोली—लघुजलप्रवाहः (संज्ञा) दे ना मा 3-27–हिन्दी मे प्रचलित 'छिछला' शब्द इमी से विकसत होगा। दोनो का अर्थ भी लगभग एक ही है। लक्षणया इसी शब्द से छिछोर, छिछोड (छल्का, दुष्ट) आदि पदो को भी निष्पन्न किया जा सकता है।

---

1 ब्र भा सू को पृ 528

2 पृ. 263

3. सू ब्र भा को, पृ 544

4 दे ना मा 2 66 में 'छल्ला' शब्द चर्म के अर्थ में आया है। हिन्दी तथा उसकी बोलियो में प्रचलित 'छाल' (चमडा) शब्द इमी शब्द का विकसितरूप है।

(78) छिण्णाली छिण्णालो—जार (विशेषण) दे ना मा. 3-27–हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे चरित्र भ्रष्ट तथा कामी स्त्री-पुरुषो के लिए प्रयुक्त होने वाले 'छिनाल 'छिनार' (अवधी) छिनरा आदि पद इन्ही शब्दो से विकसित होगे। सस्कृत 'छिन्नलाज ' से इन्हे व्युत्पन्न करना उपयुक्त न होगा।

(79) छेंडी– लघुरथ्या (सज्ञा) दे. ना. मा 3-31–ब्रजभाषा मे 'छेंडी' शब्द सकरे एव छोटे रास्ते के लिए प्रयुक्त होता है। यह स्पष्ट ही 'छेंडी' शब्द का विकसित रूप है।

(80) जगा—गोचर भूमि (सज्ञा) दे ना. मा –3-40–हिन्दी–'जगल' शब्द को इससे विकसित माना जा सकता है। ब्रजभाषा मे 'जगल' शब्द जल रहित भूमि के अर्थ मे भी प्रचलित है।

(81) जोण्णलिआ—धान्यम् (सज्ञा) दे ना मा 3-50 ब्रजभाषा जुणरी, जुनरी, अवधी जोन्हरी भोजपुरी जनरी, राजस्थानी मे जोणरी या जुणरी तथा कुछ बोलियो मे जोणरा या जनेरा शब्द एक धान्य विशेप के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। ये सभी शब्द उपर्युक्त देश्य शब्द के ही विकसित रूप हैं।

(82) जाडी—गुल्मम् (सज्ञा) दे ना मा. 3-15–हिन्दी 'झाडी' शब्द इसी का विकसित रूप है।

(83) झाडं—लतागहनम् (सज्ञा) दे ना मा 3 57–हिन्दी का 'झाड' शब्द इमी का विकसित रूप होगा। सस्कृत 'झाट' शब्द भी प्राकृत का शब्द होना चाहिए।

(84) झक्किअ—वन्ननीयम् (चुप्पा) (विशेषण) दे. ना मा 3-55–हिन्दी का झक्की शब्द इसी से विकसित होगा। इसमे अल्प ध्वन्यात्मक विकास के साथ ही थोडी मात्रा मे अर्थगत विकास भी दृष्टिगोचर होता है।

(85) झखरो—शुष्कतरु (सज्ञा) दे ना मा. 3-54–हिन्दी 'झखाड' अवधी, 'झाखर' आदि शब्द इसी के विकसित रूप हैं। यहा थोड़ा सा अर्थविकास हुआ है। हेमचन्द्र 'झखर' शब्द का प्रयोग 'सूखे वृक्ष' के अर्थ मे करते हैं—जब कि हिन्दी मे 'झंखाड' या अवधी मे 'झाखर' पदो का प्रयोग पेड को काट कर डाल दी गयी सूखी डालियो के समूह तथा अन्य कटीली झाडियो आदि के अर्थ मे होता है।

(86) झंखो—तुष्ट (विशेषण) दे. ना. मा 3-53 हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे प्रचलित झखना (परेशान होना, तरसना) क्रियापद का सम्बन्ध इस शब्द से जोडा जा सकता है। परन्तु अपनी विकसावस्था मे इसका अर्थ बिल्कुल उलट गया है। शब्दो के अर्थ विकास मे यह कोई नवीन घटना नही है। अब बुद्धिमत्ता और ज्ञान का वाचक 'बुद्ध' शब्द अपनी लबी यात्रा के बाद 'बुद्धू' के रूप मे एकदम विपरीत अर्थ देने लगा, तो सतुष्टि वाचक (झख) शब्द लम्बे अन्तराल के बाद उलट कर असतुष्टि वाचक बन गया तो इसमे आश्चर्य नही होना चाहिए।

(87) झडी—निरन्तर वृष्टि (सज्ञा) दे ना मा. 3-53—हिन्दी मे 'झडी' तथा अवधी मे 'झरी' आदि रूपो मे इसी शब्द का विकास हुआ है। यह शब्द ज्यो का त्यों तमिल मे भी मिलता है। वहा 'जडि' शब्द आता है। वर्गीय महा-प्राण ध्वनियो के अभाव मे इसका उच्चारण 'झडि' भी किया जा सकता है।

(88) झमालं—इन्द्रजालम्-(सज्ञा) दे. ना मा 3-53—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे 'झमेला' पद व्यवहृत होता है। यह शब्द समझ मे न आने वाले कृत्य या झझट का वाचक है। ध्वनिगत और अर्थगत समीपता को देखते हुए इसका सम्बन्ध उपर्युक्त शब्द से जोडा जा सकता है।

(89) झलुसिअं-दग्धम् (विशेषण) दे ना. मा 3-56—हिन्दी 'झुलसना' ब्रजभाषा तथा अवधी 'झोसना' 'झउँसना' क्रिया पद इसी शब्द से विकसित होंगे। 'झांसना' और 'झउँसना' तो इसके और भी समीप हैं 'झुलसना' भी मात्र 'उ' कार परिवर्तन से समीप ही है। सस्कृत 'ज्वल' या 'झल' पदो से इसकी व्युत्पत्ति क्यो न होगी।

(90) झसो—अयश (विशेषण) दे. ना मा 3-60—अवधी मे 'झाँस' शब्द दुष्ट और बेईमान व्यक्ति के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होता है—यह शब्द स्पष्ट ही 'झसो' का विकसित रूप है।

(91) झुट्टं—अलीकम् (सज्ञा) दे ना मा. 3-58—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे (झूठ) शब्द व्यवहृत होता है वह इसी पद का विकसित रूप है।

(92) झूंर—कुटिलम् (विशेषण) दे ना मा 3-59—अवधी मे 'झूर शब्द सूखा हुआ का अर्थ देता है। दुष्ट व्यक्ति भी अत्यन्त रुक्ष ही होता है। अत पहले कुटिलता का वाचक यह शब्द अर्थ विकास परम्परा मे लक्षणया 'रुक्षता' (सूखेपन) का बोधक हो गया होगा।

(93) टिक्कं टिप्पी–तिलकम् (संज्ञा) दे. ना मा. 4 3–हिन्दी 'टीका' टिपकी या 'टिप्पी' शब्द इन्ही शब्दो के विकास है। संस्कृत का 'टीका' शब्द प्राकृत से लिया गया होना चाहिए।

(94) टेक्करं—स्थल (कडी जमीन) (संज्ञा) दे ना. मा. 4-3—अवधी मे 'ठेकार' या 'ठोक्कर' शब्द कडी व पथरीली भूमि के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। हिन्दी के 'ठोकर' शब्द के मूल मे भी ये ही शब्द है। इन शब्दो का सम्बन्ध 'टेक्कर' से जोडा जा सकता है।

(95) टट्टइआ—तिरस्करिणी (पर्दा) (संज्ञा) दे ना मा 4 1–हिन्दी 'टट्टी' अवधी तथा व्रज 'टटिया' शब्द इसी के विकसित रूप है अन्तर केवल इतना ही है कि हेमचन्द्र ने इसका प्रयोग कपडे के बने पर्दे के अर्थ मे किया है जब कि इसके विकसित रूप घास-फूस के बने हुए ओट करने के साधन विशेष के वाचक है।

(96) ठल्लो— निर्धन • (विशेषण) दे ना मा 4-5 – हिन्दी मे 'ठल्ला' 'निठल्ला' आदि पद इसी के विकसित रूप हैं। अवधी के 'उठल्लू' शब्द का सम्बन्ध भी इसी से जोडा जा सकता है। हेमचन्द्र ने इसका प्रयोग निर्धन या दरिद्र के अर्थ मे किया है। हिन्दी मे यह शब्द अकर्मण्यता असमर्थता तथा आलस्य आदि का वाचक होकर विस्तृत अर्थ धारण करने वाला बन गया है, फिर भी इसके अन्तराल मे मूल अर्थ निहित देखा जा सकता है।

• (97) ठिक्क— शिश्नम् (संज्ञा) दे ना मा 4-5 – हिन्दी की ग्रामीण बोलियो मे प्रचलित 'ठेगा' शब्द इसी शब्द का विकसित रूप है। मूल मे अश्लीलता होने के कारण शिश्न के स्वरूप गत साम्य के आधार पर 'ठेंगा' शब्द 'अ गूठे' का वाचक हो गया है। परन्तु यह सभ्य समाज द्वारा आरोपित अर्थ है, गावो मे इस शब्द का अर्थ अब भी शिश्न ही है।

(98) डलो— लोष्ट• (संज्ञा) दे. ना मा 4-7 – हिन्दी मे 'डला' या 'डली' शब्द तथा अवधी मे 'ढेला' शब्द मिट्टी के पिण्डीकृत मिट्टी के टुकडे के वाचक हैं। ये सभी शब्द 'डलो' के ही विकसित रूप होने चाहिए।

(99) डंडओ— डडी – मार्ग (संज्ञा) दे. ना. मा 4-8 – हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे डडी (जैसे पगडडी) शब्द ज्यो का त्यो छोटे एव सकरे मार्ग के लिये प्रचलित है। 'ड डओ' पद अवधी मे 'डाड' (खेतो पर बनाये गये मेड, जो

पानी रोकने के साथ ही रास्ते का काम भी देते हैं) शब्द के रूप मे विकसित देखा जा सकता है ।

(100) डाली— शाखा (सज्ञा) दे. ना. मा 4-9 – हिन्दी 'डाली' 'डाल' आदि पद इसी से सबद्ध हैं । अवधी मे 'डार' के रूप मे इसमे थोडा ध्वनि परिवर्तन हुआ है । सस्कृत के 'दल' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति प्राय: असम्भव सी है ।

(101) डुंबो— श्वपच : (सज्ञा) दे ना मा 4-11 – हिन्दी मे 'डोम' शब्द एक अस्पृश्य जाति विशेष के अर्थ मे प्रचलित देखा जा सकता है ।

(102) डोला— शिविका (सज्ञा) दे ना मा 4-11 – हिन्दी मे तथा लगभग उसकी सभी बोलियो मे 'डोला' या 'डोली' शब्द पालकी (एक वाहन विशेष) के अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं । सस्कृत 'दोला' शब्द मे भी इसे व्युत्पन्न किया जा सकता है ।

(103) ढंकणी— पिधानिका – (सज्ञा) दे ना मा 4-14 – हिन्दी 'ढक्कन' 'ढकनी' – अवधी तथा ब्रज 'ढँकना' 'ढँकनी' आदि पद ढकणी' के ही विकसित रूप हैं । इस शब्द के विकसित रूप (जैसे ढकना) सज्ञा और क्रिया दोनो ही रूपो मे प्रचलित हैं ।

(104) ढेंकी— बलाका (धान आदि कूटने का उपकरण) (सज्ञा) दे ना मा 4-15-ढेंकी'– शब्द अपने प्राचीन अर्थ मे ही आज भी हिन्दी तथा उसकी अन्य बोलियो मे प्रचलित है ।

(105) ढेंका— कूपतुला (सज्ञा) दे ना मा 4-17 – हिन्दी 'ढेंका' 'ढेकुल' या' ढेंकुली' कुए से पानी निकालने वाली चर्खी के अर्थ मे प्रचलित है ।

(106) णक्को— घ्राणम् (सज्ञा) दे ना मा 4-46 – हिन्दी 'नाक' शब्द इसी का विकसित रूप है इसे सस्कृत 'नासिका' से व्युत्पन्न करने मे पर्याप्त खीचतान करनी पडेगी ।

(107) णत्था— नासारज्जु (सज्ञा) दे. ना मा 4-17 – हिन्दी 'नाथ' 'नाथा' या 'नथान' शब्द इसी के विकसित रूप हैं । नाक छेद कर पहने जाने वाले आभूषण विशेष 'नथ' या 'नथुनी' (नथनी भी) का सम्बन्ध भी इसी शब्द से जोडा जा सकता है ।

(108) तग्गं— सूत्र (सज्ञा) दे ना मा. 5-1 – हिन्दी 'तागा' (सूत्र) शब्द इसी शब्द का विकसित रूप है ।

(109) तडफडिअ — परितश्चलितम् (विशेषरण) दे ना मा 5-9 – हिन्दी 'तडफड़ाना' क्रियापद या त्वरावाची तडफड' विशेषरण पद इसी शब्द के विकास हैं ।

(110) तहरी— पंकिला सुरा (सज्ञा) दे. ना मा 5-2 – अवधी मे 'तहरी' शब्द थोड़े अर्थ परिवर्तन के साथ प्रचलित है । यहा इसका अर्थ देर तक आग पर चढाया गया वर्तन है । शराब चू कि वहुत देर तक आग पर बर्तन चढा कर निकाली जाती है इसीलिए देर तक आग पर चढाये गये वर्तन को 'तहरी' कहा जाने लगा होगा ।

(111) तल्लं— पल्वल (सज्ञा) दे ना मा 5-19 – हिन्दी 'ताल' या तिलैया' शव्दो के मूल मे यही शब्द है ।

(112) ताला— लाजाः (भुना हुआ अनाज) (सज्ञा) दे. ना मा 5-10 – हिन्दी तथा उसकी वोलियो मे प्रचलित 'तलना' क्रियापद इसी शब्द से सबद्ध माना जा सकता है – जैसे 'तला हुआ चना' अन्तर केवल इतना ही है कि मूल 'ताला' शब्द का अर्थ 'आग मे भुनी हुई वस्तु' है जव कि तलना क्रिया तेल आदि के माध्यम से भूनने की क्रिया का द्योतन करती है ।

(113) तुलसी— सुरलता – (सज्ञा) दे ना मा 5-4 हिन्दी तथा उसकी सभी वोलियो मे 'तुलसी' शव्द एक पौधे के लिये प्रचलित है ।

(114) थरहरिअं— कपितम् (विशेषरण) दे ना मा 5-27 – हिन्दी 'थरथर' क्रिया विशेपरण (जैसे थर-थर कापना) इसी शब्द से सबद्ध किया जा सकता है ।

(115) थाहो— स्थानम् गम्भीर जलम् (सज्ञा) ना, दे, मा, 5-3 – हिन्दी 'थाह' तथा 'अथाह' दोनो ही इसी शब्द से विकसित होगे । पानी की गहराई नापकर उसकी तलीय भूमि का पता लगाना 'थाह लेना' कहलाता है । इसी प्रकार अतल गहराई वाले जल को 'अथाह' कहते हैं, इस प्रकार दोनो ही शब्द उपर्युक्त 'देश्य' शब्द से सम्वद्ध किये जा सकते हैं ।

(116) थूहो— प्रासाद शिखरम् – वल्मीकम् (सज्ञा) ना, दे, मा, 5-32, हिन्दी तथा उसकी वोलियो मे प्रचलित 'ठूह' या ढूह शब्द इसी से विकसित हुआ होगा । ऊचे स्थान के लिए तथा दीमको की बावी आदि के लिए भी 'ढूह' शब्द का व्यवहार होता है ।

(117) दुक्किरिणया— स्नेहस्थापनभाण्डम् (तेल का वर्तन) (सज्ञा) – दे ना मा 5-54 – अवधी का 'दुवहडी' शब्द इससे विकसित माना जा सकता है। यह शब्द अर्थ की दृष्टि से (अप्रयोगत्वात्) देशज भले ही हो स्वरूप की दृष्टि से तद्भव लगता है। इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत के समस्त पद (दुग्धभाण्ड) या 'दुग्धभाण्डिका' से दी जा सकती है।

(118) घरणी— भार्या (सज्ञा) दे ना मा. 5-62 – हिन्दी की बोलियो मे पत्नी के लिए 'धना' या 'धनी' शब्द प्रचलित है। राजस्थानी मे तो 'धणी' शब्द ज्यो का त्यो प्रचलित है। इस शब्द को सस्कृत के 'धन' शब्द से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। भारतीय समाज स्त्री को भी एक बहुमूल्य 'धन' मानता है।

(119) धरिणया— भार्या (संज्ञा) दे ना मा 5-58 – हिन्दी की बोलियो मे प्रचलित 'धनिया' शब्द इसी का विकसित रूप होगा।

(120) पइय— रथचक्रम् (सज्ञा) दे ना मा 6 64 – हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी बोलियो मे प्रचलित 'पहिया' शब्द इसी का विकसित रूप है। ध्वनिपरिवर्तन नाम मात्र का ह् का आगम) है।

(121) पक्खरा— तुरगसनाह (सज्ञा) दे. ना मा. 6-10 – घोड़े की पीठ पर डाली जाने वाली गद्दी को 'पाखर' कहा जाता है। यह शब्द 'आल्हाखण्ड' मे प्राय: व्यवहृत हुआ है। अवधी के अन्य ग्रामीण क्षेत्रो मे भी (बुन्देलखण्ड के अतिरिक्त) यह शब्द प्रचलित है।

(122) पलही— कपास (सज्ञा) दे ना. मा – 6-40 – ब्रजभाषा मे 'पहेला' तथा 'पेला' शब्द कपास के अर्थ मे ही व्यवहृत होते हैं।

(123) पंखुडी— पद्मम् (सज्ञा) दे ना मा. – 6-8 हिन्दी 'पखुडी' 'पखडी' तथा 'ब्रजभाषा 'पाखुडी' शब्द इसी के विकसित रूप होगे। इन सभी शब्दो को सस्कृत पक्ष शब्द से व्युत्पन्न करने मे पर्याप्त खींच तान करनी पडेगी। इस शब्द का सम्बन्ध तमिल 'पुङ्कु (Punku) शब्द से जोडा जा सकता है – संस्कृत मे भी 'पुङ्ख' शब्द तीर के परदार सिरे के अर्थ मे आता है। इसे भी तमिल की ही देन माना जा सकता है।

(124)— पडदा – पटकुटी (सज्ञा) दे ना मा 6-6 – हिन्दी 'पडाव' शब्द इसी से विकसित माना जा सकता है। इस शब्द को अरबी या फारसी का मानना उपयुक्त नहीं है– क्योंकि हेमचन्द्र के समय तक भारत मे मुसलमान आ तो

गये थे परन्तु उनकी भाषा का प्रभाव उस समय तक लगभग नही ही पडा था।

(125) पत्तल – कृश (विशेषण) दे ना मा 6-14 – हिन्दी 'पतला' शब्द इसी का विकसित रूप होगा (व्रजभाषा तथा अवधी मे 'पातर' मिलता है।

(126) पप्पीओ[1]— चातक (सज्ञा) – दे ना मा 6-12, हिन्दी 'पपीहा' अवधी 'पपिहा', 'पपिहारा' व्रजभाषा 'पपिहा', 'पपीहरा' 'पपीहा' आदि पद इसी के विकसित रूप है। इन सभी का अर्थ भी चातक ही है। ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से केवल 'ह्' का आगम और प् का लोप हुआ है।

(127) पूणी— तूललता (सज्ञा) दे. ना मा. 6-56 – हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे 'पूनी' शब्द रूई को लपेट कर बनायी हुई वस्तु विशेष के अर्थ मे प्रचलित है। यह शब्द थोडे ध्वनिपरिवर्तन (ण को न्) के साथ ज्यो का त्यो उसी अर्थ मे विकसित है। इसे कही-कही 'पिउनी' भी कहा जाता है। देशीनाममाला 6-78 मे 'पिउली' शब्द भी आया है। 'पिउनी' शब्द इसी से विकसित माना जा सकता है।

(128) पीढ— इक्षुनिपीडनयत्रम् (सज्ञा) दे ना मा. – 651 – हिन्दी का 'पीढा' या 'पिढई' शब्द इसी से व्युत्पन्न माना जा सकता है। हेमचन्द्र ने 'पीढ' शब्द एक विशिष्ट अर्थ (कोल्हू) मे प्रयुक्त किया है। हिन्दी मे वह अर्थ न होते हुए भी मूल अर्थ से विकसित अथ का सम्बन्ध दिखाया जा सकता है। ईख पेरने का कोल्हू आज भी दो लकडी के मोटे तख्तो (जिन्हे पीढा कहा जाता है) पर आधारित रहता है। अत. कोल्हू के एक आधार भाग के अर्थ मे ही यह शब्द रूढ हो गया होगा। शब्दो के अर्थ विकास की परम्परा मे यह असम्भव नही लगता। 'पीढ' शब्द को सस्कृत 'पीठ' शब्द से भी निष्पन्न किया जा सकता है – पर यहा भी पीठ पीढ ∠ पीढा आदि के विकास क्रम मे अर्थ सम्बन्धी खीचतान करनी पडेगी। सस्कृत का 'पीठ' शब्द 'स्थान' वाची है जब कि हिन्दी का पीढा शब्द लकडी की बनी हुइ वस्तु विशेष का वाचक है।

(129) पुप्फा— पितृष्वसा (सज्ञा) दे ना मा 6-52 – हिन्दी की बोलियो मे प्रचलित 'फुआ' या 'बुआ' (पिता की बहिन) शब्द इसी के विकसित रूप हैं। 'बुआ' शब्द कही-कही मा के लिए भी व्यवहृत होता है। 'बुआ' या 'फुआ' के पति को

---

1. चातक के अर्थ में बप्पीओ (दे. ना. मा 6–90) और पप्पीओ (दे ना मा 7–33) दो अन्य शब्द भी मिलते हैं।

'फुप्फा' या 'फूफा' कहा जाता है। यह शब्द 'पुप्फा' के अधिक समीप है। इसका अर्थ भी अपने मूल से जुडा हुआ है।

(130) पूरी — तन्तुवायोपकरण (सज्ञा) – दे. ना. मा 6-6 'पूरी' शब्द ज्यो का त्यो जुलाहे के उपकरण के अर्थ मे ही प्रचलित है। इसका एक अन्य रूप 'पुल्ली' भी है। यह शब्द अंग्रेजी के 'शेटेलकाक' का समानार्थी है।

(131) पेल्लिअ — पीडितम् (विशेषण) दे ना मा 6 57– हिन्दी की 'पेलना' (बलात्कारेण त्रस्त करना) क्रिया इसी शब्द से विकसित मानी जा सकती है। यद्यपि सस्कृत मे भी 'पेल्ृ' गतौ[1], क्रिया पद विद्यमान है फिर भी वहा उसका अर्थ 'चलना' है न कि त्रस्त करना। इसी प्रकार सस्कृत 'प्रेर' (प्र+ईर) का भी अर्थ 'चलना' है न कि त्रस्त करना।

(132) पोट्ट — उदर (सज्ञा) दे ना मा 6-60 हिन्दी का 'पेट' शब्द इसी से सबद्ध है। अवधी के कुछ ग्रामीण क्षेत्रो मे 'पोटा' शब्द भी प्रचलित है। ब्रज भाषा सूर कोष, पृ० 1115 पर 'पेट' शब्द की व्युत्पत्ति 'स० पेटथेला' शब्द से दी गई है जो स्वय मे ही अति हास्यास्पद है।

(133) पोत्तओ— वृषण. (संज्ञा) दे ना. मा. 6-62– हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे मानव शरीर के एक महत्वपूर्ण अग (अण्डकोश के लिये 'पोत्ता' या 'फोना' शब्द का प्रयोग होता है। निश्चित ही यह शब्द 'पोत्तओ' का ही विकसित रूप है।

(134) फसण— युक्तम् (विशेषण) दे ना मा 6-87– हिन्दी 'फसना' क्रिया पद इससे विकसित माना जा सकता है। इसे सस्कृत 'पाश' शब्द से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है– पाश फाँस 7 फँसना।

(135) फोफा— भीपयितु शब्द (सज्ञा) दे ना मा 6-86– हिन्दी के 'फोंफों' तथा 'फू फू' जैसे ध्वन्यात्मक शब्द इसी से सम्बद्ध किये जा सकते हैं। 'फुफकार' या 'फुफकारना' सभी इसी शब्द के विकसित रूप माने जा सकते हैं। देशी नाममाला की 'देश्य' शब्दावली में अनेको ध्वन्यात्मक शब्द भी सकलित हैं। ऐसे शब्द तो निश्चित ही साहित्य को लोकजीवन की देन हैं। डा० पूर्ण सिह[2] ने तो हिन्दी की सारी 'ध्वन्यात्मक शब्दावली को देश्य' कोटि मे रखा है।

---

1. सिद्धान्तकौमुदी 1–574
2. राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ।

(136) वइल्ल— वलीवर्द : (सज्ञा) दे. ना मा 6-91— हिन्दी 'वैल' अवधी 'वइल' आदि शब्द इसी के विकसित रूप होंगे। हिन्दी शब्दार्थ पारिजात (पृ 581) मे भी 'वैल' शब्द को 'देश्य' ही माना गया है— सस्कृत 'वलीवर्द' से इसकी व्युत्पत्ति देना न तो व्याकरण सम्मत ही होगा और न पारम्परिक ही।

(137) वुक्का— मुष्टि : (सज्ञा) दे. ना. मा 6-94— हिन्दी तथा उसकी सभी वोलियो मे 'वूँक' शब्द इसी अर्थ मे प्रचलित है— जैसे वूँक भर दाना अर्थात् मुट्ठी भर दाना।

(138) वुलवुला[1]—वुद्वुद (सज्ञा) दे. ना मा. 6-95—हिन्दी तथा उसकी सभी वोलियो मे 'वुलवुला' शब्द जलवुद्वुद के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। तेलगु मे भी वुलवुला' शब्द ही है। इस शब्द को भाषा के ध्वन्यात्मक शब्दो की कोटि मे भी रखा जा सकता है।

(139) वेडो[2]-नौ (सज्ञा) दे ना मा 6-95—हिन्दी का 'वेडा' शब्द इसी का विकसित रूप है। परन्तु अर्थ विस्तार की प्रक्रिया मे यह शब्द केवल 'नाव' का वाचक न रहकर नावो के समूह का अर्थ देने लगा है।

(140) वोहारी-वउहारी—सम्मार्जनी (झाडू) दे ना मा.—6-97—हिन्दी मे 'वोहारी' शब्द ही प्रचलित है। 'वुहारना' क्रिया तथा 'वुहार' (झाड-वुहार) नाम पद का सम्वन्ध भी उपर्युक्त शब्द से ही जोडा जा सकता है।

(141) भल्लू—ऋक्ष' (सज्ञा) दे. ना. मा 6-99—हिन्दी 'भालू' शब्द इसी से विकसित है। यद्यपि सस्कृत मे 'भल्लूक' पद है, पर उसकी स्वय की ही स्थिति सदिग्ध है। 'भल्लूक' शब्द जनता की सामान्य वोलचाल की भाषा से ग्रहण कर 'सस्कृत' (सस्कार किया गया,) शब्द प्रतीत होता है।

(142) भुरुकुडिम्र—उद्धूलित (विशेषण) दे ना. मा. 6-106—अवधी मे 'भुरकुड' शब्द 'धुलधूसरित' होने के अर्थ मे ही प्रचलित है। यह विशेषण और क्रिया (भुरकुडना) दोनो ही रूपो मे व्यवहृत होता है।

---

1. अग्रेजी मे भी Bubble शब्द मिलता है—'वुलवुला' शब्द से इसका पर्याप्त ध्वनि साम्य है।

2 अग्रेजी के Boat शब्द से इसकी तुलना की जा सकती है।

(143) मट्ठो—शृंगहीन (सज्ञा) दे ना मा. 6-112–हिन्दी मे 'मट्ठर' शब्द 'आलसी' 'वहानेवाज' व्यक्ति के विशेषण रूप मे व्यवहृत होता है। इसे 'मट्ठो' शब्द का ही विकसित रूप माना जा सकता है। अर्थ विकास की प्रक्रिया मे इस शब्द के मूल अर्थ मे लाक्षणिकता के कारण विकास हो गया होगा। सीग और पूँछ से रहित बैल भी 'हल मे न चलने वाला' 'आलसी' 'वहाने वाज' व मट्ठर माना जाता है। आगे चलकर इस प्रकृति के मनुष्य के लिए भी यही शब्द व्यवहृत होने लगा होगा। इस शब्द का मूल स्रोत तमिल है। वहा 'मोट्टाइ' शब्द इसी अर्थ मे मिलता है। हिन्दी का ग्रामीण बोलियो मे 'मोटाई' शब्द भी अपने परिवर्तित अर्थ (वहाने वाजी) मे देखा जा सकता है। हिन्दी का 'मोटा'[1] विशेषण-पद भी इसी से सम्बद्ध किया जा सकता है।

(144) मम्मी–मामा–मातुलानी (सज्ञा) दे ना. मा 6-112—हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे 'मामी' 'मामा' शब्द प्रचलित है। 'मम्मी' शब्द 'मामी' के रूप मे इसी अर्थ मे तथा 'मामा' शब्द मामी के पति के अर्थ मे परिवर्तित होकर प्रचलित है। 'मम्मी' शब्द भी हिन्दी मे 'मा' के अर्थ मे प्रचलित है परन्तु इसे अग्रेजी के ममी शब्द से सम्बद्ध किया जाता है। वास्तव मे यह हिन्दी को अग्रेजी की देन न होकर प्राकृतो की देन है।

(145) माहुर–शाक (सज्ञा)–दे ना. मा 6-13—हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे 'माहुर' शब्द 'जहर' के अर्थ मे प्रचलित है। सुखी व्यक्तियो के लिए 'शाक-खाना' 'जहर खाने के ही समान होता है। इसी कारण 'शाकवाची' 'माहुर' शब्द 'जहर' वाची बन गया होगा। इसका प्रयोग प्राय 'जहर-माहुर' जैसे सयुक्त पद मे ही होता है।

(146) मुन्डई असती (विशेषण) दे ना मा 6-135-ग्रामीण अवधी मे 'मुन्ही' 'मुन्हा' पद क्रमश चरित्रहीन स्त्री-पुरुषो के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। वैसे इन शब्दो का सम्बन्ध सस्कृत के 'मूल' (अवधी मूर) शब्द से जोडा जा सकता है, परन्तु मूल नक्षत्र मे पैदा हुए व्यक्ति का चरित्र-भ्रष्ट होना आवश्यक नहीं है—अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे वह दुष्ट भले ही हो पर लोक जावन मे 'छिनाल' शब्द से विभूषित नही होगा। मुन्डई' शब्द सीधे-सीधे 'छिनाल' अर्थ देता है। अत 'मुन्ही' और मुन्हा' दोनो पदों का सम्बन्ध इसी से जोड़ा जाना चाहिए।

---

1. हिंदी शब्दार्थ पारिजात पृ. 629 पर 'मोटा' शब्द 'देश्य' माना गया है।

हिन्दी शब्दार्थ पारिजात[1] मे इसे 'देशज' ही माना गया है।

(147) मेली—जनगहनि (सज्ञा) दे ना मा. 6-138—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे 'मेली' शब्द 'सगी-साथी' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। हिन्दी का 'मेला' शब्द भी इसी का विकसित रूप माना जा सकता है। यद्यपि सस्कृत मे भी 'मेलक' शब्द आया है फिर भी उसे प्राकृतो की ही देन माना जाना चाहिए।

(148) रयग्गो—मन्थानः (मथानी) (सज्ञा) दे ना मा 7-3 ब्रजभाषा मे 'रई' शब्द मथानी के अर्थ मे व्यवहृत होता है—

'फेरत कर उलटी रई नई विलोवन हारि। विहारी।

ब्रजभाषा सूरकोष पृ० 1440 पर 'रई' को सस्कृत 'रय' शब्द से व्युत्पन्न माना गया है। ध्वन्यात्मक विकास की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति भले ही ठीक हो पर भाषागत शब्दो के विकास सिद्धान्तो तथा उनके प्रयोगगत वातावरण को ध्यान मे रखते हुए 'रई' शब्द को 'देश्य' ही माना जाना चाहिए। प्रत्येक शब्द का सबध सस्कृत से जोडने की मनोवृत्ति एक स्वस्थ मनोवृत्ति कदापि नही कही जा सकती।

(149) रिगिअ—भ्रमण (सज्ञा) दे ना मा –7-6–हिन्दी की 'रेगना' क्रिया का सम्बन्ध इससे जोडा जा सकता है। यह क्रियापद 'पेट के बल रगड कर चलने के अर्थ मे हिन्दी की सभी बोलियो मे भी प्रचलित है। अवधी के कुछ क्षेत्रो मे यह 'मनुष्य के चलने' का भी वाचक है। ब्र० सू० को. पृ. 1482 पर इसे सस्कृत के 'रिङ्गण' पद से व्युत्पन्न किया गया है। स्वय 'रिङ्गण' भी 'रे' और 'गम्' दो धातुओ के मेल से बना है। यहा एक बात स्पष्ट रूप से कह देना उपयुक्त होगा। सामान्य जनजीवन मे प्रचलित शब्दावली का अधिकाश भाग व्याकरण से व्युत्पन्न नही किया जा सकता। किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति देने के पहले उस शब्द के प्रयोग से सम्बन्धित वातावरण को ध्यान मे रखना आवश्यक होता है। अशिक्षित समाज व्याकरण एव साहित्य का क्रम परम्परा का अधिक अनुसरण न करता है। ऐसी स्थिति मे भाषा के सभी शब्दो को व्याकरण के बने बनाये ढाचे मे फिट करने का प्रयत्न सराहनीय नही कहा जा सकता।

(150) रिद्ध—पक्व (विशेषण) दे ना मा 7-6—हिन्दी 'रीधना' क्रिया पकाने के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। इसका सम्बन्ध उपर्युक्त शब्द से ही होना चाहिए। सस्कृत 'ऋद्धि' (बढती) शब्द से इसकी व्युत्पत्ति सम्भव नही है।

---

1 वही, पृ 618

(151) रुन्दो-विपुल —(विशेषण) दे. ना मा 7-14–अवधी मे 'रिन्द' पद हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त व्यक्ति के विशेषण रूप मे व्यवहृत होता है। अत्यल्प ध्वनि-परिवर्तन (उ का इ) के साथ इस शब्द का सम्बन्ध उपर्युक्त शब्द से जोडा जा सकता है।

(152) रूअ-तूल (सज्ञा) दे ना मा 7-9–हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे प्रचलित 'रुई' शब्द इसी का विकसित रूप माना जा सकता है।

(153) रोट्ट —तन्दुलपिष्टम् (चावल का आटा) (सज्ञा) दे ना मा 7-11 हिन्दी 'रोटी' शब्द इसी का विकसित रूप होगा। पहले चावल के आटे का वाचक यह शब्द अपनी विकसितावस्था मे उससे बनी हुई 'रोटी' शब्द का वाचक हो गया होगा। अवधी के कुछ क्षेत्रो मे 'रोट' शब्द भी प्रचलित है। तमलि मे भी 'रोट्टि' शब्द मिलता है। पी० वी० रामानुजस्वामी[1] रोट्ट को तद्भव मानते हुए इसे संस्कृत के 'रुच्य' शब्द से व्युत्पन्न करते है, पर यह व्युत्पत्ति उपयुक्त नही है।

(154) वक्खारय–रतिगृहम् (सज्ञा) दे. ना मा. 7-45—अवधी मे 'वखरी' शब्द धनी लोगो के घर के लिए प्रयुक्त होता है। यह शब्द निश्चित ही 'वक्खारय' का ही विकसित रूप है। अवधी मे ही 'वखार' शब्द 'अनाज' रखने की कोठरी के अर्थ मे भी आता है। इसका भी सम्बन्ध उपर्युक्त शब्द से जोडा जा सकता है।

(155) वड्डो-महान (विशेषण) दे ना. मा 7-29–व्रजभाषा 'वडो' हिन्दी 'वडा' अवधी 'वड' आदि शब्द 'वड्डो' के ही विकसित रूप हैं। अर्थ भी वही है। व्रजभाषा सूर कोष[2] मे इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत के 'वर्द्धन' शब्द से दी गयी है। इससे हिन्दी का 'वढना' क्रिया पद निष्पन्न किया जा सकता है (वर्द्धन7 वड्ढण=7 वढना) पर 'वडा' पद किसी प्रकार भी नही वन सकता।

(156) वड्ढइओ–चर्मकार (सज्ञा) दे. ना मा 7-44—हिन्दी का जातिवाची 'वढई' शब्द का विकसित रूप माना जा सकता है। यद्यपि यहा 'वढई' का अर्थ 'चर्मकार' न होकर 'लकडी' का कार्य करने वाली जाति विशेष है फिर भी इसमे कोई अन्तर नही पडता। भारत की जाति व्यवस्था प्राय कर्म के आधार पर ही की गयी है। कर्म की उच्चता और नीचता के आधार पर ही जाति की

---

1. दे ना मा–रामानुज, पृ 73
2 सू व्र को, पृ 1180

भी उच्चता और नीचता पर आधारित रही है। हो सकता है कि किसी समय एक ही वर्ग के लोग लकड़ी और चमड़े का काम साथ ही करते रहे हो, और आगे चलकर कार्य विशेष के आधार पर दोनो के दो वर्ग बन गये हो। भारतीय वर्ण व्यवस्था मे चर्मकार और बढई दोनो ही को परगणित जाति का माना गया है। इस प्रकार के शब्दो का ऐतिहासिक अध्ययन भारतीय जाति व्यवस्था पर भी अच्छा प्रकाश डाल सकता है। बृ० अ भा० कोश[1] मे 'वढई' शब्द को संस्कृत के 'वर्द्धकि' शब्द से निष्पन्न किया गया है—वर्द्धकि= वड्ढइ+ वढई। इस दृष्टि से यह शब्द भले ही तद्भव हो, पर उसका सांस्कृतिक परिवेश इसे 'देश्य' ही सिद्ध करता है।

(157) वद्धिओ—पण्ड (हिजडा) (सज्ञा)-दे ना मा. 7-37-हिन्दी तथा उसकी अधिकतर बोलियो मे हिजडे के लिए 'वाधिया' विशेषण पद प्रयुक्त होता है। संस्कृत 'वधित' से भी इसे व्युत्पन्न किया जा सकता है।

(158) वायारो—शिशिरवात (ठण्डी हवा) (सज्ञा) दे ना मा 7-56-हिन्दी मे 'वयार' शब्द ठण्डी हवा के ही अर्थ मे प्रयुक्त होता है। प्राय इसे अरबी-फारसी की देन समझा जाता रहा है। वास्तव मे इसका सम्बन्ध संस्कृत 'वायु' से होना चाहिए। यही शब्द जनजीवन मे 'वयार' के रूप मे विकृत होकर प्रचलित हुआ होगा।

(159) विआरिआ—पूर्वाह्ण भोजन (सज्ञा) दे ना मा 7-71 अवधी मे 'बियारी' शब्द कलेऊ के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

(160) वोज्झओ—भार (सज्ञा) दे, ना मा 7-80—हिन्दी 'बोझ' या 'बोझा' पद इसी का विकसित रूप होना चाहिए।

(161) सिलओ—उञ्छ (सज्ञा) दे ना मा 8-30-हिन्दी 'सिला' या 'सीला' शब्द कटाई के बाद खेतो मे पडे हुए अन्न' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यह शब्द निश्चित ही 'सिलओ' का ही विकसित रूप है।

(162) सूरणो कन्द (सज्ञा) दे ना मा 8-41 – हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी बोलियो मे 'सूरन' पद बरसात मे जमीन के अन्दर उगने वाली कन्द के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। इसको कच्चा खाने पर मुह मे कनकनाहट होने लगती है।

(163) हट्ठमहट्ठो—नीरोग (विशेषण) दे ना मा. 8-65 –हिन्दी 'हट्टाकट्टा' के मूल मे यह शब्द देखा जा सकता है।

---

1. बृ- अ भा को, पृ 1180

(164) हड्डं—अस्थि : (संज्ञा) दे. ना. मा. 8–59 – हिन्दी 'हड्डी' या 'हाड' के रूप में इस शब्द का विकास देखा जा सकता है।

(165) हरिआली—दूर्वा (संज्ञा) दे ना मा. 8–64 –हिन्दी 'हरियाली' के रूप में स्वल्प ध्वनिपरिवर्तन (अ/य) के साथ इस शब्द को विकसित देखा जा सकता है। संस्कृत 'हरियाली' से भी इसको व्युत्पन्न किया जा सकता है।

(166) हलबोली—वाचाल . (विशेषण) दे ना, मा 8–64 –अवधी में 'हलबुलहा' शब्द जल्दी जल्दी बोलने वाले तथा शीघ्र कार्य करने वाले दोनों ही के लिए प्रयुक्त होता है। यह उपर्युक्त शब्द का ही विकसित रूप कहा जा सकता है।

(167) हिट्ठो—आकुल : (विशेष) दे ना. मा. 8–67 –अवधी (हिट्ठी) तथा हिन्दी 'हठी' के रूप में इस शब्द को विकसित देखा जा सकता है। संस्कृत 'हठ' शब्द से व्युत्पन्न करने पर यह शब्द तद्भव होगा।

(168) हुलिग्रं—शीघ्रम (विशेषण) दे. ना. मा 8–59 – 'अवधी में हुलना' क्रिया तेज चलने या कोई कार्य शीघ्र करने के लिए या मारने 'के अर्थ में व्यवहृत होता है। उपर्युक्त शब्द से ही इसका सम्बन्ध होना चाहिए।

निष्कर्ष—

ऊपर देशीनाममाला के कुछ शब्दों का हिन्दी तथा उसकी बोलियों में विकास प्रदर्शित किया गया। इस कोश ग्रन्थ के और भी अनेकों शब्द अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं और उनकी बोलियों में विकसित दिखाये जा सकते हैं। यदि इस विषय के अधिकारी विद्वान इस ओर ध्यान दें तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं। हिन्दी से भी कहीं अधिक मराठी, गुजराती तथा दक्षिणी भाषाओं कन्नड आदि की शब्द सम्पत्ति का व्युत्पत्तिपरक अध्ययन इस कोश के शब्दों के सहारे सरलतापूर्वक किया जा सकता है। देशीनाममाला की देश शब्दावली का अधिकांश भाग आज की ग्रामीण बोलियों में विकसित होकर प्रचलित है, भूल से इसे कहीं संस्कृत से सम्बद्ध बता दिया जाता है तो कहीं अन्य आगन्तुक विदेशी भाषाओं से। वास्तव में भारत में जितनी भी प्रचलित भाषाएं हैं सभी में परम्परा से चले आये शब्दों की भरमार है। इन शब्दों की स्थिति का पता मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं की शब्दावली के अवगाहन से ही लग सकता है, क्योंकि कम से कम भारतीय भाषाओं के बीच मध्यकालीन आर्य भाषाएं ही ऐसी भाषाएं हैं जो लोक-जीवन के अधिक निकट रही हैं इसीलिए इनकी शब्द सम्पत्ति भी पारम्परिक प्रयोगों से भरी हुई है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस अथाह सम्पत्ति के अवगाहन का सफल प्रयास

[illegible] तत्सम, तद्भव और देश्य¹ सभी प्रकार के शब्दों का विवेचन स्पष्ट [illegible] यदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं मे विकसित [illegible] जाये तो अनेकों महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते है। [illegible] प्रयास अत्यन्त सीमित है। देशीनामाला के नामपदो [illegible] विद्वान् यदि समवेत रूप से करें तभी इसकी सारी [illegible] प्रस्तुत किये गये अध्ययन मे निहित दृष्टि के [illegible] देना अनुपयुक्त न होगा।

[illegible] ऊपर प्रस्तुत किया गया है यदि ध्यान मे देखा [illegible] 'शब्दों' ही है। इन शब्दों के अध्ययन के बीच यह [illegible] कि जिन परिस्थिति और सांस्कृतिक वातावरण के बीच [illegible], जैसी ही परिस्थिति और वैसे ही वातावरण [illegible]। यह बात अपने आप इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि भारतीय आर्य भाषाओं मे बहुत से ऐसे तत्त्व है जिन्हे शिष्ट साहित्य ने ग्रहण [illegible] अपनी शिष्टता की मुहर लगा दी और उन्हे हम देख कर भी अनदेखा [illegible]।

———

1. देशीनाममाला मे हेमचन्द्र ने मात्र 'देश्य' कहे जाने वाले संज्ञापदों का ही विवरण दिया है। 'देश्य' क्रियाओं का विवेचन उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण मे धात्वादेश के रूप मे किया है। इस प्रकार उन्होंने प्राकृतों की समस्त 'देश्य' शब्दावली का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर दिया है।

# 7

# देशीनाममाला का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

देशीनाममाला मे संग्रहीत शब्दावली अपनी सांस्कृतिक महत्ता की दृष्टि से जितनी विलक्षण है उतनी ही भाषा शास्त्रीय दृष्टि से भी। 'देश्य' शब्दो की प्रकृति के विषय मे पिछले अध्याय मे बहुत कहा जा चुका है। यहा उन शब्दो का ध्वन्यात्मक रूपात्मक एव अर्थगत अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा। भाषाशास्त्रीय अध्ययन के पूर्व यहां एक बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है—देशीनाममाला के शब्द प्राकृत के है या उसकी विकसितावस्था अपभ्रंश के हैं। यह कहना अत्यन्त कठिन है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना अपने अपभ्रंश व्याकरण के पूरक ग्रन्थ के रूप मे की थी। अत इन शब्दो को अपभ्रंश का होना चाहिए, परन्तु इनमे निहित प्राकृत भाषा की विशेषताएं इस मान्यता से परे सकेत करती हैं। इतना ही नहीं ये शब्द साहित्यिक प्राकृतो से भी अपना स्पष्ट भेद प्रदर्शित करते हैं। क्योंकि प्राकृतो मे होने वाले परिवर्तनो से ये सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी स्थिति मे इन शब्दो का सम्बन्ध किसी भाषा की विशेष स्थिति से जोड पाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। देशीनाममाला की शब्दावली को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागो मे बाटा जा सकता है—(1) तत्सम, (2) तद्भव (3) देशज। तत्सम शब्द ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक गठन की दृष्टि से सस्कृत से मिलते-जुलते हैं, तद्भव शब्द वर्णविकार, लोप, आगम आदि नियमो से युक्त होकर प्राकृत शब्दावली के अंग हैं परन्तु देश्य कहे जाने वाले शब्दो को प्रकृति प्रत्यय हीनता के कारण किसी भी भाषा से जोडा या व्युत्पन्न नही किया जा सकता है। डा नेमिचन्द्र शास्त्री[1]

1. 'इत्यय देशीशब्द सग्रह. स्वोपज्ञशब्दानुशासनाष्टमाध्यायशेषलेशो रत्नावलीनामाचार्य हेमचन्द्रेण विरचित इति भद्रम् ॥

—देशीनाममाला 8–77 की वृत्ति

ऐसे शब्दो को 'निपात' कहते हैं । देशीनाममाला की शब्दावली के बीच लगभग 600 शब्द ऐसे हैं जिन्हें सभी दृष्टियो से देश्य कहा जा सकता है । आगे भाषाशास्त्रीय दृष्टि से इन तीनो प्रकार के शब्दो का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

ध्वनिग्रामिक विवेचन—

आधुनिक भाषावैज्ञानिको की दृष्टि मे किसी भी भाषा मे पाये जाने वाले ध्वनिग्रामो के दो विभेद होते हैं—

(1) खण्डीय ध्वनिग्राम ।
(2) खण्डेतर ध्वनिग्राम ।

खण्डीय ध्वनिग्रामो के अन्तर्गत किसी भाषा-विशेष मे प्रयुक्त स्वरों और व्यजनो का विवेचन किया जाता है । खण्डेतर ध्वनिग्रामो मे अनुस्वार विवृति, सुर, आघात, वल आदि की गणना की जाती है । इस विभाजन के आधार पर देशी नाममाला मे सकलित शब्दो का ध्वन्यात्मक विवेचन निम्न प्रकार है ।

खण्डीय ध्वनिग्राम—

(1) स्वर ध्वनिग्राम–देशीनाममाला के शब्दों मे कुल 8[1] स्वर ध्वनिग्राम हैं—

अ, आ
इ, ई
उ, ऊ
ए, ओ
(ए) (ओ)

ह्रस्व ए (ए.) तथा ह्रस्व ओ (ओ) को मिला देने से कुल 10 स्वर हो जाते हैं, परन्तु इन्हे अलग स्वर ध्वनिग्राम न मानकर क्रमश 'ए' तथा 'ओ' का सस्वन माना जाना चाहिए । इनके लिए अलग से कोई लिपिचिह्न भी प्रयुक्त नही है ।

---

1. भरत ना. शा. (17–7) मे प्राकृतो में प्रा. भा. आ. 14 स्वरध्वनियो के स्थान पर 8 की ही स्थिति स्वीकार करते हैं । हेमचन्द्र (8–1–1 की वृत्ति) भी यही स्वीकार करते हैं । त्रिविक्रम की 1–1–1 परवृत्ति लक्ष्मीधरकृतचन्द्रिका तथा अन्य प्राकृत व्याकरणों में भी कुल 8 स्वरो को ही स्वीकार किया गया है ।

स्वर ध्वनिग्रामो के प्रयोग की दृष्टि मे देशीनाममाला पूर्णरूपेण प्राकृत स्वरो का अनुसरण करती है।

प्राप्य स्वर ध्वनिग्रामो की प्रकृति—

अ—कण्ठस्थानीय, अवृत्तमुखी, मध्य तथा विवृत स्वर है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रधान स्वर ध्वनिग्राम 'अ' जिह्वाग्र से उच्चारित होता है अतः यह अग्रस्वर है। सस्कृत के प्रसिद्ध वैय्याकरण पाणिनि ने 'अ' को संवृत स्वर बताया है (अ, अ सूत्र मे)। सस्कृत मे वह भले ही सवृत रहा हो। म भा आ मे यह विवृत हो गया और आज भी अवधी-भोजपुरी आदि बोलियो मे विवृत ही है। दे. ना. मा. मे भी यह 'विवृत' स्वर ही है।

(2) जिस प्रकार प्राकृत तथा अपभ्र श मे मध्यवर्ती तथा अन्त्य 'अ' विविध स्वरो और व्यजनो का स्थानीय होकर आया है, उसी प्रकार इसका प्रयोग दे ना. मा की शब्दावली मे भी हुआ है—जैसे अक्कदो ∠ आक्रन्द (दे. 1-15) उज्झसिअ ∠ अभ्यमित (दे 1।30) अच्छभल्लो ∠ अक्षभल्ल (दे 1।37)।

आ—कण्ठस्थानीय, स्वल्पवृत्तमुखी शिथिल, पश्च तथा विवृत स्वर है। इसके उच्चारण मे जिह्वापश्च के प्रयोग होने के साथ ही मुख अधिक खुलता है। देशीनाममाला की शब्दावली मे यह शब्द अधिकाशत. अपने मूल रूप मे ही व्यवहृत हुआ है। कही कहीं वह 'अ' के रूप मे तथा कही 'इ' के रूप मे भी परिवर्तित मिलता है। ऐसा प्राय इस कोश के तद्भव शब्दो मे ही हुआ है, देश्य शब्दो मे इसकी अपनी सही स्थिति विद्यमान देखी जा सकती है।

इ—तालव्य, अवृत्तमुखी, अग्र तथा सवृत स्वर है। दे ना. मा की शब्दावली मे यह स्वर ध्वनिग्राम अपने शुद्ध और परिवर्तित दोनो ही रूपो मे मिलता है। शुद्ध रूप मे इसकी आद्य, मध्य और अन्त्य तीनो ही स्थितियां मिलती हैं, विशेषकर 'देश्य' शब्दो मे। परिवर्तित रूप मे कही यह ऐ ∠ इ (इरावो 7 ऐरावत्—दे 1-60) कहीं अ 7 इ (उसुक्खिअ ∠ उत्शुष्क—दे 1।42), कही ई 7 इ, (इण्हि ∠ इदानी दे 1।79 कहीं उ 7 इ (पिच्छो ∠ पुच्छ—दे 6–37) कही ऋ 7 इ (मिग ∠ मृङ्गम् दे 6–104) आदि रूपो मे मिलता है।

ई—इसमे और 'इ' मे उच्चारण की मात्रा भर का भेद है। उच्चारण मे दीर्घ होने के अतिरिक्त और सभी विशेषताएं 'इ' जैसी ही हैं। दे ना मा के देश्य शब्दों मे इसकी आद्य, मध्य और अन्त्य तीनों ही स्थितिया अपनी मूल विशेषताओ मे संयुक्त हैं तद्भव शब्दो मे यह कहीं इ 7 ई (सयली ∠ शकलिन् दे. 8-11) तथा

दिवाकित्ति < दिवाकीर्ति दे० 5–41 रूप मे भी मिलता है।

उ—ओष्ठ्य स्थानीय, पूर्णवृत्तमुखी पश्च तथा संवृत स्वर है। दे ना मा के शब्दो मे इसका आद्य, मध्य और अन्त्य तीनो रूपो मे प्रयोग हुआ है। इसकी अन्त्य स्थिति के प्रयोग बहुत थोडे है, विशेष रूप से 5 देश्य शब्दो, आत, दिवत, मउ, चांनु और हणु मे ही इसकी अन्त्य स्थिति मिलती है। ओ7उ के प्रयोग बहुत मिले है—जैसे—कुरुल्ल < कुरोल्ल (दे. 2–63)। ओ7उ (कुहुक < कौतुक दे.–2।33) ऋ7उ (उ अ अ < ऋजुक' दे 1।88) आदि प्रयोग भी प्राप्त है।

'उ' स्वर ध्वनिग्राम की स्थिति को देखते हुए, दे ना मा के शब्दो का सम्बन्ध 'उकार बहुला' अपभ्रंश से जोड पाना सर्वथा असम्भव सा लगता है। अपभ्रंश मे अकारान्त पुल्लिग शब्दो मे विसर्ग के स्थान पर प्राय 'उ' का प्रयोग हुआ है प्राकृतो मे 'ओ' का प्रयोग होता रहा है। देशीनाममाला के पुल्लिग शब्द अधिकाश ओकारान्त है, विसर्ग स्थानीय 'उ' का सर्वथा अभाव है। इसका विस्तृत विवेचन आगे यथा स्थान किया जायेगा।

ऊ—दीर्घ उच्चारण के अतिरिक्त इसकी सारी विशेषताएँ 'उ' जैसी ही है। दे ना मा के शब्दो मे शुद्ध ऊ' का प्रयोग आदि मध्य और अन्त्य तीनो ही स्थितियो मे हुआ है। तद्भव शब्दो मे इसके परिवर्तित रूप भी मिलते हैं। कही ऊ< अ (ऊसत्थो < अस्वस्थ. दे 1–143) कही ऊ< आ (कूसारो < कासारो दे 2–44) कही ऊ <व (ऊसलिअ < उल्लसित दे 1–141) आदि।

(ए) कण्ठतालव्य, अवृत्तमुखी शिथिल, अग्र, अर्धविवृत स्वर है। म का भा आर्यभाषाओ मे इस स्वर ध्वनिग्राम की स्थिति लगभग सभी विद्वानो ने स्वीकार की है। इसके लिए कोई अलग लिपि चिह्न न तो पहले ही था और न आज ही है। इसे 'ए' स्वर ध्वनिग्राम का ही एक सस्वन (ए) कहा जा सकता है। दे. ना मा के शब्दो मे ऐसे किसी भी स्वर ध्वनिगाम का उल्लेख नही मिलता फिर भी सयुक्ताक्षरो के पहले का 'ए' स्वरग्राम (ए) के रूप मे उच्चरित होता हैं[1]—जैसे—

---

1 पिशेल ने सकेत किया है कि प्राकृत काल मे ह्रस्व ए, ओ ध्वनिया थी (प्रा व्या 84।119) इन ए ओ का विकास ऐ, ओ इ, उ, कई स्रोतो से हुआ देखा जाता है तथा सयुक्त व्यजन ध्वनि के पूर्व ह्रस्व ए, ओ नियत रूप से ह्रस्व (विवृत) उच्चरित होते हैं। डा टगारे ने भी अपभ्रशकाल मे ह्रस्व ए ओ की सत्ता मानी है। (पृ 39) तथा इस बात का भी सकेत किया है कि उत्तरी हस्तलेखो में प्राय इन्हे 'इ' 'उ' के रूप मे लिखा जाता है। डा. याकोबी ने भी इसका उल्लेख 'भविसयत्त कहा' की भूमिका मे किया है।

एक्कघरिल्लो (एक्कघरिल्लो (दे 1–146) । दे. ना मा. के शब्दों मे आदिम स्थिति मे (ए) सस्वन का प्रयोग 8 शब्दो मे हुआ है। इसके मध्यस्थिति वाले प्रयोग तो अनेक हैं, हा अन्त्य प्रयोगों का सर्वथा अभाव है। इस अभाव का सबसे बड़ा कारण यह है कि दे ना. मा. के शब्द निर्विभक्तिक रूप मे सकलित हैं।

ए—कण्ठतालव्य अवृत्तमुखी, शिथिल, अग्र, अर्ध संवृत स्वर हैं। दे ना. मा. के शब्दो मे इसका प्रयोग आद्य और मध्य स्थितियो मे बहुश हुआ है, अन्त्य प्रयोग केवल एक शब्द (पु डे—दे. 6–52) मे मिलता है। प्रा. भा आ के 'ऐं' स्वर ध्वनिग्राम के स्थान पर भी सर्वत्र इसका व्यवहार हुआ है।[1] कहीं-कही यह 'इ' के गुण स्वर के रूप मे भी व्यवहृत है—जैसे एराणी ८ इन्द्राणी–दे ना. 1–147।

(ओ)—कण्ठ्योष्ठ्य, वृत्तमुखी, शिथिल, पश्च तथा अर्ध विवृत स्वर है। यह भी 'ओ' स्वर ध्वनिग्राम के एक सस्वन (ओ) के रूप मे व्यवहृत हुआ है। (ए) की भाँति इसका भी कोई लिपिचिह्न नही है। सयुक्ताक्षरो के पहले का 'ओ' स्वर ध्वनिग्राम ही (ओ) के रूप मे उच्चरित होता है। दे. ना मा के शब्दो मे यह 'सस्वन' आद्य और मध्य दो ही स्थितियो मे प्रयुक्त हुआ है। अन्त्य स्थिति मे यह भी प्रयुक्त नहीं है।[2]

'ओ—कण्ठ्योष्ठ्य, वृत्तमुखी, शिथिल, पश्च तथा अर्धविवृत स्वर हैं। दे. ना मा के शब्दो में इसके आद्य मध्य और अन्त्य तीनो ही स्थितियो के प्रयोग मिलते हैं। विशेपतया 'देश्य' शब्दो मे। तद्भव शब्दों मे यह कहीं उ के स्थान पर (उत ओोति से) तथा कहीं औ के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है।

देशीनाममाला के शब्दो में इन्हीं (8) (ए) (ओ) की गणना कर लेने पर (10) स्वर ध्वनिग्रामो का प्रयोग हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के शेष स्वर ध्वनिग्राम ऋ, लृ, ऐ, औ, अं, अः आदि का प्रयोग कही भी नहीं हुआ है। इन सभी का प्रयोग तो प्राकृतो की प्रारभिक अवस्था से ही समाप्त हो चला था। भरत

1. एलविलो ८ ऐलविलो – दे 1–148 ॥

2 हेमचन्द्र अपने अपभ्रंश व्याकरण (4–410) में ह्रस्व 'ओ (ओ) का अपभ्रंश में प्रयोग स्वीकार करते हुए 'तसु हउं कलि-जुगि दुल्लहो' उदाहरण भी देते है। देशीना मे (ह्रस्व ओ (ओ) के अन्त्य प्रयोग का न प्राप्त होना भी) इसके शब्दो को ,अपभ्रंश भाषा से अलग ही रखता है। इस कोष के पुल्लिंग शब्द प्राय 'ओकारान्त' है, न तो कहीं इन शब्दो म ओ' का अन्त्य उच्चारण ह्रस्व होता है और न ही इन शब्दो के प्रयोग स्वरूपदी तथा 'काव्यात्मक' गाथाओं में ही। ऐसी स्थिति मे इन शब्दो की प्रकृति इन्हे अपभ्रंश भाषा से पर्याप्त दूरी पर रखती है।

ने अपने नाट्यशास्त्र मे प्राकृतो मे इन सभी स्वरो के अप्रयोग की स्पष्ट चर्चा की है —

ए आ आरपराणि अ अ मारपर अ पाअए णत्थि ।

× × × ना. शा. 17–7 ॥

यही मत हेमचन्द्र (सि हे 8।1।1 की वृत्ति) त्रिविक्रम (1।1।1 की वृत्ति) आदि का भी है। प्राचीन आर्यभाषा के इन (ऋ, लृ, ऐ, औ, अ, अ) छः स्वरों का समाहार, प्राकृतो मे 8 प्रधान स्वरो (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ) के अन्तर्गत ही कर लिया गया। इन स्वरो की स्थिति किसी भी प्राकृत व्याकरणकार ने नहीं स्वीकार की। जब साहित्यिक प्राकृतो मे ही इनकी स्थिति नही रही तो लोकजीवन की बोलचाल की भाषा मे व्यवहृत होने वाले देश्य शब्दो मे इनकी स्थिति का प्रश्न ही नही उठता। प्राकृत भाषाओ के अनुकूल ही देश्य शब्दो मे भी इन स्वरो का परिवर्तित रूप प्राप्त होता है। इनमे से प्रत्येक का वर्ण विकार निम्नलिखित रूपो मे प्राप्त है।

ऋ—

1 ऋ > अ—अच्छभल्लो < ऋक्षभल्ल (दे 1–37), अवत्तय < अवृत (दे० 1–34)।

2. ऋ > इ — भिंग < भृङ्गम् (दे 1–104), भिंगारी < भृंगारी (दे 1–105)। उअचिअ < पुरस्कृत (दे. 1–107)।

3. ऋ > उ—उज्जुअ < ऋजु (दे 1–88), उड्डणो < वृद्ध, (दे 1–23)।

4 ऋ > रि—रिच्छोली < ऋक्षालि (दे 7–7), रिद्धी < ऋद्धि (दे 7–6)

5 ऋ > अर—करमरी < करमृदित (दे 1–15)

6 ऋ > ए—यह परिवर्तन देशीनाममाला के शब्दो मे बिल्कुल नही है।

प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ मे 'ऋ' के प्रयोग को लेकर विद्वानो मे पर्याप्त विवाद है। 'ऋ' का उच्चारण प्राकृतो मे लगभग समाप्त सा हो गया, इसीलिए व्याकरणकारो ने प्राकृत वर्णमाला मे इसकी गणना भी नही की। अपभ्रंश मे भी यही स्थिति रही। अपभ्रंशकाल मे कही कही लोकभाषाओ मे इसका उच्चारण रह गया था इसकी सूचना हेमचन्द्र ने 8।4।329 तणु, और सुकिदु और सुकृदु के

उदाहरणों मे तथा दो अपभ्रंश दोहों मे 'गृहृणइ'[1] और 'घृण'[2] के प्रयोग के रूप में दिया है। रामतर्कवागीश के अनुसार—सिन्धु देश की वाचड अपभ्रंश मे मृत्यादिगण मे अन्यत्र 'ऋ' का उच्चारण होता है।[3] इन्ही तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए पिशेल ने यह स्वीकार किया कि 'ऋ' का उच्चारण 'अपभ्रंश प्राकृत मे रह गया है। अधिकाश अपभ्रंश बोलियो मे सभी प्राकृत आचार्यों का नियम है, 'ऋ' नहीं होना।[4] निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रादेशिक भाषाओ को छोडकर शेप म. भा आ मे 'ऋ' की स्थिति नहीं रही। ग्रामीण बोलियो मे तो इसे निश्चित ही स्थान नहीं मिला। दे. ना मा. की शब्दावली इन्हीं ग्रामीण बोलियो से सबद्ध है, अत मे 'ऋ' का सर्वथा अभाव स्वाभाविक ही है।

ऌ का प्रयोग—

'ऌ' स्वर का प्रयोग वैदिक काल से ही विरल रहा है। इसका प्रयोग केवल एक ही धातु 'क्लृपि' मे है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार पद के आदि और अन्त मे ऌकार स्वरो मे परिगणित नहीं होता।"[5] पाणिनि ने अपने माहेश्वर सूत्र मे 'ऌ' की गणना की है ऋ ऌ क्) परन्तु महाभाष्यकार पतजलि स्वीकार करते हैं कि इसका प्रयोग क्षेत्र स्वल्पतर है जो प्रयोग है भी वह मात्र 'क्लृपि' धातु तक सीमित है।[6] यहीं पर वे यह भी बताते हैं कि पाणिनि ने 'ऌ' का प्रयोग यदृच्छा अशक्तिज अनुकरण और प्लुतादि के लिए ही किया होगा। प्राकृत व्याकरणकारो ने 'ऌ' का 'इलि' आदेश ही स्वीकार किया है। क्रमदीश्वर (5–16) अपभ्रंश मे 'क्लृप्त' का 'कत्त' रूप स्वीकार करते हैं। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ मे 'ऌ' स्वर नहीं रहा। इसी के अनुरूप दे ना मा. के शब्दो मे भी ऌ का प्रयोग कहीं नहीं मिलता।

ऐ—ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृतो में 'ऐ' का उच्चारण 'ए' या 'इ' और 'अइ' रूप मे मिलता है। यही स्थिति अपभ्रंश मे भी है दे ना. मा. की शब्दावली 'ऐ' के इसी ह्रस्वीकृत रूप को स्वीकार करती है।

---

1. व व्या 8।4।336
2. वही–8।4।350
3. मृ ग्रापरेग र–ऋनाविकृत प्रक्रिया (3।3।2)
4. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण–पिशेल, पृ 96
5. ऋ प्रा 1,9
6. महाभाष्यात्मोदान्चैव प्रयोग विषय । यच्चापि प्रयोग विषय सोऽपि क्लृपिस्थस्यैव । म भा द्वि आ ॥

ऐ 7 ए या 'इ'—एलविलो ८ऐलविलो (दे 1।148) गोलक्छो ८नैर्लक्ष: (दे 4।44) 'वैग्रल्ल ८वैकल्य (दे 8।75) वेलुलिग्र ८वेदूर्य (दे. 7।77), सेलूसो ८शैलप. (दे 8।21) । इरावो ८ऐरावत (दे 1।80)

ऐ 7 अउ –सइरवमहो ८स्वैरवृषभ (दे 8।21) पूरे कोश मे यही एक शब्द प्राप्त है ।

औ 'ऐ' की भाति 'औ' भी ह्रस्वीकृत रूप मे 'ओ' या 'उ' तथा 'अउ' के रूप मे प्राप्त होता है ।

औ7ओ या उ—कोमुई ८कौमुदी (2।48) कोलिग्रो ८कौलिक (दे 2।65) कुडु ८कौतुक (2–33) ।

औ7अउ - पउढ ८प्रौटम् (दे 6।4) । 'औ' का 'अउ' रूप मे विकार इस कोश के शब्दो मे नही प्राप्त होता । जिन शब्दो मे यह विकार है भी वहा वह अन्य स्वरो का स्थानीय है ।

स्वर ध्वनिग्राम वितरण

ऊपर दे ना मा मे प्राप्त स्वर ध्वनिग्रामो की प्रकृति का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है । अब इन खण्डीय ध्वनिग्रामो का शब्द की आदिम माध्यमिक और अन्तिम तीनो स्थितियो मे प्रयोगो का विवेचन कर लेना भी समीचीन होगा । सध्वनियो सहित इनके उदाहरण निम्न प्रकार हैं ।

| स्वरध्वनिग्राम | सध्वनि | आदिम–सन्दर्भ | मध्य-सन्दर्भ | अन्तिम स्थिति | सन्दर्भ |
|---|---|---|---|---|---|
| अ | अ | अइरो (दे 1-16) | कालवट्ठ (दे 2-28) | ओग्गाल<br>ओद्दाल | (दे 1-15) |
| | अ | अकेल्ली (दे 1-7) | अंदसणो (दे 1-29) | अद्धविग्वअ | (1-34) |
| आ | आ | अफरो (1-63) | अवयारो (1-32) | आडाडा | (1-64) |
| | | आमेलो (1-62) | आणाई (1-64) | अम्माइआ | (1-22) |
| | आ—यह सध्वनि किसी भी शब्द मे नही मिलती । | | | | |
| इ | इ | इल्लो (1-82) | किरिइरिआ (2-61) | पसढि | (6-10) |
| | | इन्भो (1-79) | इरिआ (1-80) | सरत्ति | (8-2) |
| | इ | इदमहो (1-81) | उव्विब (1-27) | अन्तिम स्थिति का प्रयोग किसी भी शब्दो मे नही है । शब्दो के निर्विभक्ति होने के कारण ऐसा हुआ है । | |
| | | इ दोवत्तो (1-81) | कालिंजणी 2-29 | | |
| | | | कोइला (2-49) | | |
| | | | छोइओ (3-33) | | |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ई | ई | ईम[1] | इत्तीरं (183) | कुमारी (2-35) |
| | | ईसओ (1-84) | गडीरी (2-82) | कुमुली (2-39) |
| | | ईसरो | गदीगी (2-83) | कु भी (2-34) |
| | | ईसिअ | गडीव (2।84) | कुग्गी (2-40) |

इँ—इस सध्वनि का प्रयोग कहीं नही है ।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| उ | उ | उडू (1-86) | कउह (2-5) | टिवह) (4-3)[2] |
| | | उअरी (1-98) | कडुआलो (2-57) | हणु (8-59) |
| | उ | — | कोउआ (2-48) | |
| | | | पोउआ (6-61) | |
| | उ | उ वा (1-86) | उलुउ डिअ (1-115) | मुंडु (6-100) |
| | | उ वी (1-86) | उल्लु टिअ (1-109) | वीमु (7-73) |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ऊ | ऊ | ऊरणी (1-140) | आऊर (1-176) | आऊ (1-61) |
| | | ऊरो (1-143) | अवगू ढ (1-20) | उडू (1-86) |

ऊ—इस सध्वनि का प्रयोग बिल्कुल नही है । क्योकि शब्द निर्विभक्तिक होकर प्राय प्रतिपादिक रूप मे ही सकलित हैं ।

| स्व ध्व | संध्वनि | आदिम — म | | |
|---|---|---|---|---|
| ए | ए | एमिणिआ (1-145) | | पुडे[3] (6-52) |
| | | एलो (1-144) | छेनअओ (3-32) | |
| | | | छेली (3।31) | |
| | ए | | गेंड (2-93) | |
| | | | गेढल्ल (2-94) | |
| | ए | एक्कगं (1-144) | कालेज्ज (2 29) | |
| | ए | एक्कसिवली (1-146) | पेज्जल (6-57) | |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ओ | ओ | ओर (1-149) | छिक्कोट्टली (3-37) | छाओ[4] (3-33) |
| | | ओरल्ली (1-154) | छिवक्कोलिअ (3-25) | कुरडो (3-36) |
| | ओं | — | कोडिओ (2-48) | |
| | | | कोढुल्लू (2-49) | |

1 पूरे कोश में कुल चार ही शब्द हैं।
2 पूरे कोश में उकारान्त केवल दो ही शब्द हैं ।
3. पूरे कोश मे यही एक एकारान्त शब्द है ।
4 कोशभर में ओकारान्त शब्दो की भरमार है और ये सभी प्रायः पुल्लिग हैं ।

| | | |
|---|---|---|
| श्रो | श्रोत्यग्रो (1-151) पोट्ट (6-60) | |
| | श्रोच्छिग्र (1-150) मोग्गरो (6-139) | |

## 'खण्डेतर स्वर ध्वनिग्राम'

### अनुस्वार तथा अनुनासिक—

दे ना मा. के शब्दो मे वर्गीय अनुनासिक व्यजनो के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार (बिन्दु) ( ) का व्यवहार किया गया है। स्वरो के जिस क्रम मे हेमचन्द्र ने इसका व्यवहार किया है उससे स्पष्ट है कि वे इसे स्वरो का ही अ ग मानते हैं। इतना होते हुए भी उन्होने अलग से इस स्वर की परिगणना नही की। भरत ने तो प्राकृत स्वरो की गणना मे अ कार को स्पष्ट ही स्थान दिया था।[1] सर्वप्राचीन प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने भी भरत की इसी मान्यता को स्वीकार करते हुए पदान्त 'म' की बिन्दु (ं) सज्ञा स्वीकार की।[2] हेमचन्द्र ने पाणिनि की ही मान्यता 'मोऽनुस्वार' को ज्यो का त्यो गहण कर लिया।[3] त्रिविक्रम ने वर रुचि की भाति पुन इसे बिन्दु रूप मे स्वीकार किया।[4] वैदिक सस्कृत और सस्कृत मे वर्गीय व्यजनो के अतिरिक्त अन्य व्यजनो के सयोग मे पदान्त 'म्' का अनुस्वार हो जाता था। स्वरो के परे रहने पर अनुस्वार न होकर स्वर म् के साथ मिल जाता था। अनुस्वार की यह स्थिति उसे व्यजन वर्ग के अन्तर्गत ही सिद्ध करती है। इसीलिए शुक्ल यजु–प्रातिशाख्य 'व्यजनकादि' 1।47 सूत्र मे 'अ इत्यनुस्वार एतदन्तम्' रूप मे अनुस्वार 'व्यजनो के ही अन्तर्गत गिना गया। परन्तु ऋग्वेद प्रातिशाख्यॉ 1।11 मे 'अनुस्वारो व्यजनो वा स्वरोवा' कहकर इसे स्वर और व्यजन दोनो ही स्वीकार किया गया। इसी सूत्र की व्याख्या मे अनुस्वार मे कुछ व्यजन धर्म अर्धमात्राकालता एव सयोग तथा कुछ स्वर धर्मो को भी जैसे ह्रस्व, दीर्घ आदि बताया गया।[5]इसी ग्रन्थ मे अनुस्वार और विसर्ग को पूर्व स्वर का अ ग स्वीकार किया गया है।' भरत ने इसी अ कार पद्धति को स्वीकार कर अनुस्वार को स्वरो के अन्त मे स्थापित किया गया है। वस्तुत किसी भी स्वर के उच्चारण के अनन्तर जब जिह्वा अनुस्वार के उच्चारण मे शीघ्र प्रवृत्त होती है तो नासिक विवर मे श्वास ले जाने के

---

1. ना शा अध्याय 14
2. मो बिन्दु प्रा प्र 4।12
3. मोऽनुस्वार सि हे 8।1।23
4. त्रि दूल प्रा श 1।1।40
5. 'अं' इत्यनुस्वारो वर्ण समाम्नाये पठ्यते, स काश्चित् स्वरधर्मान्गृह्णति काश्चिच्च व्यजनधर्मान् यथा ह्रस्वत्व दीर्घत्वमुदात्तत्वमनुदात्तत्व स्वरितत्वमिति स्वरधर्मा. तथा अर्धमात्राकालता स्वरवशेनोदात्तता स्वरितता सयोगश्चेति व्यजनधर्मा.।'

लिए अलिजिह्वा (कौआ) को उठाना पड़ता है। इस स्थिति मे आकर स्वर उच्चारण के समाप्त होते-होते अनुनासिक होने लगता है अत अनुस्वार के साथ स्वर का अनुनासिकीकरण सम्बद्ध है। स्वरानुवर्त्ती अनुस्वार स्वर को प्रभावित करता है। इसका निषेध नही किया जा सकता। प्राकृत और अपभ्रंश मे अनुस्वार के पूर्ववर्ती स्वर बहुधा अनुनासिक होते देखे गये है।[1] सरलीकरण की पद्धति मे आगे चलकर प्राकृत तथा अपभ्रंश मे परसवर्णविधान न होकर सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग किया जाने लगा। देशीनाममाला के शब्दो मे भी इसी पद्धति मे सर्वत्र अनुस्वार विधान मिलता है।[1] यह कोश केवल संज्ञा तथा विशेषण पदो का ही संकलन है। इसमे स्वरानुनासिकीकरण की प्रवृत्ति केवल दो ही रूपो मे प्राप्त होती है—

(1) पदों के अन्त मे प्राय नपुंसक लिङ्ग के द्योतन के लिए-'अं' का प्रयोग जैसे कंदोट्ट नीलोत्पलम् (दे 2.19), कंडल-करीषम् (दे-2.7)।

(2) विशेषण पदो मे 'क्त' प्रत्यय के द्योतक 'अं' के रूप मे —जैसे कंड-तरिअं–दारितम् (दे 2-20) किलिम्मिअं–कथितम् (दे- 2-32)

(3) वर्गीय अनुनासिक व्यंजनों के स्थानी रूप मे – जैसे कंकोड (दे 2-7), कंची (दे 2-1), गंड़ो (दे.2.99) गंवलया (दे. 2-85), गुंफो (दे. 2-90)

विसर्ग का प्रयोग—

देशीनाममाला के किसी भी शब्द मे विसर्ग का प्रयोग नही है। इसमे संकलित आकारान्त पुंल्लिग शब्दो मे अन्त्य विसर्जनीय का सर्वत्र 'ओ' हो गया है। संस्कृतकाल मे ही कुछ स्थितियो मे विसर्जनीय को 'ओ' करने की प्रवृत्ति चली आ

---

1 दे ना मा के शब्दो की अनुस्वार प्रयोग की प्रवृत्ति के ठीक विपरीत इन शब्दो के उदाहरण स्वरूप रची गयी गाथाओ में परसवर्ण की प्रवृत्ति प्राय है कमसे कम 'न्' और 'म्' को तो सर्वत्र पर सवर्ण रूप में लिखा गया है। जैसे धम्मिल (दे 6- 9-16), णमन्ति (6-12-19)। परन्त इस नियम का सर्वत्र कढ़ाई से पालन नहीं किया गया है। ङ ञ तो सर्वत्र अनुस्वार रूप में ही लिखे गये है न् और म् का अनुस्वार और पर सवर्ण दोनो ही रूप प्राप्त होता है ण का सर्वत्र पर सवर्ण वाला रूप भी है। यह हेमचन्द्र की मान्यता के सर्वथा अनुकूल भी है उन्होंने सि हे 8.1.25 में ङ-ञ-ण नो व्यंजन सूत्र मे से और ञ् की सर्वत्र अनुस्वार संज्ञा तथा अन्य को विकल्प से स्वीकार किया है।

हेमचन्द्र के इस सूत्र को ध्यान मे रखते हुए भी दे ना मा. परसवर्ण कर के अनुनासिक व्यंजनों (विशेषत' न, म) को लिखने की प्रवृत्ति लिपिकारो की भूल भी कही जा सकती है 'पउमचरिउ' तथा 'दोहा कोश' के लिपिकारों में भी ऐसी ही भ्रान्ति देखने में आती है।

रही थी। प्राकृतकाल मे यह रूढ होकर आवश्यक नियम सी बन गयी। अपभ्रंशकाल मे इसका 'ओ' और 'उ' दोनो ही रूप रहा। वस्तुत अपभ्रंश मे 'उ' का ही बाहुल्य है उसमे प्रयुक्त 'ओ' प्राकृताभास कहा जा सकता है।

सधि और स्वर संयोग

सधि — देशीनाममाला के शब्दो मे स्वरो का सधिविधान बिल्कुल नही है। स्वरो मे सध्यक्षर कहे जाने वाले 'ऐ' और 'औ' की स्थिति किसी भी शब्द मे नही है। इनके स्थान पर सर्वत्र 'ए' और 'ओ' का ही व्यवहार हुआ है। कुछ शब्दो मे 'ए' को 'अइ' और 'ओ' को 'अउ' रूप मे भी व्यवहृत किया गया है। इसका विस्तृत विवेचन पीछे 'ऐ' और 'औ' का विवेचन करते समय किया जा चुका है। इस प्रकार देशीनाममाला के शब्दो मे स्वरो मे सधिविधान कही नही मिलता। दो स्वर साथ-साथ आकर भी 'पर सन्निकर्ष सहिता' के नियम से एक दूसरे से मिलकर एकाकार नही होते, बल्कि दोनो अपनी अलग-अलग स्थिति बनाये रखते हैं। दोनो का उच्चारण भी अलग अलग होता है। प्रकारातर से स्वरो की समीपस्थ स्थिति के होते हुए भी इनमे सधिकार्य नही होता। पूरे कोश मे इस कोटि के स्वर सयोगो की भरमार है। स्वरो की यह समीपस्थता विवृति कहलाती है। ऋग्वेद मे भी अन्त पद विवृति के दो उदाहरण मिलते है–तितउ और प्रउगम्। इन दो शब्दो मे अ और उ मे समीप रहते हुए भी 'गुणविधान' नही हुआ। लगभग सभी विद्वानो ने ऋग्वेद के इन दो शब्दो को किसी जन-भाषा की सम्पत्ति माना है। देशीनाममाला की शब्दावली मे इस प्रकार की विवृतियो की भरमार है। ऐसे शब्दो की प्राचीनता ऋग्वेद काल तक जा पहुचती है।

वैदिक छान्दस् भाषा के बाद सस्कृत मे समीपस्थ स्वरो का सधि–विधान अनिवार्य सा हो गया। लेकिन आगे विकसित होने वाली प्राकृतो मे, भाषा की स्वाभाविक विकास प्रक्रिया मे उच्चारण शैथिल्य और मुखसौकर्य के कारण सधिविधान शिथिल होता गया। प्राकृतो मे मध्यवर्ती क्षीण व्यजनो का प्राय लोप ही हो चला।[1] जहा-जहा क्षीण व्यजन लुप्त होते वहा स्वरो की स्थिति बनी रह जाती थी। इस प्रक्रिया से एक ही शब्द मे दो-दो, तीन तीन और कहीं-कही चार-चार तक स्वर समीपस्थ होकर आने लगे और उनमे परस्पर सधि-प्रक्रिया का अभाव हो चला। व्यजनो के लोप और उनके स्थान पर आने वाले स्वरो के कारण, कही-कही तो शब्दो का अर्थ करने मे कठिनाई होने लगी। सस्कृत के दो

1. क ग च ज त द प य वां प्रायोलोप। प्रा प्र 2.2

शब्द मृग और मृत प्राकृत में 'मग्र' के रूप में विकृत हो गये। ऐसे शब्दों के अर्थ निर्धारण में तरह-तरह की कठिनाइयाँ आने लगी। इतना ही नहीं एक ही शब्द में इतने स्वरों की भरमार होने लगी कि उसका उच्चारण भी कठिन होने लगा। स्वरों के उच्चारण में, मुख में श्वासवायु का गत्यवरोध नहीं होता। अत.एक स्वर के स्पष्ट उच्चारण के बाद ही दूसरा स्वर उच्चरित हो सकता है। दो, एक से स्वरों के उच्चारण में, वक्ता को पर्याप्त प्रयास करना पड़ता है। इसी प्रकार तीन तीन और चार स्वरों का उच्चारण तो और भी कठिन है। फिर भी प्राकृतों में इस कठिनाई के विपरीत स्वर संयोगों की भरमार होती गयी। प्राकृतों की इस विशेषता का पता हमें तत्कालीन लिखित ग्रन्थों से चलता है। उस युग में बोलने वालों की प्रवृत्ति कैसी थी इसका पता लगा पाना, एक सर्वथा असम्भव कार्य है। मेरी दृष्टि में प्राकृतों का यह स्वर बाहुल्य उनकी कृत्रिमता का द्योतक है, प्राकृतों के बोलने में इतने अधिक स्वर संयोग सम्भव नहीं रहे होंगे।

देशीनाममाला की शब्दावली भी प्राकृतों के इसी सन्धिविच्छेद विधान का अनुसरण करती है। इसकी शब्दावली में भी विवृति प्रधान शब्दावली की भरमार है। प्राकृत भाषाओं में स्वरों की समीपता की जितनी स्थितियां थीं, सभी का निरूपण देशीनाममाला की शब्दावली में भी किया जा सकता है। प्राकृतों में स्वर संयोग की तीन स्थितियां प्राप्त होती हैं—

विवृति या संधि का अभाव—

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में स्पष्ट विधान किया है कि उद्वृत स्वर परे रहने पर दो स्वरों में आपस में संधि नहीं होगी।[1] व्यंजनों का लोप हो जाने के बाद जो स्वर बच रहते हैं, वे उद्वृत स्वर कहलाते हैं। देशीनाममाला के तद्भव शब्दों में यह नियम देखा जा सकता है। जैसे अअइओ (संस्कृत-अण्डज.), अमओ (स अमृत) आउर (स आतुर), उअअ (स ऋजुक) आदि।

(2) य श्रुति और व श्रुति—

एक स्वर के उच्चारण से दूसरे स्वर के उच्चारण में जाती हुई श्वासवायु के निकलने से अकस्मात् कोई हल्की ध्वनि आकर श्रोता को सुनायी देने लगती है। यही श्रुति कहलाती है। धीरे-धीरे वक्ता और श्रोता के बीच व्यवहृत होते-होते यह एक, स्पष्ट वर्ण का रूप धारण कर लेती है। देशीनाममाला की शब्दावली में यह श्रुति य और व वर्णों के रूप में विद्यमान देखी जा सकती है। यह श्रुति-विधान प्राय. उद्वृत्त स्वरों का स्थानी बनकर आता है।

---

1 स्वरस्योद्वृत्ते। हेम 8 1.18

इन प्रकार का श्रुतिविधान म भा. श्रा के लिए कोई नवीन वस्तु नही है। सस्कृत मे श्रकारान्त प्रथम बहुवचन के विसर्ग को स्वर श्रन्त स्थ श्रौर वर्णों के श्रन्तिम तीन वर्णों के परे होने पर य का श्रागम य श्रुति ही है। ऐसे स्थलो पर विसर्ग का श्रभाव हो जाता है श्रौर दोनो पदो के बीच मे य श्रुति के रूप मे श्रा जाता है। यह श्रुति विधान भी प्राय विकल्प से होता है। बोलने मे 'य' के न सुनायी पडने पर श्रुति विधान नही भी होता। उदाहरण के लिए देवा + इह को लिया जा सकता है। य श्रुति का श्रागम होने पर यह देवायिहि तथा श्रुति के न सुनायी पडने पर देवाइह रूपो मे प्रयुक्त होता है। सस्कृत का 'इयड' श्रादेश भी य श्रुति ही है। संस्कृत के बाद प्राकृतो मे इस श्रुति का प्रयोग बहुतायत से होने लगा। श्रपभ्रंश मे पश्चिमी श्रौर उत्तरी क्षेत्रो मे तथा जैन लेखको की भाषा मे य श्रुति की बहुलता देखी जा सकती है, इसके विपरीत पूर्वी क्षेत्र की भाषाश्रो मे इसका प्रयोग श्रपेक्षाकृत न्यून है। देशीनाममाला की शब्दावली का सम्बन्ध भी श्रधिकाशत म. भा श्रा से है, श्रत इसमे भी य श्रुति-विधान की प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित की जा सकती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

श्रत्थयारिश्रा–सखी (1-16), श्रमयणिग्गमो -चन्द्र. (1-15), श्रामलय –नूपुरगृहम् (1-67), उवकय-सज्जित स उपकृत (1-119), मायन्दो–श्राम्र (6-128) रयणिद्धय-कुमुद स रजनीध्वजम् (7-4) लयापुरिसो स. लतापुरुषो (7-20), वयाडो–शुक सस्कृत वाचाट (7-56) श्रादि। इ के बाद 'ए' स्वर के सयोग मे भी 'य' श्रुति सुनी जा सकती हैं।

व श्रुति का प्रयोग भी सस्कृत काल से ही प्रचलित रहा है। सस्कृत मे 'उ' के स्थान पर 'उवड' श्रादेश व श्रुति ही है। प्राकृत श्रौर श्रपभ्रंशकाल मे भी 'व' श्रुति का प्रयोग मिलता है, परन्तु यह य श्रुति के प्रयोग की भाँति व्यापक नही है। म भा श्रा मे कभी-कभी श्रौष्ठस्थानीय वर्णों की समीपता समीकरण या कभी-कभी श्रसमीकरण मे भी 'व' श्रुति के होने की पर्याप्त सम्भावना हैं। इसके 'श्रोकारान्त' शब्दो मे हल्की व श्रुति सर्वत्र सुनायी पडती है, परन्तु प्राय: इसे स्वर 'श्रो' के रूप मे ही लिखा गया है। सम्पूर्णकोश मे 'श्रोकारान्त' शब्दो की भरमार है। इन शब्दो के बोलने मे निश्चित रूप से 'व' श्रुति का श्रागम हो जाता रहा होगा। कुछ शब्दो को व श्रुति सयुक्त कर, लिखा भी गया है, जैसे—श्रणुवो– बलात्कार (2-19)। परन्तु त्रिविक्रम ने इसे 'श्रणुश्रो' रूप मे ही दिया है। 'उ' के बाद 'श्रो' तथा 'श्रा' के बाद श्रो स्वर के उच्चारण मे हल्की 'व' श्रुति सुनी जा सकती है। यद्यपि इसे सर्वत्र 'श्रो' रूप मे ही लिखा गया है। व श्रुति का स्पष्ट प्रयोग कही-कही 'श्रकारान्त'

पदो मे हुआ है। देशीनाममाला की शब्दावली मे 'व श्रुति' के कुछ उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

आणवो–स्वपच. (1-64), हुकुरुवो–अंजलिः (8-71)। देशीनाममाला के शब्दों मे 'व' श्रुति की स्थिति इन्ही दो शब्दो मे, स्पष्टतया लिखित रूप मे प्राप्त होती है। अन्य शब्दो मे स्थित होते हुए भी यह स्वरो 'अ', 'आ' तथा 'ओ' के रूप मे लिखी गयी है। कुछ ऐसे शब्द उल्लेखनीय हैं—

हुडुओ–जीर्णघट (4-11) धोओ-रजक. (5-32) पडोओ-बाल (6-9), परभाओ-सुरतम् (6-27), पूआ-पिशाचगृहीता (6-54), भाओ-ज्येष्ठभगिनीपतिः (6-102) भमुआ-शिरा (6-101), भूमिसिमाओ–नाल (6-107) आदि अन्यानेक शब्दो के उच्चारण मे व श्रुति विद्यमान देखी जा सकती है पर लिपि मे इन्हे स्वरो के रूप मे ही लिखा गया है।

इस प्रकार देशीनाममाला की शब्दावली सवि-विधान को तो प्रश्रय देती ही नहीं, य श्रुति और व श्रुति भी प्राय तद्भव और कुछ ही देशी शब्दो मे मिलती है। इनमे सर्वत्र स्वरो की उद्वृत्तता ही प्रधान है। उद्वृतस्वरो के निम्नलिखित सयोग देशीनाममाला की शब्दावली मे देखे जा सकते हैं—

अअ– अअं-विस्तारितम् (2-49), उअअ–ऋजुकम् (1.88), दअच्छरो-ग्राम-वामी (5-36) दहरी-मृग (5-34), सअअ-शिला (8-46)।

अआ–मआड – शिरोमाला (6-115)–पूरे कोश मे यही एक उदाहरण है।

अइ– अइणं–गिरितटम् (1-10), अइरो–आयुक्त (1-16), अइरजुवई-नववधू (1-48) अइहारा विद्युत् (1-34), यह स्वर संयोग बहुतायत से मिलता है।

अई– अइरजुवई (1-148), कमई–अरण्यचारीफल (2-6) खडई-असती (2 67), रायगई-जलोका (एकधान) (7-4), वित्तई-गर्वित (7-91), मई-मृग (6-113) ई को 'इ' रूप मे लम्बकर देने की प्रवृत्ति के कारण 'अई' स्वर सयोग अधिकाश स्थलो पर 'अइ' के रूप मे आ गया है, जैसे णाईमासय को णाइमासन कर दिया गया है। दीर्घ को ह्रस्व करके बोलने की प्रवृत्ति, लोक भाषाओ की बहुत प्राचीन प्रवृत्ति है।

अउ– कउअ–प्रधानम् (2-56), कउल—करीषम् (2-7), कउह–नित्यम् (2-5), चउग्ग-चत्वरम् (3-2), चउक्करी-कार्तिकेय (3-5), चउरंचिओ सात-वाहन (3-7), पउन्थ-प्रोषितम् (6-66) बाउहारी-सम्मार्जनी (6-97)

अऊ– पऊढ गृहम् (6-4), मऊ-पर्वतः (6-113), वऊ–लावण्यम् (8-30)। कुल इतने ही शब्द है।

अए– अवएइआ–मद्य परिवेषणभाण्डम् (1-118) पएरो-गुफा का द्वार (6-67), पएमो-पडोसी (6-3), कुल तीन ही शब्द हैं।

अओ– अज्जओ–गुरेटकतृणम् (1-54), अज्झओ-पडोसी (1-17), अण्हेअओ-भ्रान्त (1-21), अवडओ–घास का घोख (1-20) इन्दड्ढलओ–चन्द्रोत्यापनम् (1-82) आदि। यह स्वर सयोग प्रचुर मात्रा मे है।

आअ–आअड्डिअ-परवशचलितम् (1-69), आल्ली भाट भेद (1-61), आअल्लो-रोग (1-75), ओआअगे अस्तसमय (1-162) माअलिआ-मातृष्वसा (6-131) आदि।

आआ–यह स्वर-सयोग देशीनाममाला के किसी भी शब्द मे नही है।

आइ– आइप्पण-पिष्टम् ( -78), आइसण-उज्झत-छोडा हुआ (1-71), कराइणी-शात्मलितरु (2-18), पत्तपसाइआ-पुलिन्द के शिर पर रखा गया दोना (6-2), विग्गाइआ-जोडे मे रहने वाला कीडा (6-93) आदि।

आई– जाई-सुरा (1-45), विग्गाई-जोडे मे रहने वाला कीडा (6-93), साई-केसर (8 22), इदगाई-जोडे मे रहने वाला कीडा (1-81) इत्यादि।

आउ–आउरी-सग्राम. (1-65), आउल-अरण्यम् (1-62), आउस-कूर्चम् (1-65), पाउअ-हियम् (6-38), पाउग्गो–सम्यः (6-41) इत्यादि।

आऊ– आऊ-सलिल्म (1-61), आऊडिअ-द्यूतपणः (1-68), आऊरं–अतिशयम् (1-76),जाऊरी-सुरा (1-45), पाऊ-विभक्त (6-75) इत्यादि।

आए– इस स्वर-सयोग का सर्वथा अभाव है। उदाहरण की गाथाओ मे स्त्री शब्दो मे विभक्ति के प्रत्यय के रूप मे इसका व्यवहार हुआ है–जैसे–अलिणाएहि, विओअअराए आदि।

आओ– उब्भाओ-शान्तः (1-96), ओआओ-ग्रामाधीश (1-166) छाओ-बुभुक्षित (3-33), जहाजाओ–जड (3 41), णाओ-गर्विष्ठ (4-23), पलाओ-चौरः (6-8) इत्यादि।

इअ– अविअ-उक्तम् (1-10), आरेइअ-मुकुलितम् (1-77), कइअ कसई-निकर (1-13), कइअ को (2-13), कासिअं-सूक्ष्मवस्त्र (2-59) इत्यादि।

इआ– आवरेइआ-करिका (1-71) कसिआ-अरण्यचारीफलम् (2-6), कालिआ-

शरीरम् (2-58) गणगाइआ-चण्डी (2-87),चु चुणिआ-टपका हुआ (3-23) रुइरुइआ-उत्कठा (7-18) इत्यादि।

इइ– किरिइरिआ-कर्णोपकर्णिका (2-61),

इउ– कइउल्ल स्तोकम् (2-21), कायपिउच्छा या कायपिउला-कोकिला (2-30), णिउक्कणो वायस (4-27) णिउक्को-तूष्णीक (चुप्पा (6-27),

इऊ– विऊरिअ नष्टम् (7-72)

इए– पडिएल्लिओ-कृतार्थ 6-32)। पूरे कोश मे यही एक शब्द है। उदाहरण की गाथाओ मे इस विवृति का प्रयोग प्राय हुआ। निर्विभक्तिक होने के कारण मूल शब्द मे इस का व्यवहार कम हुआ है।

इओ– कमिओ – उपमर्पित (2-3), कम्हिओ-मालिक (2-8), कसणसिओ वलभद्र (2-23), कु डिओ-ग्रामाधिपति· (2-37), खडइओ–सकुचित (2-72), चुण्णइओ-चूर्णाहत (3-17)।

ईअ– ओसरीअ -अधोमुखम् (1-171), वीअओ-असनवृक्ष (6-93) ,वीअजयणं (6-93) मीअ -समकालम् (6-133), वीअ -विधुरम् (6-93)।

ईआ– णीआरण-वलिघटी (4-43), सरलीआ-एक कीडा (8-15)।

ईइ– सीइआ झडी (8-34)।

ईउ– वच्छीउत्तो–नापित (7-47), सीउग्गय-सुजातम् (8-34)

ईओ– अहिरीओ कान्तिहीन (1-27), ओग्गीओ-नीहार (1-149) ओमीओ-अवोमुख (1-158), छाईओ देवी-माता (3-26),

घूमद्धयमहिमीओ-कृत्तिका (5-62), पप्पीओ-चातक (6-12) इत्यादि।

उअ, उअअ -ऋजु (1-88), उअक्किअ पुरस्कृतम् (1-107), उअचित्तो-अपगत· (1-108) उअरी-शाकिनी (1-199), उअह पश्यत् (1-198), उअहारी-दोग्धी (1-108) इत्यादि।

उआ – उआली अवतम (1-90), उच्चुआर-छिपा हुआ (1-115), उम्मुआण-दूध का उफान (1-105), कोउआ-कडे की आग (2-48)।

उइ– उइ तगम् उत्तरीयम् (1-103), रुअरुइआ-उत्कठा (7-8), उण्णुइओ-हुकार. (1-132)।

उई– कोमुई-सर्वापूर्णिमा (2-48), छंकुई तथा छक्कुई-केंवाच–(3-24)।

उउ– कुउआ-तुम्बीपात्रम् (1-112)

उऊ– कुऊल–नीवी (2-38)

उओ–ओहुओ-अभिभूतः—पराजितः (1-158), कोल्हुओ-ईख पेरने का कोल्हू (2-65), झउओ–मशक (3-54), झेंडुओ-कन्दुक (3-59), पउओ-दिनम् (6-5)।

ऊअ– जूअओ-चातक (3-47), णिहूअ-सुरतम् (4-26), पूअं-दधि (6-56), मूअलो-मूअल्लो मूक (6-137)।

ऊआ–ऊआ-यूक (1-139). पूआ-पिशाचगृहीता (6-54),

ऊइ– सूइओ-चाण्डाल (8-39)।

ऊई– सूई मजरी (8-41)।

ऊओ– चूओ-स्तनाग्र (3-18), तूओ–इक्षुकर्मकर (5-16), तुडूओ–जीर्णघट (5-15), दो हूआ-शव (5-49), पुरुहूओ उल्लू (6-55), फूओ-लोहकारः (6-85)

एअ– अण्हेअओ-भ्रान्त (1-21), मेअज्ज-धान्यम् (6-38), मेअरो-असहन (6-38) वेअल्लं-मृदु (6-75)।

एआ– वेआ-रज्जु (2-44), केआरवाणो-पलाश (2-45), खेआलू-असह्य (2-77) पेआल-प्रमाणम् (6-57), वेआरिआ-केश (6-95)।

एइ– आरेइअं-मुकुलितम् (1-77), आवरेइआ-करिका (1-71) उवएइआ-मद्य-परिवेषणभाण्डम् (1-118) विञ्भेइअ -सूच्याविद्धम् (7-67)।

एउ- णेउड्डो-सद्भाव (4-44),

एऊ– केऊ कन्दः (2-44),

एओ– छेओ-अन्त (3-38), णाहिविच्छेओ-जघनम् (4-24), परेओ-पिशाचः (6-12), सेओ-गणपति (8-42)।

ओअ–ओअं-वार्त्ता (1-149), ओअग्गिअ -अभिभूतम् (1-72), ओअग्घिअ -घ्रातम् (1-162) ओअको-गर्जितम् (1-154), ओअल्लो-पर्यस्तः–(1-165)

ओआ–ओआओ-ग्रामाधीश. (1-166), ओआली-खड्गदोष (1-151), ओआलो-अल्प स्रोत (1-151), ओआवलो-बालातप (1-161)।

ओइ ओइत्त-परिधानम् (1-155) ओइल्ल-आरूढम् (1-158), कोइला-काष्ठां-गार. (2-49), जोइओ-खद्योत (3-50)।

ओई– कुड्डगिलोई-गृहगोधा (2-19), घम्मोई-गंडुत्संज्ञकतृणम् (2-106), जोई-विद्युत (3-49)

ओउ– कोउआ-करीषाग्नि (2-48)।

ओओ–जोओ-चन्द्र (3 48), डोओ-दारुहस्तः (लकडी का चम्मच) (6-11), धोओ-रजकः (5-32), दुरालोओ–तिमिरम् (5-46), पोओ-ववृक्षः (6-81)

दो स्वरो के आपसी संयोग के अतिरिक्त देशीनाममाला की शब्दावली मे तीन-तीन और कही-कही चार-चार स्वरो का एकत्र संयोग मिलता है। ऐसे शब्दों को देखकर आश्चर्य मे पड जाना होता है। दो स्वरों का एक साथ किया गया उच्चारण ही अत्यन्त कठिन होता है फिर तीन-तीन या चार-चार स्वरो का एक साथ उच्चारण कठिन नही, असम्भव सा लगता है। ऐसे स्वर सयोगो को देखते हुए, एक सभावना की जा सकती है– मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ मे व्यजनों के स्थान पर स्वर के उच्चारण की प्रवृत्ति जोर पकडती जा रही थी, इस प्रवृत्ति को लगभग सभी वैय्याकरणो ने लोक भाषा का प्रभाव बताया है। जब लोक भाषा के प्रभाव से ग्रस्त तत्सम शब्दो मे व्यजनो के उच्चारण की प्रवृत्ति नही रही तो स्वय लोकभाषाओ मे व्यजनों का उच्चारण बनाये रखना कहाँ तक उपयुक्त होता। सभवत प्राकृतीकरण की इसी प्रक्रिया मे कुछ देशी शब्दो के व्यजन-उच्चारण को समाप्त ही कर दिया गया होगा। ऐसे शब्दो का निश्चित ही प्राकृतीकरण किया गया है, क्योकि ऐसे शब्द सामान्य जनता के बोलचाल के शब्द नहीं हो सकते। इस कोटि के कुछ स्वर-सयोगो के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

अअअ — मअअं-शिला (8-46)

अआई — मआई-शिरोमाला (6-115।

अइअ — कइअंको-निकर (2-13)।

अइआ — पोअइआ निद्राकरीलता (6-63)।

अइउ — कइउल्ल-स्तोक (2-24)।

अइओ — वइओ-पीत (6-34)।

अउअ — कउअ-प्रधानम् (2-56)।

आअओ — पाणाअओ-श्वपचः (6-38)।

आइअ — पवहाइअ-आगे बढा हुआ (6-34), पाइअवदन विस्तार (6-38)

आइअा — पत्तपसाइआ-पूलिंद के सिर पर रखा हुआ पत्ते का दोना (6-2) ।

आईओ — छाईओ-देवी–भाग (2-26) ।

आउअ — पाउअ-हिमम् (6-38) ।

आउआ — माउआ-सखी (6-147) ।

इअओ — आसिअओ-लोहमय. (1-67), खिलुत्तहिअओ-भ्रान्तः (7-63)

उअअ — उअअ-ऋजु (1-88) ।

उइआ — उअरुइआ–उत्कंठा (6–8) ।

उइओ — उण्णुइओ–हुंकार. (1–132) ।

उउओ — कुउआ–तुम्बीपात्रम् (2–12) ।

ऊअओ — जूअओ–चातक (3–47) ।

एइअ — विब्भेइअ –सूच्याविद्धम् (7–67) ।

एइआ — आवरेइआ–करिका (1–71) ।

ओअओ — तोअओ–चातक (5–18)

ओअओ — ओआओ–ग्रामाधीश. (1–166), पोआओ–ग्रामप्रधानः (6-60)

ओइअ — पहोइअं–पर्याप्तम् (6–26) ।

ओइआ — पोइआ–निद्राकरीलता (6-63)।

ओइओ — छोइओ–दास (3–33), पोइओ–हलवाई (6–61) जोइओ-जुगनू (3–50) ।

औउओ — पोउआ–करीषाग्नि (6 61) ।

चार स्वरो के एकत्र संयोग—

अएइआ — उवएइआ–पद्यपरिवेषणभाण्डम् (1–118) ।

ओआअओ — ओआअओ-अस्तसमय (1-162) ।

ओअइआ — पोमइआ–पोई नामक लता (6–63) ।

स्वराघात—

स्वराघात वस्तुतः किसी भाषण प्रक्रिया का अंग होता है । इसका सम्यक् निर्धारण किसी बोली जाने वाली भाषा मे ही किया जा सकता है । देशीनाम-माला की शब्दावली अति प्राचीन भाषण प्रक्रिया से सम्बन्धित है । इसका व्यवहार म. भा आ. काल मे प्रायः हुआ है । इसका प्राप्त लिखित रूप इतना क्लिष्ट है कि

इसके मात्र लिखित भाषा होने की अधिक सभावना है। अपने लम्बे लम्बे एव अटपटे स्वर सयोगो के कारण किसी जीवित-भाषा से इसका सम्बन्ध रहा होगा, ऐसा कह पाना सभव नही है। इसमे स्वराघात का निर्धारण म भा आ के अनुगमन पर किया जा सकता है। म भा आ प्राकृत और अपभ्रंश भाषाए बलाघात प्रधान नहीं रहीं। वैदिक भाषा का जटिल स्वर-विधान, ब्राह्मण काल तक ढीला पडने लगा था। सस्कृत मे, यह बिल्कुल समाप्त ही हो गया। यही स्थिति म भा आ की भी रही। इन्ही की परम्परा मे विकसित आ भा. आ विशेषतया हिन्दी भी बलाघात प्रधान भाषा नही है। परन्तु जिस प्रकार हिन्दी मे कुछ विशेष प्रकार के शब्दो मे बलाघात निश्चित है, उसी प्रकार ध्वनि-विकारो के अध्ययन से हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषाओ से सम्बन्धित 'देश्य' शब्दावली मे भी बलाघात के नियमो को ढूंढा जा सकता है।

देशीनाममाला की शब्दावली में बलाघात–निर्धारण निम्नरूपो मे किया जा सकता है –

(1) द्व्यक्षरात्मक सज्ञाओ तथा विशेषणो में स्वराघात प्रथम अक्षर पर पडता है– दिअ-दिवस पूअ–दधि, फूअ–लोहकारः इत्यादि।

(2) त्र्यक्षरात्मक सज्ञाओ और विशेषणो मे प्रवृत्ति प्रथमाक्षर से स्वर पर ही बलाघात डालने की है—
रिक्किअ –रिंगिग, गिग्गिरं इत्यादि।

(3) चतुराक्षरात्मक या अधिकाक्षरात्मक शब्दो या समस्त शब्दो मे, स्वराघात प्रथम स्वर पर न रहकर मध्यस्वर या उपान्त्य स्वर पर रहता है—

पडिअजम्मअ, पडिअ तअ, पडिअली, फोडिअय, भयवग्गामो, सयणिवानो इत्यादि।

(4) सयुक्त व्यजनों के पहले के 'ए' और 'ओ' प्राय ह्रस्वीकृत रूप में उच्चरित होते हैं और बलाघात सयुक्त व्यजन वाले स्वरो पर होता है जैसे—

एक्कामिअ, एक्केरो, एक्कचारिल्लो, एक्कसाहिल्लो, दो सयुक्त व्यंजनो के एक के बाद एक आने पर बलाघात प्राय अन्तिम सयुक्त व्यजन के स्वर पर होता है—जैसे एक्केक्कम।

ऊपर कुछ बलाघात के उदाहरण दिये गये हैं। जहां तक देशीनाममाला की शब्दावली मे बलाघात ढू ढने का प्रश्न है, पग-पग पर नवीन समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। यहा सक्षेप मे इस तत्त्व का भी विवेचन कर दिया गया है। मेरा तो दृढ मन्तव्य है कि इन शब्दो का बहुत अधिक प्राकृतीकरण किया गया है। जिस रूप मे ये सामान्य जनता मे बोले जाते रहे होगे, उसी रूप मे इनका सकलन नही किया गया है।

## दे. ना मा के व्यजन ध्वनिग्राम

देशीनाममाला के शब्दो मे व्यवहृत व्यजन ध्वनिग्राम पूर्ण रूपेण म भा आ. के व्यजन ध्वनिग्रामो का अनुसरण करते हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य तथा यजु. प्रातिशाख्य मे कुल व्यजन वर्णों की सख्या 37 मानी गयी है।[1] इनमे 25 स्पर्श, 4 अन्त स्थ तथा 8 ऊष्म व्यजन परिगणित किये गये हैं। महर्षि पाणिनि ने अपने महेश्वर सूत्र[2] मे कुल 33 व्यजन वर्ण माने, इनमे 25 स्पर्श, 4 अन्त स्थ और 4 ऊष्म वर्ण सम्मिलित हैं। पाणिनि ने प्रातिशाख्यो मे व्यजनो के बीच गिने गये विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार को अपने प्रत्याहार सूत्र मे नही सम्मिलित किया। पाणिनि की ही मान्यता सस्कृत मे दृढ हो गयी। आगे चलकर भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे प्राकृतो मे व्यवहृत व्यजनो पर विचार किया, उन्होने प्राकृतों मे श्, ष्, ङ् ञ् और न् का अभाव देखा अत इन 5 को निकालकर उन्होने प्राकृत व्यजनो मे केवल 28 व्यजनो की ही गणना की, वे इस प्रकार हैं—

क् ख् ग् घ्,
च् छ ज् झ्,
ट् ठ् ड् ढ् ण,
त् थ् द् ध्
प् फ् ब् भ् म्
य्, र् ल् व्, स् ह् ।

इन व्यजन ध्वनियो मे 'य्' ही एक ऐसी ध्वनि है जिसका व्यवहार शब्दादि मे प्राय. नही होता (केवल अर्धमागधी को छोड कर) शब्दों के मध्य मे शुद्ध रूप में तथा अन्त मे य श्रुति के रूप मे इसका उच्चारण होता है। शब्दो के आदि में अर्धमागधी के कुछ अपवादो को छोडकर सर्वत्र 'ज्' के रूप मे उच्चरित होता है।

---

1. ऋ प्रा 1।10
2. 'हयवरट् लण् जमङणनम् झ भ ञ्, घढधष्, जबगडदश् खफछठथचटतव् कपय् शषसर् हल्।"

नासिक्य ध्वनियो ङ्, ञ् और न् का भी अस्तित्व कुछ प्रादेशिक भाषाओ और उनके ग्रन्थो[1] मे मिलता है, परन्तु प्राय इनका व्यवहार नही ही हुआ है ।

म भा आ के उपर्युक्त व्यजन ध्वनिग्रामो का प्रयोग देशीनाममाला के शब्दो मे भी हुआ है । आदिम य् का ज तथा उसका अप्रयोग ङ्, ञ्, न् जैसी अनुनासिक ध्वनियो का अभाव तथा ऊष्म श, ष आदि का अप्रयोग म. भा आ की सारी विशेषताएँ इन शब्दो मे देखी जा सकती है । इनमे प्रयुक्त व्यजन ध्वनिग्रामो की प्रकृति का विवेचन इस प्रकार है ।

क—'कोमलतालव्य या कण्ठ्य' श्वास अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्श ध्वनि है । वैदिक भाषा मे यह शुद्ध कण्ठ्य ध्वनि थी । सस्कृत मे इसका उच्चारण जिह्वामूल से हटकर जिह्वा के पश्च भाग और कण्ठ के अन्तिम ऊपरी भाग से होने लगा । आ भा आ. मे इसका उच्चारण जिह्वापश्च और कोमलतालु से होने लगा है । यही उच्चारण म भा आ मे भी रहा होगा । दे ना. मा. मे व्यवहृत 'क' ध्वनिग्राम म भा आ. के ही उच्चारण का अनुसरण करने वाला माना जा सकता है । म भा. आ. मे किसी भी व्यजन ध्वनिग्राम की शुद्ध स्थिति आदि और मध्य मे ही मिलती है । व्यजनान्त पदो का यहा सर्वथा अभाव है । सभी पद स्वरान्त ही हैं, अत व्यजन ध्वनिग्रामो की शुद्ध स्थिति अन्त मे नही मिलती । यह विशिष्टता दे ना मा के शब्दो की भी है । प्रा भा आ का 'क्' ध्वनिग्राम देश्य शब्दो मे सर्वथा सुरक्षित है । जैसे

कमलो–पिठर (2-54), करालो-दन्तपवनकाष्ठम् (2-12) कराइणी-शाल्मलितरु (2-18) ।

म. भा आ मे प्रा भा आ के क, क्ल, स्क, क्व आदि के स्थानीय ध्वनिग्राम 'क्' का व्यवहार हुआ है । परन्तु अज्ञात व्युत्पत्तिक 'देश्य' शब्दो मे इस नियम की परिणति नही देखी जाती ।

देशीनाममाला के शब्दो का मध्यवर्ती 'क' ध्वनिग्राम म भा आ के 'क्' या 'क्क' का ही अनुसरण है जैसे —

क — अकासि पर्याप्तम् (1-8), अकारो साहाय्यम् (1-9), कवेली-अशोक-वृक्ष (2-12), कक्कोड (2-7) ।

1. अपभ्रंश के ग्रन्थ पउमचरिउ-कीर्तिलता आदि में अनुस्वार को परसवर्ण बनाकर ङ् ञ न का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । श्री भायाणी ने पाण्डुलिपि के अनुस्वार को निष्कारण परसवर्ण में परिणत कर मुद्रित कराया है अन्यथा उसमें ङ ञ् और न् का अस्तित्व संदेहास्पद है । कीर्तिलता आदि में परसवर्ण का स्थान सस्कृत तत्सम के अनुकरण पर है ।"
— अपभ्रंश भाषा का अध्ययन–पृ 76, डा वीरेन्द्र श्री.

क्क—कक्कसारो–दध्योदन· (2-14), एक्केक्कम्–अन्योन्यम् (1-145) ओक्कणी-यूक। (जुआ) 1-159) आदि।

शब्दो के उपान्त मे 'क्' 'क्क' ध्वनिग्राम के प्रयोग के कुछ उदाहरण ये हैं—कइअ को–निकर (2-13) अक्का-भगिनी (1-6) अक्को–दूत (1-6)।

विशेष–देशीनाममाला मे 'क्' ध्वनिग्राम से प्रारम्भ होने वाले शब्द सख्या मे 312 हैं।

ख—

कण्ठ्य या कोमलतालव्य, श्वास, अघोष, महाप्राण तथा निरनुनासिक, व्यजन ध्वनिग्राम है। दे ना मा की शब्दावली मे इसकी भी केवल आरम्भवर्ती और मध्यवर्ती स्थिति ही मिलती है। सभी शब्दो के स्वरान्त होने के कारण इसकी अन्तिम स्थिति 'उपान्त' रूप मे ही मिलती है। इस कोश मे 'ख' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या 81 है।

आरम्भवर्ती स्थिति मे यह दो रूपो मे मिलता है–

(1) म भा आ का मूल 'ख्' ध्वनिग्राम–जैसे–खट्टिक्को-शौनिक. (2-70) खडक्की–लघुद्धारम् (हिन्दी खिडकी) (2-71), खप्परो-रूक्ष (हिन्दी खपड़ा) (2-69)।

(2) प्रा भा. आ के 'स्क' का स्थानीय ख–जैसे खध्ग्गी∠स्कन्धाग्नि-स्थूलेन्वनाग्नि (2-70), खवममो∠स्कन्वमृश् या स्कन्घ-अ स-बाहु. (2-71), खवयठ्टी∠स्कन्वयष्टि-बाहु (2-71), प्रा भा आ की इस कोटि के कुल तीन ही शब्द हैं।

प्रा भा आ के 'क्ष' स्थानीय 'ख' दे ना. मा किसी भी शब्द मे आरम्भवर्ती स्थिति मे नही मिलता। केवल मध्यवर्ती स्थिति मे आया है।

मध्यवर्ती स्थिति मे इस कोश के शब्दो मे आया हुआ 'ख' म. भा. आ के 'ख' 'क्ख' का अनुगमन है।

ख—झखरो-शुष्कतरु (3-54), झखो–तुष्ट (3-53)।

क्ख—ततुक्खोडी–वायकतन्त्रोपकरण (5-7) खिक्खिरी-यष्टि· (2-73),

खणुक्खुडिआ–घ्राणम् (2-76)।

क्ख∠क्ष—चक्खुरक्खणी–लज्जा (3-7), णक्खत्तणेमि-विष्णु (4-22),

क्ख∠क्ष्य—हइलक्ख–रति सयोग:∠रतिलक्ष्य (7-13)।

क्ख∠त्क्ष—हक्खुत्त–उत्पटित∠उत्क्षिप्त।

क्व/ष्क—णिक्खो-चोर काञ्चनम्/निष्क (4-47)।
विक्खभी–स्थानम्/विष्कम्भ.। (7-88)।
स्क/स्क—पडिखवी–जलवहनम्/प्रतिस्कन्धी (6-28)

इस प्रकार मध्यवर्ती स्थिति मे आया हुआ 'क्ख' म भा आ का पूर्णरूपेण अनुसरण करता है।

ग—

यह कोमल तालव्य, नाद, घोप, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शवर्ण है। दे ना मा में 'ग' से प्रारम्भ होने वाले 119 शब्द हैं। आदि, मध्य तथा उपान्त मे सर्वत्र इसकी स्थिति मिलती है।

आरम्भवर्ती स्थिति मे इसमे म भा आ. का 'ग' तथा प्रा. भा. आ. का 'ग्र' प्रतिनिहित मिलता है—

ग— गढो-दुर्गम (2-81), गलिअ–स्मृत (2-81), गवत्त–घास (2-85)
ग/ग्र—गामणी-ग्रामप्रधान/ग्रामणी (2-89), गामहण–ग्रामस्थानम्-/ग्रामस्थानम् (2-90)

मध्यवर्ती स्थिति—

प्र. भा आ. ग—गामगोहो–ग्रामप्रधान (2-89), गागेज्ज–मथित (2-88), गागेज्जा-नवपरिणीता (2-88)।

प्रा भा आ क7 ग–रइगेल्ली–अभिलषित/रतिकेलि (7–3), अगओ–दानव. /अकाय (1–6)

म. मा. आ ग्ग—खग्गिओ–ग्रामेश· (2–69). थग्गया–चचु (5-26)।
ग्र7ग्ग—अग्गवेओ–नदीपूर /अग्रवेग. (1–29)।
ग्न7ग्ग—अग्गिओ-इन्द्रगोपकीट /अग्निकाय (1–53), इदग्गी–तुहिन /इन्द्राग्नि (1–80)।

द्ग्र7ग्ग—उग्गाहिअ–गृहीत/उद्ग्राहितम् (1–137)।
द्ग7ग्ग—ओग्गलो–अल्प स्रोत /उद्गार (1–151)।
र्ग7ग्ग—गग्गरी/गर्गरी (2–89), मग्गो–पश्चात्/मार्गत. (6–111)।

घ—

यह कोमलतालव्य, नाद, घोप, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श व्यजन ध्वनिग्राम है। दे ना मा मे 'घ' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या कुल 6 है।

आरम्भवर्ती 'घ' देश्य शब्दों मे अपने शुद्ध रूप मे मिलता है। कुछ तद्भव शब्दो मे यह 'ग' का स्थानीय है।
प्रा भा आ 'घ'—घडी–गोष्ठी (2·105), घारो प्राकारः (2–108) आदि।
मध्यवर्ती स्थिति—

घ—घघो–गृहम् (2–105). घघारो–भ्रमणशील (2–106)
ग्घ–घग्घर – जघनस्थवस्त्रभेदः (2–107), अग्घाडो—अपामार्ग (बहेडा का वृक्ष) (1–108)

प्रा भा. आ. घ्र7ग्घ अग्घाणो—तृप्तः∠आघ्राणः (1–19),

द्घ7ग्घ – उग्घाओ—सघात ∠उद्घात· (1–126), उद्घुढ्ट–पुसित ∠उद्घुष्टम् (1-99)

'घ' का उपान्त्य प्रयोग भी कम ही है।

चवर्गीय व्यंजन ध्वनिग्राम—

प्राचीन वैयाकरणो ने क वर्ग से लेकर पवर्ग तक के सभी व्यंजनों को स्पर्श सज्ञा दी थी —'कादमामावसाना स्पर्शाः" । स्पर्श वर्णों के उच्चारण मे श्वासवायु को मुख विवर मे आगमन अवरोध और स्फोटन इन तीन स्थितियो से गुजरना पडता है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक सभी वर्गीय पचम वर्णों तथा चवर्गीय व्यजनो को स्पर्श व्यजन नही स्वीकार करते। ये वर्गीय पचम वर्णों को अनुनासिक तथा चवर्गीय व्यजनो को स्पर्श सघर्षी मानते हैं। चवर्गीय व्यजनो के उच्चारण मे श्वास-वायु को सघर्ष कर निकलना पडता है, अत इन्हे स्पर्श संघर्षी ध्वनियो की कोटि मे रखना ही उपयुक्त माना गया है। दे ना मा के शब्दो मे स्पर्श सघर्षी ध्वनियो की प्रकृति निम्न प्रकार है—

च—

यह तालव्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श सघर्षी ध्वनि है। दे ना मा मे 'च' से प्रारम्भ होने वाले कुल 116 शब्द हैं। देश्य शब्दो मे आरम्भवर्ती 'ज' प्रा. भा आ के ही 'च' का अनुगमन है–जैसे—

चउक्क–चत्वरम (3-2), चकप्पा–त्वक् (3–7), चडुला–काचनशृखलालम्बित-रत्नतिलकम् (3–8)।

प्रा भा. आ के 'क' और 'च्य' के स्थानीय आरम्भवर्ती 'च' का देश्य शब्दों मे सर्वथा अभाव है।

मध्यवर्ती और उपान्त रूप मे इस कोश के शब्दो का 'च' प्रा भा आ. के 'च' तथा म. भा आ के 'च्च' का अनुगमन करता है।

च—चचप्पर-अमर्त्य (3-4), चिरिचिरा-जलधारा (3-13)

उपान्त मे चिंचा-अम्लिका (3-10), चिंचिणिचिंचा[1]-अम्लिका (3-10)।

च्च—उच्चारो-विमल (1-97), उच्चुचो-दृप्त- (1-99), विच्चोअओ-उपधानम् (6-68)।

उपान्त मे—विच्चो-चिपिटनास (3-9), चिच्ची-हुतासन (3-10), चोकुच्चो-सस्नेह (3-15)।

प्रा भा. आ त्य7च्च-कच्च-कार्य∠कृत्य (3-2), पच्चुत्थ-बोया हुआ ∠प्रत्युप्त (6-13), सच्चिलअ-सत्य∠सत्य (8-14)।

र्च7च्च—चच्चा-स्थापक ∠चर्चा (3-19) चच्चिक्क-मण्डित∠चर्चिका (3-4)

स्त[2]7च्च—पच्चुहिअ ∠प्रस्नुत (दुहा हुआ) (6-25)।

त्प7च्च—उच्चारिअ ∠उत्पाटित (उखाडा हुआ) (1-14)।

ये सभी विकार म भा आ के अनुरूप ही है।

छ—

यह तालव्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श-सघर्षी ध्वनि है। दे ना मा मे इससे प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या 82 है। देश्य शब्दो मे आरम्भवर्ती 'छ' म भा आ के 'छ' का अनुगमन है। तद्भव शब्दो मे यह प्रा भा आ 'क्ष' 'ष' 'श' का स्थानीय होकर आया है। उदाहरण निम्न है—

छ— छडल्लो-विदग्ध (3-24) छट्टी शैया (3-24),

छटा-विद्युत (3-24) छवडी-चर्म (3-25)।

प्रा भा आ ष7छ छप्पणो-विदग्ध 7षट्प्रज्ञ (3-24)।

श7छ—छल्ली-त्वक्∠शल्य (3-24),

छमलओ[3]-सप्तच्छद ∠शाल्मलि (3-25)।

क्ष7छ—छुरमद्दी-क्षुरहस्त ∠क्षुरमर्द (नापित) (3-31)

छुरहत्थो-नापित ∠क्षुरहस्त (3-31)

छोहो-समूह ∠क्षोभ: (3-39)।

मध्यवर्ती स्थिति और उपान्त मे यह 'छ' और 'च्छ' रूपो मे मिलता है।

---

1 एक ही शब्द मे 3-3 या 4-4 बार एक ही ध्वनिग्राम का प्रयोग 'देश्य' शब्दो की सामान्य विशेषता है। ऐसे शब्दों का मूल ढूंढना या उन्हें किसी भाषा विशेष से सम्बद्ध कर पाना एक दुष्कर ही नहीं असम्भव कार्य है।

2 यह परिवर्तन म भा आ के लिए नवीन वस्तु है।

3 इसे सप्तच्छद से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। म भा आ. में प्रा भा. आ स7छ के भी उदाहरण मिलते हैं—जैसे छुहा∠सुधा।

छ — छिच्छयो देह (3-36) छिछट्टरमरण—चक्षुस्थगनक्रीडा (3-30)
छिछोली—लघुजलप्रवाह (हिन्दी छिछला) (3-27)

च्छ— पडिच्छग्रो—समयः (6-16), पडिच्छदो—मुखम् (6-24), पडिच्छिग्रा-प्रतिहारी (6-21)।

उपान्त मे[1]—ग्रच्छ—ग्रत्यर्थ (1-49), उच्छुच्छ—दृप्त (1-99)
उच्छ—वात (1-85), उच्छुच्छ-दृप्त (1-99) ग्रादि।

प्रा. भा. ग्रा क्ष7च्छ—उच्छिग्रडरण-निमीलनम्∠ग्रक्षिपतनम् (1-39)।
ग्रच्छिहरुल्लो-द्वेष्य ∠ग्रक्षिहर (1-41)।

उपान्त मे भी—कारणच्छी-काराक्षिदृष्ट∠काराक्षि (2-24)।

प्रा भा ग्रा —त्स7च्छ—उच्छगिग्र -पुरस्कृत∠उत्सगित (1-107)
वच्छीउत्तो—नापित ∠वात्सीपुत्र (7-47), (वच्छीवो-गोप ∠वत्सीय (7-41)।

प्रा भा ग्रा थ7च्छ[2]—पच्छेरगय∠पाथेय (6-24)।

ज—

यह तालव्य नाद, घोष, ग्रल्पप्राण निरनुनासिक स्पर्श सघर्षी ध्वनि है। दे. ना. मा. मे ज' से प्रारम्भ होने वाले 73 शब्द हैं। इनमे 13 शब्दो का 'ज' प्रा भा ग्रा के 'य' का तथा 8 शब्दो का 'ज' प्रा भा ग्रा के 'द्य' का स्थानीय है। म भा ग्रा की ही परम्परा मे दे ना मा मे भी 'य' से किसी शब्द का प्रारम्भ नही हुग्रा है। शब्दादि मे यह 'ज' के रूप मे ग्राया है।

देश्य शब्दो के ग्रारम्भवर्ती 'ज' की स्थितियो के उदाहरण इस प्रकार है—

ज — जगल—पकिला सुरा (3-41) जच्चो-पुरुष (3-40) जडिग्र -खचित (3 41)

प्रा भा ग्रा ग7ज—जक्खरत्ती-दीपालिका∠यक्षरात्रि. (343), जवग्रो-यवा-ड्कुर ∠ (3 42), जोव्वरगीर, जोव्वारगवेग्र,
जोव्वरगोवय वय परिरणाम ∠ यौवन· ·· (3-51)।

प्रा. भा ग्रा ज्य7ज—जोइक्खो दीपक ∠ज्योतिष्क (3-49),
जोई- विद्युत∠ज्योति (3-49), जोइस—नक्षत्रम्∠ज्योतिष (3-39)

मध्यवर्ती तथा उपान्त्य 'ज' 'ज' तथा 'ज्ज' दो रूपो मे मिलता है—

मध्यवर्ती-ज-ग्रजराउर—उष्ण (1-45), खजरगो कर्दम (1-69)।

---

1 उपान्त में 'छ' भी 'च्छ' रूप मे ही मिलता है।
2 यह म. भा आ से अलग स्वतन्त्र प्रयोग है।

प्रा भा आ य7ज अजुअलवण्णा-अम्लिकावृक्ष∠अयुक्पूर्ण (1-48),
अजुओ-सप्तच्छ∠अयुक (1-17)।
उपान्त मे-ज-ओहज-नास्तीतिभणितगर्भाक्रीड़ा (1 156), गजो गाल (2-8)
ज्ज–

मध्यवर्ती–उज्जला बलात्कार. (1-97), उज्जूरिअं-क्षीण (1-112)

उपान्त मे–अवरिज्जो–अद्वितीय (1-36), वज्जा–अविकार: (7-32)
मध्यवर्ती 'ज्ज' मे निहित है–
प्रा भा आ—र्य—अज्जो जिन ∠आर्य (1-5), मज्जा सीमा∠मर्यादा (6-113)
प्रा. भा आ.-द्य- खज्जोओ नक्षत्रम्,∠खद्योत (2-69), खिज्जिअं उपालम्भ ∠खिद्य (2-74)।
प्रा भा. आ – र्ज– गज्जणसद्दो मृगवारणध्वनि:∠गर्जन शब्द: (2-88)
मज्जिअं अवलोकित∠मार्जित (6-144)
प्रा भा आ -- ज्य–पेज्जल-प्रमाण (माप)∠प्राज्य (6-57)।
प्रा भा भा. — ज — भाउज्ज∠भ्रातृजाया (6-103)।
प्रा. भा — ह्य— हिज्जो-कल्य (बीता हुआ कल)∠ह्य: (8-67)।
झ—

यह तालव्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श सवर्गी ध्वनि है। दे ना मा मे इनमे प्रारम्भ होने वाले कुल 54 शब्द हैं। इनमे 53 शब्दो मे आरम्भवर्ती 'झ' म भा आ. के 'झ' का अनुगमन करता है। शेष एक शब्द मे यह प्रा भा आ 'क्ष' का स्थानीय है।
प्रारम्भवर्ती—झ –

झक्किअं – वचनीयम् (3-55), झडी–निरन्तरवृष्टि. (3-53)।
प्रा भा आ क्ष7झ-झपणी–पक्ष्म∠क्षप् (3-54)।
मध्यवर्ती 'झ'–झ और 'ज्झ' दो रूपो मे मिलता है–

'झ'—झरझरिआ-झोल्लिका (3-56), झुम्झुमुसय–मनोदु:ख (3-58)।
दे ना मा के शब्दो मे उपान्त्य 'झ' बिल्कुल ही नहीं मिलता।
ज्झ–

मध्यवर्ती – अज्झस्सं–आकृष्ट (1-13), अज्झसिअ – दृष्ट अवज्झस–कटी (1-56), झज्झरी-चाण्डालयष्टि (3-54)
मध्यवर्ती 'ज्झ' मे निहित है –
प्र. भा आ ह्य—अगुज्झहरो-रहस्यभेदी∠गुह्यहर अ उपसर्ग-त्रिविक्रम) (1-43)।

प्रा भा आ —ध्य—मज्झनिश्र मध्य दिनम् (दोपहर) < मध्य दिन (6-124),
मज्झिमगड—उदरम् < मध्यमगण्ड या काण्ड (6-125)

उपान्त मे मिलने वाले —'ज्झ' के उदाहरण ये हैं—

अज्झा — असती (1-50), अविअज्झा नववधू (1-77), सइज्झो प्रातिवेश्मिक—हिन्दी नाझा अवधी मझिया (8-10)।

एक शब्द मे उपान्त्य ज्झ मे निहित है—

प्रा भा आ ध्य--ओज्झ—अपवित्र < अवद्यम् (1-48)।

मूर्धन्य व्यञ्जन ध्वनिग्राम—

दे ना मा. की मूर्धन्यव्यजनो विशेषत ट, ठ, ड, ढ, मे प्रारम्भ होने वाली शब्दावली, अनादिकाल से प्रचलित तथा आर्य भाषाओ द्वारा आर्येतर भाषाओं मे ग्रहण की गयी शब्दावली का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करती है। जहा तक मूर्धन्य व्यंजन ध्वनिग्रामो का सम्बन्ध है इसे परम्परा के सभी विद्वानो ने एकमत से आर्येतर भाषाओ विशेषत द्रविड कुल की भाषाओ की ध्वनियो से गृहीत माना है। भा आ भा के सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थो 'वेदो तथा ब्राह्मणो मे प्राप्त मूर्धन्यवर्णयुक्त शब्दो को या तो द्रविड भाषाओ का ऋण शब्द माना गया या द्रविड प्रभाव से दन्त्यवर्णों का मूर्धन्यीकृत रूप। ऋण शब्दो मे वेद प्रयुक्त अणु, अरणि, कटुक, कूट, कुणारु, कुण्ड, गण इत्यादि तथा ब्राह्मण प्रयुक्त अटवी, आडम्बर, खड्ग, तण्डुल मटकी, मर्कट इत्यादि शब्द है।[1] दन्त्य ध्वनियो के मूर्धन्यीकृत रूप के उदाहरण विकट, कीकट, सकट, प्रकट, गाढ आदि हैं। निष्कर्ष रूप मे श्री चटर्जी का अभिमत है कि— 'हम देखते हैं कि जैसे जैसे आर्य भाषा का विकास आगे बढता है वैसे-वैसे दन्त्यो की जगह मूर्धन्य ध्वनिया बढती जाती हैं। इस विषय में हम अवश्य बाहरी, सम्भवत द्रविड प्रभाव की कल्पना कर सकते हैं।"[2] इस सन्दर्भ मे डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव[3] का भी अभिमत उल्लेखनीय है— 'भारतीय आर्य भाषा में मूर्धन्य ध्वनिया सर्वथा नही थी यह नही कहा जा सकता। द्रविड भाषाओ में टकारादि कोई शब्द नही, पर सस्कृत मे कुछ शब्द हैं। अत इसको मानने मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि प्रा भा. आ. मे अपनी निसर्ग मूर्धन्य ध्वनिया भी थीं जैसे—टक, टकण, टिट्टिभ, टिप्पणी, टीका, घट, वट, पट, डमरु डिंभ, डीन इत्यादि और द्रविड प्रभाव या अन्य विकास शृंखला के प्रभावो से गृहीत तथा मूर्धन्यीकृत

---

1 दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आव बगाली लैंग्वेज' ए. के चटर्जी, पृ. 42।
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—चटर्जी, पृ. 86।
3. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ. 86।

ध्वनियाँ भी ।" दे ना मा. की मूर्धन्य ध्वनियाँ विशेषतः ट, ठ, ड, ढ, भा आ. भा. की निसर्ग मूर्धन्य ध्वनियों के अधिक समीप है, इस कोटि के शब्दों मे से अधिकांश शब्दों का सम्बन्ध द्रविड भाषाओं मे न होकर सामान्य रूप से विकसित परम्परित ध्वनियों मे है । इस सदर्भ मे डा वीरेन्द्र श्रीवास्तव का अभिमत उपयुक्त है ।

ट—

मूर्धन्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शध्वनि है । दे. ना मा. मे इससे प्रारम्भ होने वाले 21 शब्द है । इनमे एक भी शब्द ऐसा नही है जिसे 'तद्भव' की कोटि मे रखा जा सके । इन शब्दो का आरम्भवर्ती 'ट' ध्वनिग्राम प्रा. भा आ. के निसर्ग सिद्ध मूर्धन्य 'ट्' का ही अनुगमन करता है ।

आरम्भवर्ती स्थिति— टक्कारी—अरणिकुसमम् (4-2), टमरी-केशचय (4-1), टारो,—असमतुरङ्ग (4-2), टिप्पी—तिलकम् (4-3) ।

मध्यवर्ती स्थिति तथा उपान्त मे यह 'ट' और ट्ट' दो रूपो मे म भा. आ के ही 'ट्' और 'ट्ट' का अनुसरण करता है—

मध्यवर्ती 'ट'—कटाली—कण्टकारिका (2-4), कटोल-ककोड (एक वृक्ष) (2-7), छिट्टरमणम्-चक्षुस्थगन क्रीडा (3-30) ।

मध्यवर्ती 'ट्ट' मे प्रतिनिहित है—

मा भा आ. 'ट्ट'—अट्टट्टो-यात (1-10), कुट्टयरी—चण्डी (2-35), टट्टइयातिरस्करिणी (4-1) ।

प्रा भा आ —र्त-कट्टारी-क्षुरिका∠कर्त्तरी (2-4), वूलीवट्टो-अश्व ∠धुरीयवर्तः (5-61), पयट्टिओ-प्रवर्तित ∠प्रवर्तित (6-26) ।

प्रा भा आ —त—ओहट्टो-अपसृत;∠अपहृतः (1-66), वोसट्ट—सूनोल्लुठित∠विकसित सि. है 4-256 (6-81) ।

प्रा. भा आ.—र्तृ—भट्टिओ-विष्णु∠भर्तृक (6-100) ।

प्रा भा आ —च्य—रोट्ट तन्दुलपिष्ट∠रुच्य (6-11) ।

उपान्त मे 'ट'—टुंटो-छिन्नकर (4-3), टेंटा-द्यूतस्थान (43), कुंटी पोट्टल (2-34) ।

—ट्ट—टसरोट्ट-शेखरः (4-1), फोट्टी-अर्वमहिषी (3-59), कंदोट्ट-नीलोत्पल (2-9) ।

ठ—

यह मूर्धन्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श ध्वनि है । प्रा भा भा. में इससे प्रारम्भ होने वाले शब्दो की संख्या अत्यल्प है । ठक्कुर, ठार,

ठानिनी (आप्टे संस्कृत कोश) आदि जो शब्द हैं वे भी देश्य ही लगते हैं। यहा यह ध्वनि प्राय. दन्त्य व्यजनो के मूर्धन्यकृत रूप मे ही मिलती है। म भा आ में भी यह प्राय: मूर्धन्यकृत रूप मे ही व्यवहृत हुई है जैसे सस्कृत की 'स्था' धातु प्राकृत मे 'ठा' हो गयी है। दे ना मा मे 'ठ' ध्वनि से प्रारम्भ होने वाले कुल 9 शब्द हैं जिनमे कुछ ही शब्दो जैसे ठल्लो-निर्धन (4-5), ठिवक-शिश्नम् (4-5) मे ही यह ध्वनि शुद्ध रूप मे मिलती है। शेष शब्दो मे इसकी शुद्धता सदिग्ध है। इन सभी को 'स्थ' के मूर्धन्यीकृत रूप मे देखा जा सकता है।

प्रारम्भवर्ती स्थिति—

प्रा भा आ ठ—ठरिअ–गौरवित (4-6), ठिविअ–ऊर्ध्वम् (4-6)[1]।

प्रा भा आ. स्थ7ठ—ठविआ-प्रतिमा ∠ स्थापिता (4-5), ठाणिज्जो-गौरवित ∠स्थानीय (4-5) ठाणो-मान ∠स्थान (4-5)।

मध्यवर्ती स्थिति—'ठ' औ 'ट्ठ'

प्रा भा. आ. –ठ– कटकु ची--गले मे बधे वस्त्र की गाठ (2-18), कठिओ दौवारिक: (2-15)

,, थ7ठ '' गेंठुओ-वक्ष:स्थल के वस्त्र की गाठ∠ग्रन्थि (2-13)

मध्यवर्ती 'ट्ठ' मे प्रतिनिहित है—

प्रा भा आ —सत—ऊहट्ठ ∠उपहसित (-1-140), ओहट्ठो∠उपहसित (1-153)।

,, ,, –स्थ– चदट्ठिआ-भुजशिखर∠चन्द्रस्थिता (3-6)।

,, ,, –ष्ठ– पिट्ठ त-गुदा∠पृष्ठान्त (6-49), सुरजेट्ठो-वरुण ∠सुरज्येष्ठ (8-31)

,, ,, –ष्ट– रिट्ठो-काक ∠अरिष्ट (7-6) पीलुट्ठ-जलाहुआ∠प्लुष्ट (6-51)

,, ,, –थ– पत्तट्ठो-बहुशिक्षित ∠प्राप्तार्थ (6 69)।

शब्दो के उपान्त मे 'ठ' ध्वनिग्राम अपने सर्वथा शुद्ध रूप मे प्राप्त होता है—जैसे-

कठो-सूकर (2-51) गु ठी-घू घट (2-90), गु ठो-अधमहय (2-91) मेठी, मेठो (6-138)।

'ट्ठ' — अगुट्ठ-अवगु ठव (1-6), णिव्विट्ठे–उचित (4–34) 'दहिट्ठो—कथित्थ. (5–35)।

---

1 उदाहरण के इन दोनो शब्दो की ध्वनिग्रामिक शुद्धता सन्देह से परे नही है। इन्हें मूर्धन्यीकृत रूप मे भी लक्षित किया जा सकता है। आरम्भवर्ती शुद्ध 'ठ' ध्वनिग्राम ठल्लो और ठिक्क दो ही शब्दो से मिलता है।

ड—

यह मूर्धन्य, नाद घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शवर्ण है। दे ना मा में डकार से प्रारम्भ होने वाले कुल 36 शब्द हैं। इन शब्दों में 'ड' व्यंजन ध्वनिग्राम अपने मूल तथा मूर्धन्यीकृत दोनों ही रूपों में मिलता है। एक शब्द डोग्गण (4–9) लोचन, में यह प्रा भा आ के 'ल' का स्थानीय है। श्री पी वी रामानुज स्वामी 'डोग्गण' शब्द को स लोचन से निष्पन्न करते हैं।[1]

प्रारम्भवर्ती स्थिति में 'ड'[2] और 'ड्ड'

प्रा भा आ –ड– अडणी–मार्ग (1–16), अडयणा अडया-असती (1-18), अडाडा बलात्कारः (1-64)।

प्रा भा आ.—'ड्ड'—डड्डणो–वृद्ध (1-123), डड्डसो–मत्कुणः (1–96), डड्डहणो–चौर (1-101)।

मध्यवर्ती-'ड्ड' में प्रतिनिहित है

प्रा भा आ –द्द– डड्डाणो–प्रतिशब्द ८उद्दाणो (त्रिविक्रम) स ८उद्वदन्(1-128)

प्रा भा आ. र्द– उम्मड्डा –बलात्कार ८उन्मर्द (1-97), डिड्डिरो भेक. दर्दुर (4-9)।

प्रा भा आ –त– कुड्ड–आश्चर्यम्८कौतुक (2-33), खड्डा–खानि:८खात (2-66)

प्रा. भा. आ –ट– कुड्डगिलोई-गृहगोधा८कुट–गिल (2-19)

प्रा भा आ –न्थ-गड्डी–यान८गन्त्री (2–81)

उपान्त में 'ड' और 'ड्ड' के उदाहरण इस प्रकार हैं—

—ट—अग्घाडो-अपामार्ग (1-8), अणडो–जार (1-18), अवडो–(1-16)

—ड्ड-आयड्डी-विस्तार (1–64)।

ढ—

यह मूर्धन्य नाद, घोष, महाप्राण तथा निरनुनासिक स्पर्श वर्ण है। दे ना. मा. में ढकार से प्रारम्भ होने वाले कुल 22 शब्द हैं। इन शब्दों में एक भी शब्द

---

1 दे ना मा प्रस्तावना पृ. 41।

2 मध्यवर्ती स्थिति में 'ड' कहीं कहीं प्रा भा आ के 'ट' का स्थानीय होकर भी व्यवहृत हुआ है जैसे–कडशी८कट्। प्राकृत 'टोड' सूत्र भी यही निर्दिष्ट करता है।

ऐसा नहीं है जिसका आरम्भवर्ती 'ढ' प्रा भा आ 'घ' का स्थानीय हो।[1] मध्यवर्ती स्थिति मे कहीं-कहीं यह 'ठ' का स्थानीय होकर आया है। इस दृष्टि से सभी शब्द निश्चित रूप से 'देश्य' प्रकृति के हैं।

आरम्भवर्ती स्थिति मे 'ट' प्रा. भा. आ. और मा. भा. आ का ही अनुगमन है—

—ढमरी–वीणा भेद (4-14), ढढरो-पिशाच (4-16), ढढो-पङ्गु (4-16)

मध्यवर्ती स्थिति मे 'ढ' और 'ड्ढ' की स्थिति इस प्रकार है—

ढ— घाडिय-इष्टम् (1-74), कण्णेढत्ती—दत्तकर्णा (2-22), गुढय-चुल्ली (2-63)।

ड्ढ— अड्ढअवकली-कट्याहस्तनिवेश (1-45), इदड्ढलओ-इन्द्रोत्थापनं (1-82), उड्ढलो-उल्लास (1-91)।

मध्यवर्ती–'ड्ढ'–मे अन्तर्निहित है–

पा भा आ.—ग्ध—ओड्ढ रक्तम्∠अवदग्ध (1-156), उड्ढाडी-दवमार्ग∠दग्ध (4-8),

प्रा. मा. आ — र्ध —वड्ढइओ-चर्मकार∠वर्धक (6-44), वड्ढइओ, वड्ढवण-वस्त्राहरण∠वर्धापन (7-87)।

उपान्त से 'ढ' और 'ड्ढ' के प्रयोग के उदाहरण इस प्रकार हैं–

–ढ– उव्वाढ विस्तीर्ण (1-129), उव्वीढ उत्खातम् (1-100), कगढो-दधिकलशी (2-55)।

–ड्ढ–ओवड्ढी पारिधानैकदेशः (1-151) ढड्ढो-भेरी (4-13), वेअड्ढ भल्लातकम् (7-66)।

ण—

यह मूर्धन्य, नाद, घोष, महाप्राण, सानुनासिक स्पर्शवर्ण है। मा भा. आ. की 'नोणः सर्वत्र' (प्रा प्र 2-42) मान्यता के आधार पर देशीनामाला की शब्दावली मे भी सर्वत्र 'न' के स्थान पर 'ण' का ही व्यवहार किया गया है। इसके कुछ अपवाद आर्ष प्राकृत (अर्धमागधी) तथा सरह के दोहा-कोश मे मिलते हैं। इन अपवादो के अतिरिक्त सर्वत्र 'न' को 'ण' ही मिलता है। उत्तरी पश्चिमी और दक्षिणी पश्चिमी प्राकृत मे तो निश्चित रूप से 'न' का 'णत्व' विधान है। देशीनाममाला के शब्दो का सम्बन्ध प्रकृत्या इन्हीं प्राकृतो और अपभ्रंशो से है। पश्चिमी

---

1. म भा आ में घ7ढ के अनेकों उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं जैसे घृष्ट7ढीठ। दे ना मा में भी कमढो∠कमठ. (2-55)।

अपभ्रंश के अन्य ग्रन्थों, संदेशरासक और पाहुडदोहा आदि की भी यही स्थिति है। इन अपभ्रंश से प्रभावित गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं में आज भी 'न' के णत्व विधान की प्रवृत्ति स्पष्ट ही देखी जा सकती है। मध्यदेश तथा प्राच्य देश की संस्कृत से प्रभावित भाषाओं में यह प्रवृत्ति कम हो गयी है। संस्कृत के अनुरूप ही हिन्दी आदि भाषाओं में 'ण' का प्रारम्भिक प्रयोग लगभग नहीं ही होता। मध्यवर्ती स्थिति में भी यह प्राय. मूर्धन्यीकृत रूप में ही व्यवहृत होता है। केवल उपान्त में यह सुरक्षित है। आजकल हिन्दी तथा उसकी बोलियों में इसे भी 'न' के रूप में व्यवहृत किया जा रहा है। जैसे वीणा7वीना। देशीनाममाला में 'ण' से प्रारम्भ होने वाले 169 शब्द हैं, जिनमें कुछ का मूल तो निश्चित रूप से म भा. आ के रास्ते प्रा. भा आ में ढूंढा जा सकता है केवल अर्थ अलग होने के कारण हेमचन्द्र ने इन्हें 'देश्य' कह दिया है। 'ण' से प्रारम्भ होने वाले देश्य शब्दों की संख्या भी पर्याप्त है।

आरम्भवर्ती स्थिति में 'ण' म भा आ. के 'ण' का अनुगमन है—अधिकतर शब्दों में यह प्राकृत 'णत्व' विधान के रूप में ही व्यवहृत है—

'ण' – णाओ-गर्विष्ट: (4-23), णीरंगी-शिरोवगुण्ठनम् (4-31), णिहुआ-कामिता (4-26)।

मध्यवर्ती 'ण' और 'ण्ण' म. भा आ का ही अनुगमन करते हैं—

–ण–अणप्पो-खड्ग (1-12), अणराहो–शिरसिचित्रपट्टिका (1-24), अणिल्ल-प्रभातम् (1-19)।

मध्यवर्ती 'ण्ण' में प्रतिनिहित है—

म भा आ ण्ण–अण्णाण-विवाहवधूदानम् (1-7), कण्णासो-पर्यन्त (2-14), प्रा भा आ न्न–उण्णमो-समुन्नत 7उन्नम (1-88), ओसण्ण–त्रुटित7अवसन्नम् (1–56), अण्णइओ–तृप्त.7अन्नचित् (1–19)।

प्रा भा. आ –न्य–अण्णमय-पुनरुक्त7अन्यमयम् (1-28)।

" "–ग्न– उव्वुण्ण-उद्विग्न 7 उद्विग्न (1–123)।

" "–र्ण— कण्णवाल-कुण्डलादिकर्णाभरण7कर्णवाल[1] (2-23) कण्णोल्ली-चञ्चु.7कर्णालि–(2-57)।

" "–क्ष–जण्णोहणो—राक्षस 7यज्ञहन् (3-43)।

---

1. 'वाल तद्भव शब्द है—हिन्दी का 'बाला' या 'बाली' पद इसी से संबद्ध है।

उपान्त में 'ण' और 'ण्ण' की स्थिति म भा आ की ही अनुगमन करती है।

—ण— गहण–गिरितटम् (1-10), अइणाणी–इन्द्राणी (1-58), अगहणो–
कापालिकः (1-31)

—ण्ण— अण्णी–देवरभार्या (1-51), घण्णो-उर (1-105), वहुण्णी ज्येष्ठभार्या
(7-41)।

ण्ह ध्वनिग्राम की उपस्थिति –

आ भा. आ मे 'न्ह' व्यजन ध्वनिग्राम को सत्ता अलग ही मानी जा रही है। अधिकाश भाषा वैज्ञानिक इसे सयुक्त ध्वनि न मानकर एक स्वतत्र ध्वनिग्राम मानने के पक्ष मे है। इस स्वतत्र व्यजन ध्वनिग्राम का मूलश्रोत म भा. आ मे खोजा जा सकता है। यहा यह 'ण्ह' के रूप मे विद्यमान है यद्यपि यह अधिकाश स्थलो पर ध्वनि-परिवर्तनो के कारण है फिर भी इस ध्वनिग्राम की सत्ता अलग निर्धारित की जा सकती है। देशीनाममाला की शब्दावली मे इस व्यजन ध्वनिग्राम का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। यह ध्वनिग्राम मध्यवर्ती और उपान्त दो ही स्थितियो मे प्राप्त होता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

म भा आ ण्ह—उण्हिआ–कृसरा (खिचडी) (1-88), गेण्हिअ–उर सूत्रम् (2-94), जण्ह लघुपिठरम् (3-51), जण्हवी–नीवी (3-40), तुण्हो-सूकर (5-14), पिण्ही–क्षामा (6-46) सण्हाई–दूती (8-9) सिण्हा—हिमम् (8-53)।

ये कुछ ऐसे उदाहरण हैं— जिनमे 'ण्ह' व्यजन ध्वनिग्राम की स्थिति स्पष्ट दिखायी देती है। इनके अतिरिक्त कुछ शब्दो मे यह व्यजन ध्वनिग्राम प्रा भा आ ष्ण, स्न आदि व्यजन सयोगो के परिवर्तित रूपो मे भी मिलता है, जैसे —

प्रा भा आ ष्ण7ण्ह—उण्होदयभडो–भ्रमर ∠उष्णोदयभण्डः (1-20),
तुण्हिक्को–मृदुनिश्चल ∠तूष्णीक (4-15)।

प्रा. भा आ स्न7ण्ह—अण्हेअओ–भ्रान्त ∠ अस्नेह (कः) (1-21), पण्हओ-स्तन-धारा∠प्रस्तुत (6-3)।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि देशीनाममाला के अधिकांश 'देश्य' शब्दो मे मिलने वाला 'ण्ह' आ भा आ के स्वतत्र व्यजन ध्वनिग्राम 'न्ह' के मूल मे देखा जा सकता है। मध्यदेश की तथा प्राच्य भाषाओ मे यही 'ण्ह', 'न्ह' के रूप मे परिवर्तित होकर प्रचलित है। उत्तरपश्चिमी तथा दक्षिण पश्चिमी भाषाओं

मे 'ण्ह' की स्थिति अति सुलभ है। यहा यह म भा आ का ही अनुगमन करता है। प्रा भा आ से लेकर आ भा आ. तक इसके विकास की अवस्था एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट की जा सकती है—

प्रा भा आ. कृष्ण म भा आ. कण्ह आ भा. आ. कान्ह।

*दन्त्य या वर्त्स्य व्यंजनध्वनिग्राम—*

म भा आ के दन्त्य व्यजन ध्वनिग्रामो की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए डा वीरेन्द्र श्रीवास्तव लिखते है—"जिह्वाग्र या जिह्वानीक द्वारा ऊपर के दातो के स्पर्श से मुखविवर मे आती हुई श्वासवायु का अवरोध होकर स्फोटन होता है। दन्त के अग्र, मध्य और मूल का विभिन्न वर्णो मे उपयोग होता है। ऋक्-प्रातिशाख्य ने तकारवर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूलीय बताया है (दन्तमूलीयस्तु-तकार वर्ग' 1-19) अब भी त और थ इसी तरह के वर्ण हैं। द और ध के उच्चारण मे दन्त के मध्य और न के उच्चारण मे अग्रभाग का उपयोग होने लगा। पाणिनीय शिक्षा मे सभी के लिए सामान्य दन्त्य शब्द का प्रयोग है।[1] आ. भा. आ मे दन्त्य कहे जाने वाले वर्णो का उच्चारण वर्त्स्य हो गया है। दे. ना मा के दन्त्य-वर्णो की प्रकृति म भा आ की ही है। दन्त्यो मे केवल त, थ, द, ध वर्णों का ही प्रयोग हुआ है। न सर्वत्र 'ण' हो गया है, यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है।

त—

यह दन्त्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्श वर्ण है। देशीनाममाला मे 'त' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की सख्या 110 है। आरम्भवर्ती स्थिति मे यह म भा आ के 'त' का ही अनुगमन है। मध्यवर्ती स्थिति मे कही, कही म भा आ. के अनुरूप ही यह 'द' का स्थानीय होकर व्यवहृत हुआ है। इस कोश के शब्दो मे इसकी विभिन्न स्थितिया इस प्रकार है।

आरम्भवर्ती —त— तहरी-पङ्किलसुरा (5-2), तलारो, नगररक्षक. (5-3), तुंगी[2]-रात्रि (5-14), तुण्हो-मूकर (5-14)।

मध्यवर्ती —त—त

---

1. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन पृ 93
2. तमिल मे 'तुङ्गु' का अर्थ 'सोना (क्रिया) है। इस शब्द को तमिल की सम्पत्ति माना जा सकता है।

—त— अतरिज्ज-कटीसूत्रम् (1-35), अतेल्ली-मध्यम (1-55), उड्तण–उत्तरीयम् (1-103)।

मा भा आ द7त—मज्भतिम्र ∠मध्य दिनम् (6-124)।

ज7त—मनी–विवाहगणक ∠मन्त्री (6-111)।

—त्त—उच्चत्तवरत्त–पार्श्वयो स्थूलम (1-139) खित्तय-अनर्थः (2-79) गत्ताडी-गायिका (2-82)।

मध्यवर्ती-त्त- मे प्रतिनिहित है—

प्रा भा आ क्त- ओसित्त–अवलिप्त∠अवसिक्तम् (1-158)।

,, ,,—द- गवत्त–घास ∠गो+अद् (2-85)।

,, ,, –प्त– पत्तट्ठो बहुशिक्षित ∠प्राप्तार्थः (6-68), सत्तावीसजोअणो-इन्दु ∠सप्तविंशतियुज् (8-22)।

,, ,, –त्र– वच्छीउत्तो–नापित ∠वात्सीपुत्र (7-47)।

,, ,, –तृ– वरइत्तो–अभिनववर ∠वरयितृक (7-44)।

उपान्त मे त और त्त के उदाहरण इस प्रकार है—

–त– अद्धतो-पर्यन्त (सीमा) (1-8), ओसायतो-जृम्भालसः (1-170) कडत–मूलशाकम् (2-56)।

–त्त– अणुमुत्ती अनुकूल (1-25), अत्ता-जननी (1-5), अप्पगुत्ता–केंवाच (1-29), कत्ता-कौडी (2 1)।

थ—

यह दन्त्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्शवर्ण है। देशीनाममाला मे 'थ' मे प्रारम्भ होने वाले कुल 47 शब्द हैं। प्रा भा आ (सस्कृत) मे 'थ' ध्वनि से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या अतिस्वल्प है।[1] म. भा. आ. मे 'थ' का प्रयोग प्राय प्रा. भा आ. 'स्थ' 'स्त' तथा 'त्स' आदि के स्थान पर हुआ है। देशी-नाममाला के तद्भव शब्दो मे यह स्थिति ज्यो की त्यो है। देश्य शब्दो मे 'थ' व्यजन ध्वनिग्राम का प्रयोग परिशुद्ध रूप मे हुआ है।

आरम्भवर्ती स्थिति मे 'थ'—

थक्को- अवसर. (5-24), थव-विषमम् (5-24), थवो पशु–(5-24)। प्रा. भा आ. त्स7थ थरू–तलवार की मूठ∠त्सरुः (5-24)।

---

1. आप्टे ने अपनी सस्कृत डिक्शनरी (पृ 489) में थर्व, थुथ, थुड्, थूत्कार, थैथै–कूल इतने ही शब्द 'थ' से प्रारम्भ होने वाले बताया है।

प्रा भा आ. स्त्य– थिण्णे-नि स्नेहहृदय ∠स्त्रीर्ण. (5-30), थिमिअ-स्थिरम्∠स्तिमित (5-27), थेवो-बिन्दु ∠स्तव (5 29)।

प्रा भा आ स्थ –थिरसीग्रो-निर्भीक ∠स्थिरशीर्ष (5-31), थेरो–ब्रह्मा∠स्थविर (5-29), थेरासणपद्मम्∠स्थविरा-सनम् (5 29)।

प्रा भा आ न्त्र –थूणी–तन्तुवायोपकरणम्∠तूणी।

पूरे देशीनाममाला कोश मे मध्यवर्ती तथा उपान्त्य स्थितियो मे 'थ' व्यजन-ध्वनिग्राम का सर्वथा अभाव है। इन दोनो स्थितियो मे यह सर्वत्र सयुक्त व्यजन ध्वनिग्राम 'त्थ' के रूप मे व्यवहृत हुआ है।

मध्यवर्ती 'त्थ' — अत्थक्क अनवसर (1-14), अत्थुवड–भल्लातकम् (1-23) उत्थल्लपत्थल्ला-पार्श्वद्वयेनपरिवर्तनम् (1-122)।

मध्यवर्ती 'त्थ' मे प्रतिनिहित है —

प्रा भा आ 'स्तृ'–अत्थारो-सहायम∠आ+स्तृ[1] (1-9)।

" " 'स्थ'–अत्थुड-लघु∠अस्थूल (1-9), उत्थग्घो–सम्मर्द –∠उत्+स्थग् (1-93)।

" " 'स्त'–चत्थरी-हास ∠चस्तरि (3-2), पत्थरा–चरणाघातः∠प्रस्तरा (6-8)।

" " 'स्त्र'–वत्थउडो—वस्त्राश्रय ∠वस्त्र-उटज (7-45)।

" " 'र्थ'–निद्धत्थो–रुद्र ∠निद्धार्थ (8-31)।

प्रा भा आ. 'र्त्त' – अगुत्थल-अगुलीयम्∠अगुष्ठ (1-31)।

उपान्त्य मे 'त्थ' के उदाहरण इस प्रकार है —

उद्दत्थो–विप्रलब्ध (1-96), ओलत्थो-विदारित (1-56), ओत्थिग्र–निबिड (1-168)।

द—

यह दन्त्य नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्श वर्ण है। देशीनाममाला मे 'द' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या 118 है। इनमे केवल दो ही शब्द ऐसे है जिनका प्रारम्भवर्ती 'द' प्रा भा. आ 'ज्य' का स्थानीय है वे है-दोसणिज्जो∠ज्योत्स्नावत (5-51) तथा दोसिणी∠ज्योत्स्ना (5-50)। इनके अतिरिक्त अन्य सभी शब्दों का 'द' प्रा भा आ के 'द' का ही अनुगमन है।

---

1 स्तृ' हिंसायाम्।:

आरम्भवर्ती 'द' — दय–जलम् (5-33), दर – अर्धम् (5-33), दसू-शोक (5-34)।

आरम्भवर्ती 'द' मे प्रतिनिहित है—

प्रा भा. आ –द्व–दुग्घट्टो-हस्ती ∠द्वि + घुट्ट (5-44), दोग्ग–युग्मम् ∠द्विक (4-49), दूणो-हस्ती ∠द्विपान (5-44)।

प्रा भा आ – द्र – दुद्दोली–वृक्षपक्ति ∠द्रुदोली (5-43)।

मध्यवर्ती स्थिति मे 'द' और 'द्द' म भा आ के ही अनुकरण हैं—

—द— आरदर-अनेकान्तम् (1-78), आहुदुरो-पुच्छ (1–66), कदल–कपालम् (2-4)।

—द्द— अद्दणो–आकुल (1-15), अवद्दुस-उलूखलादि (1-30), उद्दामो–सघात (1-126)।

मध्यवर्ती 'द्द' मे प्रतिनिहित है—

प्रा भा आ – त् + द–उद्दरिअ ∠उत् दारितम् (1-100), उद्दिसिअ –उत्प्रेक्षितम् ∠उत + दिश (1–109), तद्दिअस-अनुदिवस ∠तत्दिवसम् (5-8)।

प्रा भा आ - र्द-कद्दमिओ–महिप ∠कर्दमित. (2-15), गद्दभो-कटुध्वनि ∠गार्दभ्य (2-82)।

प्रा भा आ –'ब्द'–गज्जणमद्दो-मृगवारणध्वनि: ∠गर्जनशब्द: (2-88), सद्दाल-नूपुरम् ∠शब्दाल (8-10)।

प्रा भा. आ –द्व–धूमद्दार–गवाक्ष ∠धूमद्वारम् (5-61)।

प्रा भा आ –द्र[1]–समुद्दणवणीअ -अमृत ∠समुद्रनवनीतम् (8-50), समुद्दहर–पानीयगृह ∠समुद्रगृहम् (8-21)।

उपान्त मे 'द' और 'द्द' के प्रयोग के उदाहरण इस प्रकार हैं—

—द— कदी मूलशाकम् (2-1), कदो–दृढ (2-51), कलयदी–पाटला–(2-58)

—द्द– उद्द–जलमानुषम् (1-123), कुद्द-प्रभूतम् (2-34), गज्जणसद्दो-मृग-वारणध्वनि. (2-88)।

ध—

यह दन्त्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श ध्वनि है। देशीनाममाला मे 'ध' से प्रारम्भ होने वाले कुल 39 शब्द हैं। इनमे केवल दो ही शब्दो,

---

1 दे ना मा 7/80 में 'वोद्रहो' (तरुण) शब्द आया है। इस शब्द का मध्यवर्ती 'द्र' प्रा भा आ के अनुरूप है अत इस शब्द को तत्सम कहा जाना चाहिए। म भा. आ द्र7द ही सर्वत्र मिलता है।

–घुग्घराओ-भ्रमर < घूर्वराग (5-57) तथा घूणी-गज < म्यूण (5-60) मे 'व' क्रमशः प्रा. भा. ग्रा 'घ्र' और 'म्य' का स्थानीय है। शेष सभी शब्दो की आरम्भवर्ती स्थिति में यह न भा आ के 'व' का ही अनुगमन है। मध्यवर्ती और उपान्त स्थितियो मे भी 'घ' का प्रयोग है। म. भा आ की घोष महाप्राण ध्वनियो को 'ह' कर देने की प्रवृत्ति[1] के यह सर्वथा विपरीत है। 'देश्य' शब्दों की यही तो विलक्षणता है कि वे अधिकांश रूप मे म. भा आ की व्याकरणिक प्रक्रियाओ और ध्वनिपरिवर्तनो से प्रभावित होते हुए भी कही-कहीं अपनी सर्वथा विपरीत स्थिति का प्रदर्शन करते है।

आरम्भवर्ती- घ- घर तूलम् (5-7), वाडी-निरस्तम् (5-59), घूमरी-नीहार. (5-61)।

मध्यवर्ती स्थिति मे 'घ' और 'द्घ' पूर्णत. म भा आ का ही अनुगमन करते हैं—

—घ— इर्वगिघूम तुहिनम् (1-80), कायवुओ–कामिज्जुलाख्य. पक्षी (2-29), 'कुघरो लघुमत्स्यः (2-32)।

द्घ— उद्दच्छविग्र'-सज्जितम् (1-119), उद्घाओ–विषमोन्नतप्रदेश· (1-124), णिद्धमो अनिग्नगृहः (4-38), दोद्धिओ चर्मकार. (5-44)।

मध्यवर्ती द्घ में प्रतिनिहित है —

प्रा भा आ - र्घ-अद्घविअग्र-मन:करणम् < अर्वाक्षिकम् (1-34),
अद्धजघा–मोचकम् (जूता) < अर्धजघा (1-33)।

" " - ग्घ-दुग्घविग्रमुद्दो-वाल < दुग्धगविकमुख (5-40)।

" " - घ्व-घूमद्धयमहिसीओ-कृत्तिका'_घूमध्वजमहिष्य. (5–62)।

उपान्त मे 'घ' और 'द्घ' के उदाहरण इस प्रकार है—

—घ— चउरंघिघो–मातवाहन (3–7), छेघो–श्यामक. (3–39), पटिखघ-जलवहनम् (6–28)।

'द्घ— प्राग्द -मनूष्णा (1–75), आविद्ध –प्रेरितम् (1–63), खद्ध -मुक्तम् (2-67)

न—

देशीनाममाला मे' न व्यंजनध्वनिग्राम का सर्वथा अभाव है। भरत के समय से ही प्राकृतो मे 'न' को 'ण' कर देने की प्रवृत्ति चल पडी थी। स्वय हेमचन्द्र ने भी अपने व्याकरण ग्रन्थ के 'वादौ' (1-129) सूत्र मे प्राकृत शब्दो मे 'न' की स्थिति

1. [illegible] (2-27)

स्वीकार की है। यही स्थिति लगभग सभी वैय्याकरणो की रही है। जहा तक 'देश्य' शब्दों का प्रश्न है, हेमचन्द्र ने इनमे 'न' की स्थिति स्वीकार नही किया। देशीनाममाला की 63 वी कारिका की वृत्ति (पृ० 208) मे उन्होंने स्पष्ट कह दिया —

"नकारादयस्तु (शब्दा:) देश्यामसभविनएवेति न निवद्धा:। यच्च 'वादो' सूत्रितमस्माभिस्तत्संस्कृतभवप्राकृतशब्दापेक्षया न देश्यपक्षेयेति सर्वमवदातम्।"

इस प्रकार देश्य शब्दो मे सर्वत्र 'न' को 'ण' ही मिलता है। फलत: देशीनाममाला मे न तो नकारादि कोई शब्द है और न ही किसी अन्य स्थिति मे इसका प्रयोग ही है। इससे सबधित अन्य तथ्यो का विवेचन पीछे 'ण' ध्वनिग्राम की चर्चा के वीच किया जा चुका है।

प—

यह ओष्ठ्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शवर्ण है। देशीनाममाला मे 'प' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या 393 है। आरम्भवर्ती स्थिति का 'प' पूर्णरूपेण म. भा आ के 'प' का अनुगमन है,—जिसमे प्रा भा आ 'प्र' भी प्रतिनिहित है—

प—पक्खरा–तुरगसंनाहः (6-10), पज्जा–अधिरोहिणी (6-1), पडवा-पटकुटी (6-6), पडाली-पक्ति (6-9)।

प्र7प–पच्चुत्थ-वोया हुआ/प्रत्युप्तम् (6-13), पडिच्छदो-मुखम्/प्रतिच्छन्द. (6-24), पण्हओ-स्तनधारा/प्रस्नुत (6-3)।

मध्यवर्ती स्थिति मे 'प' और 'प्प' दोनो म भा आ. का ही अनुगमन करते हैं—

प— अपारमग्गो-विश्राम: (1-43), उप्पुल्लो-अपूप (1–134), कडपडवा-यवनिका (2-25)।

—प्प— अप्पज्झो आत्मवश. (1-14), उप्पेहड-उद्भट· (1-116), कुप्पढो-गृहाचार (2-36)।

मध्यवर्ती 'प्प' मे प्रतिनिहित है—

प्रा. भा आ. त्प–उप्पको–पङ्क/उत्पङ्क· (1-30), उप्पीलो-संघात· /उत्पीड या पिण्ड (1-126)।

" " र्प–कप्परिअं–दारितम्/खर्पर (2-20)।

" " प्र–वप्पो–सुभट /वप्र (6-88), बप्पिणी-क्षेत्रम्/वप्र या वप्रि (7-85)।

उपान्त के 'प' और 'प्प' के उदाहरण इस प्रकार है—

प—    छुपा—तृणादिकृत वृष्टिनिवारणम् (2-75), गुंपा-विन्दुः (1-101), वेलुप-मुसल (3-1)।

प्प—    अप्पो-पिता (1-6), ओप्पा शाण पर मणि को चमकाना (1-148) कटप्पो-निकर. (2-13)।

फ—

यह ओष्ठ्य, अघोष, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्शवर्ण है। देशीनाममाला में 'फ' से प्रारम्भ होने वाले कुल 35 शब्द हैं। ये सभी शब्द 'देश्य' प्रकृति के हैं।

प्रारम्भवर्ती-फ—फुक्का-मिथ्या (6-84), फेलाया-मातुलानी (6-85), फोफा-भीषयितु शब्द (6-86)।

मध्यवर्ती 'फ' और 'प्फ' पूर्णरूपेण स. भा. आ का अनुगमन करते हैं—

फ—    वफाटी-गृहा (2-7), कुलफलणो-कुलकलङ्कः (2-42), गुफगुमिय-सुगन्धि (2-93)।

प्फ—    अप्फुण्ण-पूर्ण (1-20), उप्फालो-दुर्जन. (1-90), चप्फल-शिरोमाला (3-20)

मध्यवर्ती 'प्फ' में प्रतिनिहित है—

म. भा. आ —त्प—उप्फंदोलो—चल <उत्पन्द (1-102),

णिप्फंसो-निर्दय <निर् स्पर्श (4-37)।

स्फ—उप्फोसो उद्गम <उत्स्फोट (1-91)

गल्लप्फोडो-गल्ल <गल्ल स्फोटक (2-86), पप्फोडिअं-निष्फोटितम् <प्रस्फोटित (6-27)।

ष्प—दविडप्फ <द्रविपुष्पम् (मत्स्यन) (5-35), देवडप्फ <देवपुष्पम् (5-49) दप्फाडग अतिमयोष्णम् <वाष्पाकुलम (6-29)।

[illegible] 'फ' और 'प्फ' के उदाहरण मिलते हैं—

फ—    [illegible] (2-91), गुफो-गुप्ति (2-90), फोफा-भीषयितु शब्द (6-86)।

प्फ—    [illegible] (5-35), देवडप्फ-दत्त्वपुष्पम् (5-49), पुप्फा-[illegible] (6-57)।

ब—

यह ओष्ठ्य, नाद, घोष, अल्पप्राण निरनुनासिक स्पर्श वर्ण है। देशीनाममाला मे 'ब' से प्रारम्भ होने वाले कुल 68 शब्द हैं। इनमे अधिकतर शब्दो का प्रारम्भ 'ब' अपने परिशुद्ध रूप मे है। कुछ ही तद्भव शब्द ऐसे हैं जिनमे ब 'व' का स्थानीय होकर प्रयुक्त हुआ है। म. भा. आ. मे 'ब' और व एक दूसरे मे परिवर्तित कर दिए जाने की परिपाटी अति सामान्य है।[1] प्राच्य प्रदेशो मे 'व' को 'ब' उच्चारण करने की अधिक प्रवृत्ति है इसके विपरीत पश्चिमी प्रदेश मे वकार बहुलता है। देशीनाममाला के शब्दो का सम्बन्ध पश्चिम प्रदेश से ही है। यही कारण है कि जहा इसमें 'व'-आदि शब्द 357 हैं, वहाँ 'ब' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या केवल 68 है और इनमे भी कई शब्दो का 'ब' प्रा भा आ. 'व' स्थानीय है।

प्रारम्भ मे ब—बमालो-कलकल (6-90), बालो-सुभग (6-97),
बोडो-धार्मिक (6-96), बोदर-पृथु (6-96)।

प्रा. भा. आ 'व'—बप्पो-सुभट या पिता < वप्र (6-88), बोक्कडो-छाग < वर्कर (6-96)।

,, ,,—[illegible]

मध्यवर्ती स्थिति मे 'ब' और 'म्ब' दोनो ही विशुद्ध देश्य प्रकृति के है।

—ब—अंबेट्टी-मष्टि (1-16), अबुसू-शरभ (1-11), उंबर-बहु (1-90)

—म्ब—अम्बुसमिणी-म्लानमालिकाप्राप्ति (1-42), उम्बुक्क-प्रलपितम् (1-128), उम्बुरी-[illegible] (1-126)।

उपान्त मे 'ब' का प्रयोग पर्याप्त मात्रा मे है जबकि 'ब्ब' का प्रयोग अत्यल्प है।

ब— आबद-भूमिस्तम्भम् (1-64), उब-बन्धनम् (1-86), उबी-पक्वगोधूम (1 86)

ब्ब—पिब्ब[2]-जलम् (6-46)

भ—

यह ओष्ठ्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक महाप्राण ध्वनि है। 'देशीनाममाला मे'भ' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या 65 है। प्राकृत भाषाओं मे 'भ' को प्राय 'ह' हो गया है, परन्तु देशीनाममाला के शब्दो मे सभी स्थितियो

---

1 प्राकृतकाल मे प को व (पीर्य प्रा प्र 2-15) उच्चारण करने की प्रवृत्ति के कारण 'ब' को 'व' उच्चारण करने की प्रवृत्ति को अधिक बल मिला होगा।

2 उपान्त मे 'ब्ब' के कम उदाहरण मिलने का प्रमुख कारण है 'ब्ब' का 'व्व' रूप में व्यवहार किया जाना है।

मे 'भ' सुरक्षित है। इसे पश्चिमी प्राकृतों पर प्रा भा आ का प्रभाव कहा जा सकता है। आरम्भवर्ती भ-पूर्णरूपेण म. भा आ. के 'भ' का अनुगमन करता है—

-भ- भाइल्लो-हालिक (किसान) (6-104), भल्लु की-शिवा (6-101), भेडो-भीरु (6-107)।

प्रा भा. आ-अ7भ—भाउज्जा-भाभी ∠भ्रातृजाया।

,, भृ7भ—भिंग-कृष्णमृभृङ्ग (6-104), भिंगारी-चीरी ∠भृङगारी

मध्यवर्ती 'भ' और 'ब्भ' म भा आ का ही अनुगमन करते हैं—

-भ- अभिण्णपुडो रिक्तपुट. (1-44), कटभुअं कुटकण्ठ (2-20), कुंभिलो चौर (2-62)।

-ब्भ- अब्भायत्तो-प्रत्यागतः (1-31), उब्भग्गो-गुण्ठित (1-95), छोब्भ त्थ-अप्रियम् (3-33)।

मध्यवर्ती ब्भ मे प्रतिनिहित है—

प्रा भा. आ-अ- अब्भपिसाओ-राहु ∠अभ्रपिशाचः (1-42)।

" द्भ- उब्भालन-शूर्पादिनोत्पवनम् ∠उद्भालन (1-103) जिण्णोब्भवा दूर्वा ∠जीर्णोद्गवा (4-46)।

" क्ष- छोब्भो-पिशुन ∠क्षुब्ध (3-33)॥

" र्भ- णिब्भुग्गो-भग्न ∠निर्भग्न (4-32)।

देशज मे भी 'भ' और 'ब्भ' के प्रयोग मिलते हैं—

-भ- कडिल्लभो-कटीन्यस्तोहस्त. (2-17), कुंभी-सीमान्तालकादि वेशरचना-(2-34), चभो हलस्फाटितभूमिरेखा (3-1)।

-ब्भ- इब्भो-वणिक् (1-79), छोब्भो-पिशुन (3-33), वब्भो (चमड़े की बद्धी) वध्र (6-88)।

म—

यह ओष्ठ्य, नाद, घोष, अल्पप्राण सानुनासिक स्पर्शवर्ण है। देशीनाममाला मे 'म' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की संख्या 196 है। इन शब्दो का आरम्भवर्ती 'म' पूर्णरूपेण म भा आ का अनुगमन है। कुछ शब्दो मे यह प्रा भा आ-मृ-का रूपान्तर है।

-म- मुग्ग नकुलम् (6 137), मेढो-वणिक्सहाय. (6-138), मेठो-हस्तिपक (6-138)।

प्रा भा आ - मृग-मओ-मृग ∠मृग (1-141), मट्टा-बलात्कार ∠मृद् (6-

[illegible] (6-130)

[illegible] अनुगमन करते हैं—

[illegible] (1-67), [illegible] प्रविष्ट (1-144),

[illegible] (1-31) ।

[illegible] (1-49), घम्मोउी मध्याह्न

[illegible] (4-34) ।

[illegible]

[illegible] (1-97), उम्मत्तो [illegible]

[illegible] (1-1? ) ।

[illegible] (1-99) ।

[illegible] (2-79), दुम्मुघो-मर्कट [illegible]

[illegible] दुमहिली (5-47) ।

[illegible]

[illegible] (1-32) ।

[illegible]

[illegible] उच्चारण म्ह हो

[illegible] का प्रयोग कई शब्दों में हुआ

[illegible] स्थानीय न होकर अपनी अलग

[illegible] एक स्वतन्त्र ध्वनिग्राम के

[illegible] किन्तु देशीनाममाला के शब्दों

[illegible] इसका प्रयोग प्रायः मध्यवर्ती स्थिति

[illegible]—

[illegible] (1-117) [illegible] (आटे की चक्कीवाला)

[illegible] (6-13), वम्ह—वल्मीकम्

(? ), [illegible] (6-3), [illegible] शब्दों में 'म्ह' का प्रयोग एक

(7-31), [illegible] (7-33) । [illegible]

[illegible] देखा जा सकता है ।

[illegible] उदाहरण इस प्रकार हैं—म—आयामो-

[illegible] (2-86), तमो-शोक (5-1) ।

[illegible] (1-6?), [illegible] (2 90), पालीहम्म-वृत्ति (मेड़)

म्म— [illegible] (1-5), [illegible]

(6-45), [illegible] मातुलानी (6-112) ।

---

1. [illegible] 4-4 2 ।

अन्तःस्थ व्यंजन—

ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार स्पर्श तथा ऊष्म वर्णों के बीच में स्थित वर्ण अन्तःस्थ वर्ण है ।[1] य, र, ल, व-इन चार वर्णों को अन्तःस्थ बताया गया । इन्हें अर्द्धस्वर भी कहा जाता है क्योंकि इन उच्चारण का आरम्भ स्वरस्थिति से होता है और अन्त में ये आगामी स्वर और व्यंजन की स्थिति में चले जाते हैं । य का सम्प्रसारण 'इ', व का उ र का ऋ तथा ल का लृ इनकी स्वरात्मकता को और भी स्पष्ट कर देता है । म भा आ में इन अर्द्धस्वरों में केवल 'य' और 'व' का प्रयोग मिलता है । इनमें भी 'य' प्रायः श्रुति ध्वनि के रूप में ही व्यवहृत हुआ है । म भा. आ में ऋ और लृ का प्रयोग लगभग समाप्त ही हो गया । अतः र और ल अर्द्धस्वर न रहकर पूर्ण व्यंजन ध्वनियों के रूप में व्यवहृत होने लगे । देशीनाममाला के शब्दों में व्यवहृत इन अन्तःस्थ ध्वनियों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

य—

ऊपर यह कहा जा चुका है कि 'य' अर्द्धस्वर है म भा आ में इसका प्रयोग स्वतन्त्र व्यंजन के रूप में न होकर श्रुति के रूप में हुआ है । इसके साथ ही कुछ अपवादों (जैसे अर्ध मागधी आदि) को छोड़कर शब्दों के प्रारम्भ में इसका प्रयोग भी नहीं हुआ है । म भा आ का आरम्भवर्ती य 'ज' हो गया है । यह 'ज' व्यंजन ध्वनि के विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है । दे. ना मा के शब्दों में भी 'य' की स्थिति पूर्णरूपेण म भा आ का अनुगमन करती है । इन शब्दों में 'य' का प्रयोग मध्यवर्ती और उपान्त्य स्थितियों में प्रायः श्रुति के रूप में हुआ है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मध्यवर्ती—य— श्रुति—

गणयमहो-विवाहगणक (2-86), जीवयमई-मृगाकर्षणहेतुर्व्याधमृगी (3-46),

णायमुद्दिणा अगुणीयत्वम (5-9), पायड-अट्टालनम् (6-40) ।

उपान्त्य-य-(श्रुति)—

गुज्य-स्खलितम् (2-71), कुप्पुल्लय-साण्डकर्माणितम् (2-109)' णारयाहर उर्मि (3-6), णण्णाय-आर्द्रम् (5-2) ।

व—

देशीनाममाला में 'व' का प्रयोग शुद्ध दन्त्योष्ठ व्यंजन 'व', 'व' श्रुति तथा

1. [illegible] स्थितोऽन्तस्था । ऋ. प्रा. 1.12

ओष्ट्य 'व' के स्थानीय 'व', इन तीन रूपो मे हुआ है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि म भा आ काल मे पश्चिमी भाषाओ मे 'वकार' बहुलता पायी जाती है। दे ना मा के शब्द इसी क्षेत्र की भाषाओ से सबद्ध लगते हैं। इन शब्दो मे 'व' व्यजनग्राम अपनी अर्धस्वरता से परे शुद्ध व्यञ्जन ध्वनिग्राम के रूप मे व्यवहृत है जो प्रकृति की दृष्टि से दन्त्योष्ठ्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक तथा अन्तस्थ वर्ण है।[1] देशीनाममाला मे 'व' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या 3?7 है। इसकी विभिन्न स्थितियो के उदाहरण इस प्रकार हैं—

आरम्भवर्ती स्थिति मे व म भा आ के 'व' का ही अनुगमन करता है जनमे प्रतिनिहित है प्रा भा आ 'प' 'व' तथा 'वृ' आदि।

-- व—वनेवडू-सूकर (7-42), वणवो-दवाग्नि (7-?7) 'वणसवाई-कलकठी (7-52)।

प्रा मा आ—प7व वइरोडो-जार ∠पति-रोट् (7-42),

,, , व7व वप्फाउल∠वाष्पाकुलम् (6-92), वफिअ-मुक्तम्∠वप्सित।

,, ,, वृ7व—वाडी वृत्ति ∠वृत्तिः (7-43), वट्टा-पन्था.∠वृत् (7-31)।

,, ,, व्र7व विलिअ लज्जा∠व्रीडित।

,, ,, व्य7व—वावडय विपरीतरतम्∠व्यावृतक (7-58), वाविअ—विस्तारितम्∠व्यापित (7-57)।

मध्यवर्ती स्थिति मे व और व्व पूर्णतया म भा आ· का ही अनुगमन करते हैं।

—व— अग्गवेओ-नदीपूर (1-29) अवरिक्को-क्षणरहित. (1-20), ओवरो-निकर (1-157)।

—व्व— उव्वत्त-नीरागम् (1 29), कव्वाडो दक्षिणहस्त (2-10), कव्वाल-कर्मस्थानम् (2-52)।

मध्यवर्ती—व्व—मे प्रतिनिहित है—

प्रा भा आ त्+व - उव्वाहिओ—उत्क्षिप्त ∠उत्+वह (1-106)।

प्रा मा आ द्व—उव्वुण्ण∠उद्विग्नम् (1-123)

,, —व्र—तिव्व-दुर्विषहम्∠तीव्र (5-11)।

उपान्त मे 'व' और 'व्व' के प्रयोग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

— व—कावी-नीलवर्णा (2-36), कूवो[2] हृतानुगमनम् (2-62), खेवो-वामकरः (2-77)।

---

1 दे ना मा के शब्दो मे अनुनासिक व (वँ) का बिल्कुल ही प्रयोग नहीं है। यह प्रयोग अपभ्रंश मे अनादिसयुक्त मकार के स्थान पर प्राय पाया जाता है—जैसे-कँवलु∠कमल।

2 उपान्त मे व' के अधिकाश प्रयोग 'श्रुति' के रूप मे देखे जा सकते हैं। ऊपर के उदाहरणों मे 'कूवो', 'खेवो' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

है। ऋक्प्रातिशाख्य मे 'र' की भांति इसका भी उच्चारण स्थान दन्तमूल है। पाणिनि इसे दन्त्य बताते है। प्रा भा प्रा. मे इसका उच्चारण वर्त्स्य है। डा. धीरेन्द्र श्रीवास्तव म. भा. प्रा (अपभ्र श) मे इसका उच्चारण वर्त्स्य ही निश्चित करते हैं। उनका मन्तव्य है कि-"प्रा भा के आधार पर अपभ्र श मे र की तरह (ल का) उच्चारण स्थान वर्त्स है। उच्चारण प्रयत्न की दृष्टि से यह पार्श्विक वर्ण है और इसे तरल ध्वनि कहा जाता है। मुख विवर मे आती हुई श्वास वायु को मध्यरेखा पर अवरुद्ध करके जिह्वापार्श्व से निकलने दिया जाता है।"[1] देशीनाममाला के शब्दो मे प्रयुक्त 'ल' भी बहुत कुछ म भा प्रा की ही प्रकृति का है। इस कोश मे 'ल' से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की संख्या 66 है। इसकी विभिन्न स्थितियो के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं-

प्रारम्भवर्ती स्थिति-

लमकं तरुक्षीरम् 7-18), लसुग्रं तैलम् (7-18), लयण-तनु (7-27)

विशेष-देशीनाममाला के शब्दो मे 'र' तथा 'ल' के विशुद्ध प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि इन शब्दो का प्रयोग म भा प्रा काल की पश्चिमी भाषाओ या बोलियो मे होता रहा होगा। इस कोश मे 'र' तथा 'ल' से प्रारम्भ होने वाला कोई एक भी शब्द ऐसा नही है जिसमे दोनो वर्ण क्रमश एक दूसरे के स्थानीय होकर आये हो। पतजलि के समय (150 ई पू) से ही यह प्रसिद्धि चली आ रही थी कि पूर्व के निवासी 'र' को ल' कर देते हैं तथा पश्चिम के निवासी 'ल' को 'र' करके (परिष्कृत रूप मे) बोलते हैं। मध्यदेश मे 'र' और 'ल' प्रयोग होता है। इस दृष्टि से देशीनाममाला के शब्द विशुद्ध 'र' और 'ल' ध्वनियो के प्रयोगो से युक्त है। इनमे न तो कही 'र' और 'ल' का स्थानीय है न ही 'ल' 'र' का स्थानीय है।

मध्यवर्ती -ल- अलय-विद्रुम (1-16), उवलय-सुरतम् (1-117), ओलइणी-प्रिया (1-169)।

—ल्ल— अल्ललो-मयूर. (1-48), ओल्लणी मार्जिता (कढी), (1-154), वक्कल्लय-पुरस्कृतम् (7-46)।

मध्यवर्ती 'ल्ल' मे प्रतिनिहित है —

प्रा भा. प्रा -ल्ल- उल्लुहिग्र-सचूर्णितम् ⁄ उत्-लुट् (1-109), उल्लेहडो-लम्पट' ⁄ उत्-लिह (1-104)।

" " -रर- उल्लूढो-आरूढ! ⁄ उत्-रुह् (1-100)।

---

1. अपभ्र श भाषा का अध्ययन, पृ 19

पदेनों को प्राकृतों में अपवाद रूप से 'श' भी सुरक्षित रहा–जैसे मागधी प्राकृत में। देशीनाममाला मे भी दो ही ऊष्म ध्वनिया 'स' और ह मिलती हैं।[1] क्रम से इनका विस्तृत विवरण नीचे दिया जा रहा है।

स—

यह दन्त्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक ऊष्म वर्ण है। देशीनाममाला मे इससे प्रारम्भ होने वाले शब्दो की सख्या 298 है। प्रारम्भवर्तीस्थिति मे यह म भा आ के 'स' का ही अनुगमन है जिसमे प्रतिनिहित हैं—'श' 'स' 'स्व' आदि।

स— सुरो-गोपाल (8-33), सूई-मञ्जरी (8-41), सूरणी-कन्द (8-41)
प्रा. भा आ स7स सुरवारी सखी ∠सुलवारिणी (8-42), सेल्लो-मृगशिशु ∠शल्य (8-57), साराडी-आटि (एक चिडिया) ∠शराटि∠ (8-24)।
प्रा भा. आ स7स—सोत्ती-नदी∠स्रोतस्।
,, ,, स्व7स—साउल्लो अनुराग ∠स्वादु।
,, ,, श्र7स सेट्ठी-सामेत ∠श्रेष्ठिन्।
मध्यवर्ती स्थिति मे 'स' और स्स' पूर्णरूपेण म भा आ. का अनुगमन करते है—
–स– अज्झसिअ—दष्ट्रम (1-30), ओसरण–उद्वेग (1-155),
कासिअ सूक्ष्मवस्त्रम् (2-59)।
–स्स– कस्सय-प्राभृत (भेंट) (2-12), णिस्सक्को-निर्भरः (4-32), णिस्सरिअ-ग्रस्तम् (4-40)
उपान्त मे 'स' और 'स्स' के प्रयोग के उदाहरण इस प्रकार है—
–स– अंबुसू-शरभ (1-11) आवेसी गृहद्वारफलहकः (1-8), ओहसो-चन्दनम् (1-168)।
–स्स– अज्झस्सं—आक्रुष्टम् (1-13), कस्सो–पङ्क (2-2)।

ह–

यह कण्ठ्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक, ऊष्म वर्ण है। उच्चारण मे स्वास का सघर्षण होने के कारण इसे सघर्षी ध्वनि भी कहा जाता है। प्रातिशाख्यो मे इसे कण्ठ्य या उरस्य बताया गया है। सम्भवतः उस समय इसका उच्चारण स्वरयन्त्रमुख (काकल) मे होता रहा होगा। सस्कृत मे यह कण्ठ्य हो गया है।

1. श और ष के स्थान पर सर्वत्र 'स' ही का व्यवहार हुआ है।

म भा आ ने भी इसकी संस्कृत की ही स्थिति रही। यह ध्वनि दो प्रकार की स्वीकारी गयी है (1) प्रत्येक वर्गीकरण महाप्राण व्यंजन (द्वितीय तथा चतुर्थ) के अन्त में सुनायी पडने वाली अन्तिम प्राणध्वनि या ऊष्म ध्वनि (2) शुद्ध संघर्षी ध्वनि। यही कारण है कि म भा आ मे उच्चारण सौकर्य को दृष्टि मे रखते हुए वर्गीय महाप्राण व्यंजनों ख घ थ ध और भ (इन्ही के अनुकरण पर फ भी) को 'ह' कर दिया गया। देशीनाममाला के शब्दो मे निहित 'ह' ध्वनि म भा आ की 'ह' ध्वनि का पूर्णतया अनुगमन करती है। इस कोश में–ह–से प्रारम्भ होने वाले शब्दो की संख्या कुल 90 है। इस की विविध स्थितिया नीचे दी जा रही हैं।

प्रारम्भवर्ती स्थिति मे 'ह' म भा आ का ही अनुगमन है जिसमे प्रतिनिहित है–

शुद्धमहाप्राणध्वनि–ह–' ये सभी शब्द 'देश्य' प्रकृति के हैं — म भा आ के तद्भव शब्दो की भाति इस आरम्भवर्ती देश्य ह मे, प्रा भा आ भ, घ, फ, स, स्क आदि प्रतिनिहित नहीं है। कुछ उदाहरण यहा दिये जा रहे हैं—

हक्कप्पो बहुभाषी (8-61), हरी-शुक (8-59), हलहल–कुतुक (8-74), हाराहणो मानिक (आटा इकट्ठा करने वाला) (8-75)।

मध्यवर्ती तथा उपान्त्य स्थिति मे –ह– पूर्ण रूपेण म भा आ के ह 'का' अनुगमन करता है – जिसमे प्रतिनिहित है—

—ह– अमीहरी-दूती (1-35), अरिहइ-नूनम् (1-22), अहिरो–ईश्वरः (1-10), दहरो-शिशु (4-8)।

प्रा भा आ –ख– दुम्मुहो मर्कट < दुर्मुख (5-44), धूमसिहा-नीहार < धूमशिखा (5-61), मुहल < मुखम् (6-134)

" घ– अणह < अनघम् (1-13), अह < अघम (1-6), जहणरोहो-ऊरु < जघनरोह (3-44), जहणूसव अरोंगम् < जघनांशुक (3 45)

" –थ– जहाजायो जड < यथाजात (3-41) पाहेज्ज < पाथेयम् (6-24)

" ध– अणुवहुणा < नवबधू (1-48), दहिउप्फ-नवनीतम् < दधिपुष्पम् (5-35) दहित्थारो < दधिसर (5 36)।

प्रा भा आ —भ—कहुओ-कुक्कुर (2-75)।

" भ—णाहि म < नाभिदाम (4 24), णाहिविच्छेओ-जघा < नाभिविच्छेदक (4-24), णिहुअ-निर्व्यापारम् < निभृत (4 50)।

" –स्क– [illegible] < [illegible] (2-90)

स— णिहसो-निदेश < [illegible] (4-37)।

अ भा. आ प  पच्चूहो-रवि·<प्रत्यूष (6-5)।
"  गृ —मणिणायहर-समुद्र·<मणिनागगृह (6-128)।
उपान्त्य में मूर्द्ध प्राणध्वनि –ह्–के कुछ उदाहरण ये है—

उत्तुहो-मतट. कूप. (1-94), गणायमहो-विवाहगणक· (2-86), गामणीहो-ग्रामप्रधान. (2-89), चीही-मुस्तोद्भवतृण (3-14)

निष्कर्ष—

देशीनाममाला के शब्दो मे प्रयुक्त व्यंजन ध्वनि ग्रामो की प्रकृति का विस्तृत विवेचन ऊपर किया गया। इसे दृष्टि मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ध्वनियो के प्रयोग की दृष्टि मे म भा. आ. काल की देश्य शब्दावली पूर्णरूपेण इस काल की प्राकृत और अपभ्रंश कही जाने वाली भाषाओ से कही भी अलग हटकर नही है। इन देश्य शब्दो मे प्रयुक्त कुछ नवीन सयुक्त ध्वनिया ण्ह, म्ह, ल्ह, आदि अवश्य आ भा आ मे व्यवहृत होने वाली, न्ह, म्ह, ल्ह, ढ आदि ध्वनियो के विकास की कडी के रूप मे देखी जा सकती है। आ भा आ की 'ड' ध्वनि के विकास की पूर्वावस्था भी इन देश्य शब्दो मे व्यवहृत ड' ध्वनिग्राम के प्रयोग के रूप मे देखी जा सकती है। डा. वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने झाडी गाडी आदि देश्यपदो मे—'ड' की पूर्वस्थिति माना है उनका मन्तव्य है कि इन पदो को लिखा भले ही सस्कृत के प्रभाव के कारण (ड) जाता रहा हो पर इनका उच्चारण निश्चित ही 'ड' की तरह होता रहा होगा।[1] देशी शब्दो पर विस्तार के साथ विचार करते समय यह बताया जा चुका है कि 'देश्य' शब्द परम्परा प्रचलित ग्रामीण अशिक्षित लोगो की बोलियो के शब्द हैं। इन ग्रामीण बोलियो मे जिन ध्वनियो का व्यवहार होता रहा उन्ही का साहित्यिक भाषाओ मे भी व्यवहार हुआ। भाषाओ मे समय-समय पर होने वाले ध्वनि परिवर्तनो मे 'देश्य' शब्द भी प्रभावित होते रहे। अत ध्वनियो के प्रयोग की दृष्टि से साहित्यिक भाषाओ के शब्दो और 'देश्य' शब्दो के बीच कोई विभाजक रेखा नही खीची जा सकती। केवल अर्थ ही इनका विभेदक हो सकता है। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि ध्वनिग्रामिक प्रयोगो की दृष्टि से देशीनाममाला की शब्दावली पूर्णरूपेण म भा आ का ही अनुगमन करती है यदि और भी स्पष्ट कहा जाय तो इस दृष्टि से देश्य शब्द प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के ही अंग हैं।

व्यंजन परिवर्तन —

देशीनाममाला की शब्दावली (विशेषतया तद्भव) मे व्यजन-परिवर्तन की

---

1 अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ 107

निम्नलिखित दिशाएं परिलक्षित की जा सकती हैं। इन व्यंजन-परिवर्तनों के ठीक विपरीत देश्य शब्दावली की स्थिति है। इन शब्दों में म भा आ. के अनुरूप व्यजनों को परिवर्तित न कर या उनका लोप न कर, ज्यों का त्यों लिखा गया है— जैसे— [illegible], तोनडो, तुरी, पलही, पारी, वोदर, वोलो, महरो, मरालो, मरो, रुवी, गोट्ट, गोट्टी इत्यादि अनेकों देश्य शब्द हैं, जो व्यजन-विकार, लोप, आगम आदि क्रियाओं से परे अपने प्राचीन रूप में सुरक्षित हैं। म. भा आ. की व्यजन परिवर्तन प्रणाली केवल तद्भव और कुछ तद्भववत् देश्य शब्दो पर ही प्रभाव डालती है। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में ये सभी शब्द भी 'देश्य' ही हैं (अर्थ की दृष्टि से)। अत: यहां भी ऐसे शब्दों को 'देश्य' मानकर म भा आ के अनुरूप इनमे व्यजनपरिवर्तन की दिशाओं को लक्षित किया जा रहा है।

1 लोप—

(क) आदिव्यञ्जनलोप–थिरणामो/स्थिर-नास्ते (त्रिविक्रम), थिरसीसो/स्थिरशीर्षः थेरो/स्थविर, थोरो/स्थूल ।

(ख) मध्यव्यजनलोप–अइरजुवई/अचिरयुवती, ओआअओ/अपा-तप, रइलक्ख/रतिलक्ष्यम्, रुहरुइआ/रुहरुहिका ।

व्यञ्जन लोप की विविध दिशाओं के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं।

2 आगम—

(क) आदिव्यजनागम-आदि व्यजनागम की प्रवृत्ति देशीनाममाला के किसी भी शब्द में नहीं है। एक शब्द में अ के स्थान पर 'ह' का आगम है–अच्छिहरुल्लो/[illegible]।

(ख) मध्यव्यजनागम–मध्यव्यजनागम की प्रवृत्ति भी नहीं है।

(ग) अन्त्यव्यञ्जनागम–म भा आ की प्रकृति के अनुरूप ही देशीनाममाला के शब्दों में भी प्राय अन्त्यव्यजन के लोप की प्रवृत्ति है। सभी शब्द स्वरान्त ही हैं।

3. विपर्यय—

जैसे [illegible]/[illegible], तुण्हिक्को/तूष्णीकः

4 समीकरण—

देशीनाममाला के शब्दों में पुरोगामी और पश्चगामी दोनों ही प्रकार के समीकरणों का बाहुल्य है जैसे–[illegible]/आ[illegible]म्, अग्गपग्घो/अग्रग्रघः, अग्गहत्थ/[illegible], [illegible]/[illegible]म्, उम्मुरो/उन्मुर, गद्दभो/गार्दभ्य आदि।

5 घोषीकरण—

अघोष महाप्राणवर्ण प्राय' ह मे बदल गये हैं। इनके सघोषमहाप्राण वर्णों मे परिवर्तित होने के उदाहरण लगभग नही है। सघोष महाप्राण वर्णों घ, झ, ढ, ध, भ की मूलस्थिति ही सर्वत्र देखी जा सकती है। म. भा आ से इन सभी को 'ह' मे परिवर्तित कर देने की प्रवृत्ति रही है। देशीनाममाला के तद्भव शब्दो मे इनकी परिवर्तित स्थिति है, पर देश्य शब्दो मे ये वर्ण आदि मध्य, और अन्त्य तीनो स्थितियो मे अपने मूल रूप मे विद्यमान है। इनका विस्तृत विवरण व्यजनो की प्रवृत्ति का विवेचन करते समय दिया जा चुका है।

(क) अघोष अल्पप्राण क, च, ट, त, प, को सघोष अल्पप्राण ग, ज, ड, द, ब मे परिवर्तित कर देने के उदाहरण नही हैं।

(ख) अघोष महाप्राण ख, छ, ठ, थ, फ, को सघोष महाप्राण घ, झ, ढ, ध, भ, मे घोषीकृत करने के उदाहरण भी नही हैं। इनमे ख, थ, फ को 'ह' मे परिवर्तित करने के उदाहरण मिल जाते हैं–जैसे–

ख– दुम्मुहो<दुर्मुख, धूमसिहा<धूमशिखा, मुहल<मुखम्।
थ– जहाजाओ<यथाजात., पाहेज्जं<पाथेयम्।
फ– खलुहो<गुल्फ।

6. महाप्राणीकरण –

जैसे-थरू<त्सरु, थोओ< स्तेप या स्तोक।

व्यंजन-सयोग —

देशीनाममाला की शब्दावली मे निम्नलिखित व्यजन सयोग प्राप्त होते हैं—

प्रबलसंयुक्तव्यजन--

क्क, क्ख, ग्ग, ग्घ, च्च च्छ, ज्ज, ज्झ, ट्ट, ट्ठ, ड्ड, ड्ढ, त्त, त्थ द्द, द्ध, प्प, प्फ, ब्ब, ब्भ।

जैसे—

एक्केक्कमं, कक्खडी, अग्गवेओ, अग्घाडो उच्चारो, उच्छट्टो, उज्जडं, उज्झमणं, कट्टारी, णिट्ठुहो, कुड्डगिलोई, अड्ढअक्कली, अत्त, अत्थयारिआ, षद्दे छद्दणो, अद्धविआर, अप्पगुत्ता, अप्फुण्ण, अब्बुद्धसिरीं, अब्भक्खणं,

आंतर संयुक्त व्यंजन—

ण्ग, ण्ह, म्म, म्न, म्ह, ल्ल, ल्ह, व्व, स्म ।

जैसे—अप्पगाण, उण्हिआ, अम्मा, वमणी (वम्मणी), उम्हाविअ, अल्ल, कोल्हाहल, इन्दत्त, णिम्मणो ।

निरनुस्वार संयुक्त व्यंजन—न्त, न्द, न्थ । परन्तु इन्हें सर्वत्र अनुस्वार रूप मे ही लिखा गया है । जैसे—

अंतोहरी, कुंददंअ वधू । न्थ संयोग मिलता तो है, पर ण्ठ रूप मे परिवर्तित होकर ।

संयुक्ताक्षर—

संयुक्ताक्षरों क्ष, ज्ञ, तथा म्ह, ल्ह आदि का विवेचन पीछे व्यजनो के विवेचन मे बीच विस्तार से किया जा चुका है । इस दृष्टि से किया गया देशी-नाममाला की शब्दावली का अध्ययन कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम समक्ष नही लाता । व्यंजनो के विकार की लगभग सभी दिशाएं म. भा आ. जैसी ही हैं ।

---

## अध्ययन

1. पदग्राम—भाषा की लघुतम अर्थवान् इकाई को पदग्राम कहते हैं। एक पदग्राम के एक या अनेक सहपदग्राम होते हैं। ये सहपदग्राम परिपूरक वितरण में होते हैं।"[1]

पदग्रामिक अध्ययन की दृष्टि से देशीनाममाला की शब्दावली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार के अध्ययन से ही इस कोश के शब्दो का सबध किसी युग विशेष की भाषा से जोड़ा जा सकता है। 'देशीनाममाला' केवल नामपदो का सग्रह ग्रन्थ है। इन्ही नामपदो का शास्त्रीय विवेचन ही यहा अभीष्ट है। निरुक्तकार यास्क ने पद समूह के चार विभाग किये हैं— 1 नाम, 2 आख्यात, 3. उपसर्ग, 4. निपात। सत्त्वप्रधान अर्थात् द्रव्यप्रधान पद नाम हैं। भावप्रधान अर्थात् क्रिया प्रधान पद आख्यात कहलाते हैं। अर्थद्योतक पद उपसर्ग हैं तथा सपाती और पदपूरक पद निपात कहलाते हैं।

देशीनाममाला की शब्दावली का सम्बन्ध प्रथम वर्ग की शब्दावली से है। इसके अन्तर्गत, सज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण पदो का समाहार किया जाता है। आख्यात अर्थात् क्रियापदो का प्रयोग देशीनाममाला की शब्दावली मे नही के बराबर है जो है भी, कृदन्ती प्रयोगो के आधार पर विशेषण या क्रिया विशेषण रूप मे है। उपसर्ग सज्ञाओ के व्युत्पादक अभिन्न अग बनकर आये हैं। मुक्त रूप में अर्थवान् न होते हुए भी ये पद-बद्ध होकर अर्थवान् हो जाते हैं। अत इनका विवेचन व्युत्पादक प्रत्ययो के रूप मे किया जाना चाहिए। निपातो की स्थिति देशीनाममाला की शब्दावली मे नही है अत. इनका विवेचन यहा किये जाने वाले अध्ययन का विषय नही होगा।

शब्दो का स्वरूप·

भाषा मे किसी भी प्रातिपदिक या धातु का स्वतत्र प्रयोग सभव नही होता। सस्कृत मे तो यह नियम ही था—"नापदशास्त्रे प्रयुञ्जीत"। निर्विभक्तिक-पद भाषा का अग ही नही बन सकता। पाणिनि ने तो सुबन्त या तिङन्त होना, पद का लक्षण ही बताया है।[2] जहा विभक्तियो का कोई लक्षण उपस्थित नही होता वहा भी विभक्तियो का लोपप्रदर्शित कर, पद को विभक्त्यन्त बनाकर प्रयोग करने की प्रवृत्ति है।[3]

---

1 कबीर की भाषा—डा माताबदल जायसवाल, पृ. 51 पर दी गयी पाद टिप्पणी।
2. सुप्तिङन्त पदम्। पाणिनि 1।4।14
3. अव्ययादाप्सुप। पाणिनि 2।4।82

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी भाषा में व्यवहृत होने वाले पदों में प्रत्यय प्रक्रिया अनिवार्य है। देशीनाममाला की शब्दावली में भी प्रत्यय प्रक्रिया इसके पदात्मकगठन का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमे सकलित सभी शब्द प्रथमान्त, एकवचन हैं। इनके लिंग निर्णय में भी प्रत्यय ही सहायक हैं।

कार्यव्यापार की दृष्टि से प्रत्यय प्रमुखत दो प्रकार के होते हैं :—

(1) व्युत्पादक प्रत्यय
(2) विभक्ति प्रत्यय

(1) व्युत्पादक प्रत्यय—

वे प्रत्यय हैं जो किसी धातु अथवा प्रातिपदिक के पूर्व या पश्चात् सम्बद्ध होकर, दूसरी धातु अथवा प्रातिपदिक का निर्माण करते हैं।

(2) विभक्ति प्रत्यय—

वे प्रत्यय हैं जो किसी धातु या प्रातिपदिक के अन्त में जुडकर व्याकरणिक रूप को प्रकट करते हैं। विभक्ति प्रत्यय के बाद फिर कोई प्रत्यय नहीं जुडता, अतएव इन प्रत्ययों को चरम प्रत्यय कहा जा सकता है। व्युत्पादक प्रत्ययों के आगे, विभक्ति प्रत्यय तो आ सकते हैं, किन्तु विभक्ति प्रत्यय के बाद व्युत्पादक प्रत्यय नहीं आ सकते हैं।[1]

इन्हीं दो विभागों के अनुरूप देशीनाममाला के पदग्रामिक-गठन का विवेचन नीचे किया जा रहा है। सर्वप्रथम विभक्ति प्रत्ययों का विवरण दे देना उपयुक्त होगा।

(क) विभक्ति प्रत्यय—

देशीनाममाला के सभी शब्द प्रथमा एकवचन के हैं। इनमे, सज्ञा, विशेषण और क्रिया विशेषण शब्द ही हैं। इनमें लगने वाले विभक्ति प्रत्यय इस प्रकार हैं—

ओ—

यह पुंल्लिंग, सज्ञा, विशेषण और क्रिया विशेषण पदों में लगने वाला प्रथमा एक व का प्रत्यय है। संस्कृत में अकारान्त शब्दों के प्रथमा एक वचन के विसर्ग को 'ओ' कर देने की प्रवृत्ति रही है। प्राकृत में सभी अकारान्त शब्दों के प्रथमा एक व के रूप को ओकारान्त कर दिया गया। देशीनाममाला के सभी ओका-

अनेक पुल्लिंग शब्द इसी प्रवृत्ति से सम्बद्ध [illegible] हैं। ओकारान्त संज्ञा तथा विशेषण शब्दों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

संज्ञापद—

[illegible], अणओ-दानव, [illegible]-जार:, अदसणो-चोर:, अवगो-कटाक्ष, [illegible], [illegible], [illegible]-ओपाओ ग्रामाधीश, कढिओ-[illegible] इत्यादि।

विशेषणपद—

[illegible], [illegible], अवचित्तो-अपगत:, उद्धवओ-[illegible], [illegible], [illegible] गुणरहित:, उरलूढो-आरूढ:, एक्को-[illegible], [illegible], [illegible]-[illegible]।

देशीनाममाला की अधिकांश शब्दावली 'ओकारान्त' पुल्लिंग शब्दों से युक्त है। कोश में 'उकारान्त' पद केवल दो ही हैं और वे भी निर्विभक्तिक 'देशी' शब्द हैं। उकारान्त शब्दों की अनुपस्थिति और 'ओकारान्त' शब्दों का बाहुल्य, देशीनाममाला की शब्दावली को स्पष्टतः उकार-बहुला अपभ्रंश से पूर्व की 'ओकार-बहुला भाषा' से सम्बद्ध कर देता है। इस कोश के ओकारान्त शब्दों में, अधिकांश तद्भव भी हैं जिनका सम्बन्ध प्राकृत भाषा से है। इस प्रकार देशीनाममाला की शब्दावली निर्विवाद रूप से प्राकृत की शब्द-सम्पत्ति है। इसे अपभ्रंश से किसी प्रकार भी नहीं जोड़ा जा सकता। उदाहरण की गाथाओं में भी प्रथमा ए व के रूपों में 'ओ' विभक्ति प्रत्यय का व्यवहार हुआ है। 'उकारान्त' प्रयोग एक भी नहीं हैं। अपभ्रंश में ओकारान्त प्रथमा एव व. का प्रयोग अत्यन्त विरल है। डा हरिवल्लभ भायाणी ने अपभ्रंश में ओकारान्त प्रयोगों को प्राकृताभास माना है। वे पउमचरिउ की भूमिका में लिखते हैं—"कर्त्ता एकवचन रूप 'ओ' बहुत विरल है, जो प्राकृताभास है और अव्ययों के पूर्व या छन्द के अनुरोध से प्रयुक्त होता है।[1] इसी प्रकार सदेशरासक के 'ओकारान्त' प्रयोगों को भी भायाणी प्राकृताभास ही कहते हैं।[2] डा वीरेन्द्र श्रीवास्तव भी 'ओकारान्त' रूपों को प्राकृत की विशेषता स्वीकार करते हुए, इसे अपभ्रंश में (विशेषतया पश्चिमी अपभ्रंश में) स्वल्प प्रयोग का विषय बतलाते हैं। वे लिखते हैं– 'वस्तुत.' ओ 'अपभ्रंश भाषा में प्राकृताभास है। संस्कृत के अकारान्त प्रथमा एक वचन का विसर्गान्त रूप अवर्ण, वर्गों के तृतीय, चतुर्थ,

---

1. पउमचरिउ—भायाणी की भूमिका, पृ 61।
2. सदेशरासक भूमिका, पृ. 28

पदमध्य, अन्त्य, और ह (हश् प्रत्याहार) के परे होने पर 'ओ' में नियम से परिणत हो जाता है। इसी ओकारान्त रूप को प्राकृत ने स्वीकृत कर लिया ([illegible]-प्रा 8 अत्, ओत् सो (5।1)। अपभ्रंश ने लघूच्चरित कर इसे 'उ' में बदल दिया पर कुछ रूप प्राकृतवत् चलते रहे हैं।[1]

सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि देशीनाममाला के ओकारान्त शब्द अपभ्रंश की 'उकारान्त' की अवस्था की पूर्वावस्था का द्योतन करने वाले हैं। इसकी विकास शृंखला इस तरह दी जा सकती है—

अस् > अ > ओ > उ।

आ—

देशीनाममाला के आकारान्त पद प्राय. स्त्रीलिङ्ग हैं। यह संस्कृत के स्त्रीलिंग वाची टाप् प्रत्यय के अनुकरण पर ही हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

संज्ञापद —

अगिला-अवगणना, अंगणट्ठमिआ-नापिच्छलता, अइयणा-असती, अणुसूआ-आसन्नप्रसवा, अत्ता-अम्बा, अहल्ला-गमनी, आमवा-इच्छा, इरिआ-कुटी, उप्फुन्निआ-उत्कर्षा, कलिआ-नारी, तायपिञ्छुआ-कोकिला इत्यादि।

कुछ 'आकारान्त' देश्यपदों में 'आ' विभक्ति प्रत्यय का अंग न होकर ऐसा लगता है, मूलप्रातिपदिक का ही अंग बनकर आया है। ऐसे आकारान्त पद-अर्थ की दृष्टि से भी स्त्रीलिंग वाची नहीं हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

अच्छघा-मौनम् (नपुं लिं), अवकुआ-कोप, असोगा-कदली, आडाटा-बलात्कार, ओंडा-निशाचरम्, कसिआ-अरण्यचारी फलम्, कालिआ-शरीरम्, कोइला-काष्ठाङ्गार, दवमट्टा-दवाङ्गार? वेडुणा-श्मश्रु।

इस प्रकार के प्रयोगों को शून्य विभक्ति 'देशी' प्रयोग कहा जा सकता है। ऐसे ही शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का निर्धारण नहीं किया जा सकता। प्रकृति प्रत्यय की दृष्टि से अनिर्वचनीय ये शब्द अर्थगत विज्ञान की विषयवस्तु हैं। अकेली संस्कृत भाषा का सहारा लेकर इन शब्दों की व्युत्पत्ति दे पाना एक असम्भव सा कार्य है। ये शब्द विभिन्न जनपदीय अनेक भाषाओं की सम्पत्ति हैं। युग युगों से भाषा में प्रयुक्त

होये आने के कारण इनका अर्थ मात्र ज्ञात होता है। ऐसे शब्दो को अज्ञातव्युत्पत्तिक शब्दो की कोटि मे रखा जा सकता है।

प्राकृत भाषा मे संस्कृत के अकारान्त शब्द की प्रथमा विभक्ति के ब. व मे विसर्गयुक्त आकारान्त से, विसर्ग का लोप कर केवल 'आ' के प्रयोग की प्रवृत्ति भी रही है—जैसे वच्छा/वत्सा । देशीनाममाला के कुछ आकारान्त शब्दो मे यह प्रवृत्ति देखी जा सकती हैं—

उवलभत्ता-वलयानि, खड्डुआ-मौक्तिकानि, गुन्दा, गुपा-विन्दव, चाउला-तण्डुला ।

उपर्युक्त तीन विशेषताओ के अन्तर्गत देशीनाममाला के समस्त आकारान्त पद समाहित किये जा सकते है। विशुद्ध देश्य प्रकृति के शब्दो मे इसे शून्यविभक्तिक प्रयोग भी कहा जा सकता है।

ई—

आकारान्त पदो की भाति ईकारान्त पद भी तद्भव और देश्य दो प्रकार के हैं। ऐसे शब्द कही तो विभक्त्यन्त हैं और कही निर्विक्तिक। विभक्त्यन्त पदो मे 'ई' स्त्रीलिंगवाची विभक्ति प्रत्यय है। ऐसे शब्दो मे यह संस्कृत के स्त्रीलिंगवाची 'ङीप' प्रत्यय का ही विकास है। तद्भव शब्दो से अलग 'ई' प्रत्यय लघुतावाचक भी हैं। दोनो के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

स्त्रीलिंगवाची 'ई'—

खोट्टी-दासी, गड्डरी-छागी, गत्ताडी-गायिका, गदीणी-चक्षुस्थगन-क्रीडा, मल्लाणी-मामी, महावल्ली, नलिनी, माणसी-मायाविनी,मामी-मातुलानी,मायदी-श्वेताबरामन्यासिनी मेठी-पीलवान की स्त्री इत्यादि ।

लघुतावाचक 'ई'—

यह प्रा 'डी' और 'री' व्युत्पादक परप्रत्ययो के साथ मिलकर प्रयुक्त है। इसका विस्तृत विवरण व्युत्पादक प्रत्ययो के प्रसग मे दिया जायेगा। खडक्की-खिडकी, गोजी-मजरी आदि इसके उदाहरण हैं।

**शून्यविभक्तिक 'इ' प्रत्यय—**

जैसे–अणुसुत्ती-अनुकूल , ईदग्गी-तुहिनम्, उत्तुरिद्धी-दृप्त', उद्धच्छवी, उररी-पशु., खुल्लिरी सकेत. घुग्घुरी.,-मण्डूक., छुछुई-कपिकच्छू इत्यादि ।

यह नपुं.लि. का द्योतक विभक्ति प्रत्यय है। देशीनाममाला के संज्ञा और विशेषण पदों में यह दो रूपों में व्यवहृत है। एक तो संस्कृत (फलम् आदि) के अनुकरण पर विभक्ति प्रत्यय (प्र ए व) के रूप में और दूसरे स्वार्थिक अ (संस्कृत 'क') और कृदन्ती 'त' (अ) प्रत्यय के स्थानी रूप में। स्वार्थिक 'अ' के स्थानी रूप में यह प्रायः विशेषण पदों में व्यवहृत हुआ है। क्रमशः दोनों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

अक्कन्त-आक्रान्तम्, अणणमय-पुनरुक्तम, अवगूढ-व्यलीकम्, इदग्गिधूमं-तुहिनम् गुल-चुम्बनम्, गोंड-काननम, भमुर-ताम्बूलम् इत्यादि।

स्वार्थिक 'क' और कृदन्ती 'त' का स्थानी अं—

उम्मुम्भिअ-उद्गलरोदन (उत्पुम्भितम), ओअग्घिअं-घ्रात (अव-आघ्रात), कडतग्गिअ दारितम् ('त'), भलुमिअ-दग्ध ('त') णिहुअ-निर्व्यापार (निभृत) इत्यादि।

दलिअ-निकूणिताक्ष (दलिक), वडअ-इक्षुसदृश तृणम् (क), वेप्पुअ-शिशुत्व (क), हूलिअ-शीघ्र (लघुक)। स्वार्थिक 'क' प्रत्यय के स्थानी 'अ' और तज्जन्य 'अं' प्रत्यय सयुक्त रूप, 'त' के स्थानी रूपों की तुलना में, अत्यल्प हैं।

देसी-अं—

अन्यानेक देसी शब्दों में यह विभक्ति प्रत्यय न होकर पूरे प्रातिपदिक का ही अंश बनकर आया है। ऐसे शब्द संस्कृत से अव्युत्पाद्य हैं। इस कोटि के कुछ प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

माडिअ-गृहम्, मलिअ-लघुक्षेत्रम्, रढुअ-रज्जु इत्यादि। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने इन सभी शब्दों को निम्नन्तन्त ही मानकर सकलित किया है। उदाहरण की गाथाओं में उनका प्रयोग विभक्त्यन्त नपु लि० शब्दों के रूप में ही किया गया है।

(ग) निर्विभक्तिक शून्य प्रयोग—

उकारान्त— गाहु-उल्लूक', टिम्बरु-एकफल विशेष, वीमु-जोडे मे से एक, हुएा-अघूरा ।

ऊकारान्त— अघधू.कूप , अयुसू-शरभ , आऊ-सलिल, उच्छुच्छू-दृप्त , उच्छू-वात , उडू तृणपरिवारणम्, कलयू-तुम्बीपात्रम्, काहेणू-गुंजा, केऊ-कन्द:, कोणू लेखा (पवित्र), सेआलू-नि सह , चित्तदाऊ, मधुपटलम्,

डाऊ-फलिहमक 'वृक्ष , णिम्मसू-तरुण.. थरू-तलवार की मूठ, दधू-शोक', पलनू-सेवा, पाऊ-भक्तम्. पिचू-पक्वकरीरम् भल्लू-ऋक्ष , मऊ-पर्वत., मुग्गूसू-नकुल , वऊ-लावण्य, वगेवडू- शूकर , वसू-ढेर, वहू-सुगधित-द्रव्य, वेलू चोर ।

एकारान्त–पुंडे-अलगाव ।

उपर्युक्त विभक्त्यन्त प्रत्ययो को दृष्टि मे रखते हुए देशीनाममाला की शब्दावली को स्पष्ट ही दो भागो मे बाटा जा सकता है—(1) सस्कृत के अनुकरण पर विकसित प्राकृतो की विशेषताओ से युक्त शब्दावली, (2) देश्यशब्दावली जिसे अज्ञातव्युत्पत्तिक कहा जा सकता है ।

(2) व्युत्पादक प्रत्यय :

व्युत्पादक प्रत्ययो का किसी भाषा की शाब्दिक या पदगत रचना मे वहुत वडा हाथ रहता है । व्युत्पादक प्रत्ययो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है---(क) व्युत्पादक पूर्व प्रत्यय-जिन्हे उपसर्ग कहा जाता है (ख) व्युत्पादक पर-प्रत्यय–ये सज्ञा एव क्रियापदो मे लगकर उनका एक अलग अर्थवान रूप निर्मित करते हैं । देशीनाममाला की शब्दावली मे दोनो प्रकार के प्रत्ययो का व्यवहार हुआ है । इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है ।

(क) व्युत्पादक पूर्व प्रत्यय या उपसर्ग—

भाषिक सरचना मे उपसर्गों' का वहुत बडा स्थान है । पदात्मक गठन के सदर्भ मे इनकी महत्ता वहुत प्राचीन काल से ही स्वीकार की जाती रही है । उपसर्ग सज्ञा या क्रिया पदो मे लगकर उनका अर्थ वदल देते है। मुक्तावस्था मे उपसर्ग अर्थवान् होते हैं या नही, इस वात पर पर्याप्त विवाद रहा है । शाकटायन की सम्मति मे उपसर्ग विना सम्वन्ध के अर्थ का कथन नही करते, नाम और आख्यात से सयुक्त होकर अर्थद्योतक वनते हैं । गार्ग्य का विचार है कि उपसर्गों के विविध अर्थ होते है—

—"न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरितिशाकटायन । नामाख्यातयोगे कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति । उच्चावचा पदार्था भवन्ति इति गार्ग्य ।"[1]

पाणिनि ने क्रियायोग मे ही उपसर्ग सज्ञा स्वीकार की और यह माना कि उसके योग मे बलात् धात्वर्थ अन्य प्रतीत होने लगता है ।[2] सस्कृत मे प्र, अप, स, निर्, दुर् आदि प्रमुख 22 उपसर्ग माने गये । इनकी अपनी अर्थवान् सत्ता तो है ही, सज्ञा या धातु मे जुडकर ये उनका अर्थ भी बदल देते है । म भा आ मे प्रा भा आ के उपसर्गों का ध्वनिपरिवर्तन के साथ प्रयोग किया गया । शब्दो के आदि मे जुडने के कारण इन्हे पूर्वसर्ग (prefix) भी कहा गया है । पदग्रामिक अध्ययन की दृष्टि से ये आबद्ध पदग्राम है जो कि मुक्तपदग्राम से जुडकर उसमे अर्थ परिवर्तन कर देते है । आधुनिक भाषा वैज्ञानिक इन्हे पूर्व आबद्धपदग्रामो अर्थात् पूर्वप्रत्ययो की सज्ञा से अभिहित करते है । देशीनाममाला की शब्दावली मे भी इन पूर्वप्रत्ययो या उपसर्गों के प्रयोग देखे जा सकते है । यहा प्रयुक्त उपसर्ग पूर्णतया म भा आ के उपसर्गों का अनुसरण करते है ।

प<प्र — पइट्ठाण<प्रतिष्ठान, पउत्थ<प्रोषित (गृह), पएसो<प्रातिवेश्मिक, पडिहत्थो<प्रतिहस्त आदि ।

अव<अप— अवगा<अपाङ्ग, अवहाओ<अपभोग, अवरत्तओ<अपरक्त ।

अव<अव— अवअगिअो<अवगणित, अवअण्णे<अवहन् ।

अव<अ— अवत्तय<अ-वृत् ।

ओ<अव— ओहंघिअ<अव-आघ्रात, ओटट्ठ<अवदग्ध, ओहत्तो<अपहृत, ओसित्त<अवनिरनम् ।

ओ<अव<अप— ओआअओ<अपातप. (अवाअओ), ओमरिआ<अप-तृ

आ<उत— ओसीस<उत शीर्ष ।

अणु<अनु— अणुतुनो<अनु-तृ, अणुसुआ<अनु सृ ।

णि<नि— णिअ [illegible]<निवसन, णिअडो<निकृति (दम्भ), णिअय<नियत, णिउक्को<निरुक्त ।

---

1 [illegible] 1.3

2 [illegible] पाणिनि 1.4.59 [illegible] धात्वर्थ बलादन्यत्र नीयते-प्रहाराहारसहार [illegible] ।

—सि. का. [illegible] ।

णि<निर,निस्-णिरग्गी<निर्अग्गी, णिग्गिण्णा<निर्गतम् ।
णिस्सको<नि णक. (निर्भर.) णिट्ठुहिअ<निष्ठ्यूत,
णिट्टूहो<निस्तव्व: ।
णिप्फरिसो<निर्-स्पर्श ।

दु<दुर्– दुम्मुओ<दुर्मुख. (वन्दर),दुम्मइणि<दुर्मति,

दू<दुर्– दूमलो, दूहलो<दुर्भग, दूहट्ठो<दुर्हृदय ।

वि<वि– विक्केणुग<विक्री, विक्खभ<विष्कभ,
विच्छड्डो<विच्छर्द, विलुत्तहिअओ<विलुप्तहृदय ।

अ<अ– अगओ<अकाय (राक्षस), अइरजुवई<अचिरयुवती, अगहणो<अग्रहण, अचल<अचल (गृह)

आ<आ आट ओटोविअ<आटोपित (कोपित), आरेइअ<आरेचित (मुकुलित)
आरोहो<आरोह (स्तन)

अहि<अभि अहिक्खण<अभीक्ष्ण, अहिहाण<अभिधानम् । केवल दो ही उदाहरण हैं ।
अहि<अधि के उदाहरण एक भी नही है ।

अइ<अति- अइणिअ<अतिनीत ।

सु<सु– सुदारुणो<सुदारुणो (चाण्डाल), सुदुम्मणिआ,
सुलनमजरी आदि में भी 'सु' का प्रयोग लक्षित किया जा सकता है । पर ये शब्द अज्ञात व्युत्पत्तिक है ।

उ<उत्, उद्– उग्घओ<उद्घात (समूह), उग्घुट्ट<उद्घुष्ट (साहस), उच्छित्त<उत्क्षिप्त (विक्षिप्त), उत्थग्घो<उत्–स्थग्, उद्दिसिअ<उत्–दिश ।

ऊ<उत्– ऊसविअ<उत-श्रप् (उद्भ्रान्त)
ऊसुंभिअ<उद्–सुम्भ ।

ऊ<उप– ऊहट्ठ<उप-हस ।

पडि<प्रति पडिक्किओ<प्रतिक्रिया, पडिखध<प्रतिस्कध,पडिच्छन्दो<प्रतिच्छन्द (मुखम्), पडिणिअसण<प्रतिनिवसन (रात्रि का वस्त्र) ।

देसी पडि– पडिच्छओ-समय पडित्थिरो-सदृश ।
पडिसत–प्रतिकूल, पडिसारो-पटुता आदि ।

परि<परि– परिहण<परिधानं, परिहारइत्तिआ<परिहार्या स्त्री ।
परिहच्छ<परिहस्त (पटु) आदि ।

उव<उप– उवकय<उपकृत, उवदीव<उपद्वीप,

उवमग्गो ∠उपसृ, उवउज्जो ∠उपकृत: ।

अण ∠अन् न– प्रा भा आ मे व्यंजन के पूर्व न को 'अ' हो जाता था और स्वर से पूर्व अन् । म भा आ मे यही अन् – अण के रूप मे प्रयुक्त होता देखा जा सकता है । दे ना मा की शब्दावली मे भी यह पूर्वसर्ग प्रयुक्त है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

अणह ∠अनघ, अणडो ∠अनृत । अव्युत्पाद्य देश्य शब्दो मे भी इसकी स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है–

अणुच्छिआर–अच्छिन्न, अणरामओ-अरति, अणरिक्को–क्षणरहित, अणहप्पणय–अनष्ट, अणहारओ–ऊंचा नीचा-असमतल आदि ।

(ख) व्युत्पादक पर प्रत्यय

शाब्दिक सरचना मे व्युत्पादक परप्रत्ययो का बहुत बडा हाथ होता है । प्रा भा आ मे इन्हे तद्धित और कृदन्त दो विभागो के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है । किसी कृदन्त नामपद से, जिसके अन्तर्गत सज्ञा, सर्वनाम और विशेषण हैं अन्य नामपद का निर्माण करने वाले प्रत्यय तद्धित कहलाते हैं और किसी, धातु मे सयुक्त होकर नामपद का निर्माण करने वाले प्रत्यय कृदन्त कहलाते हैं । देशीनाममाला की देश्य शाब्दिक सरचना मे इन दोनो प्रकार के प्रत्ययो का महत्वपूर्ण स्थान है । इसमे व्यवहृत कुछ प्रत्यय तो सस्कृत के हैं, कुछ आर्येतर द्राविड आदि भाषाओ के और कुछ विशुद्धरूप मे 'देसी' हैं । तद्धित और कृदन्त इन दो विभागो के अन्तर्गत इस कोश के शब्दो मे व्यवहृत प्रत्ययो का विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

तद्धितान्त शब्द —

प्राप्त तद्धित प्रयोगो को पाच वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—

(1) स्वार्थिक प्रत्यय

दे ना मा के शब्दो मे स्वार्थ मे कई प्रकार के प्रत्ययो का व्यवहार हुआ है । इन स्वार्थिक प्रत्ययो को देखते हुए इनके भिन्न-भिन्न प्रदेशो की भाषा से सम्बन्धित होने का सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाता है ।

इल्ल

दे ना मा के शब्दो मे यह प्रत्यय पर्याप्त मात्रा मे व्यवहृत है । यह अल्पार्थ का भाव भी द्योतित करता है । इदमहकामुओ ∠इन्द्रमहकामुक, उत्तरणवरंडिआ ∠

उत्तरणवरडिका (नाव), करिग्रा ८कारिका, कासिग्र ८कशिक,कोलिग्रो८कौलिक जोइग्रो८ज्योतिष्कः, दलिग्र ८दलिक, पडिच्छिग्रा ८ प्रति-इच्छिका,बीग्रग्रो८वीजकः, भट्टिग्रो८भर्तृक इत्यादि ।

ग्रड् या ड्—

ग्रा भा. ग्रा. मे ट् स्वार्थवत् प्रयोग—यह विशुद्ध देशी प्रत्यय है । हेमचन्द्र 8।4।429 तथा तर्कवागीश 3।2।6 मे इस प्रत्यय का विवरण देते हैं । ग्रपभ्र श भाषा का यह ग्रपना प्रत्यय माना गया है । ग्रपभ्र श मे यह देश्य शब्दो के प्रयोगबाहुल्य के कारण ही ग्राया होगा । लगभग सभी प्राकृत व्याकरणकारो ये इस प्रत्यय की स्थिति स्वीकार की है । रामतर्कवागीश ने स्वार्थिक–ड–प्रत्यय को कोन्तली[1] तथा –डी–प्रत्यय को पाचालिका[2] की विशेषता बताया है । उत्तरी राजस्थान मे ग्राज भी— डी-प्रत्ययान्त शब्दो का वाहुल्य है । हिन्दी मे लकडी, पगडी, झाडी, मराठी मे पारडू, करडू शेरडू तथा गुजराती मे भनडू, दियडू ग्रादि प्रयोग इसी स्वार्थिक प्रत्यय से सवद्ध हैं ।

पुल्लिग मे प्रयुक्त होने पर यह प्रत्यय 'डा' (ग्रतो स्त्रिया डा) तथा स्त्रीलिग मे प्रयुक्त ही –डी– के रूप मे ग्राता है । परन्तु दे ना मा के शब्दो मे इन प्रत्ययो का प्रयोग इस नियम से मुक्त है ।

ड–डा —

ग्रडाडो-वलात्कारः, करडा-लट्टू,करडो-व्याघ्र, घटिग्रघडा–गोष्ठी, झाड-लतागहन (हिन्दी-झाडी), डड-चीथडा, तडमडो क्षुभित, तडवडा एकवृक्ष, तल्लड-पलग, तिरिडो-तिमिरवृक्ष· परडा एक साप, पुरोहड, वेडो-नाव (वडा)

डी—

ग्राराडी-विलपितम्, करयडी-स्थूलवस्त्र, करोडी-कीटिका, खडहडी-तरु-मर्कट गत्ताडी-गायिका, गोडी-मजरी, घम्मोडी-मध्याह्नसमय, झडी-निरन्तरवृष्टि, डडी-चीथड़ा, तणवरडी-एकनाव, ततडी-दही की कढी, तोतडी-कढी, घाडी-फेंका हुग्रा, पखुडी-पत्ती, मउडी-जूट, मडी पिधानिका, रोडी इच्छा, तुरुडी-फोडा ।

कही-कही ग्रड्+डी साथ-साथ भी ग्राये हैं–जैसे–

छुरमड्डी-नापितः तिरिड्डी-उणवात, पड्डी-प्रथम-प्रसूता ।

---

1 डकारमुम्नी क्लि कौन्तली स्यात् 3।3।39
2 ई डी वहुलात् पाञ्चालिका–3।3।39

री—

कच्छुरी-कैंवाच, कट्टारी-क्षुरिका, करमरी-बलात् लायी गयी स्त्री, गड्डरी-छागी, तिन्तिरी-मशक आदि।

ट्ट — यह भी 'देसी' प्रत्यय है।

भोट्टी-अग्रमहिषी, तरवट्टो—एक वृक्ष, घट्टी-पशु, दुग्घुट्टो-हस्ती, परिहट्टी-आवर्तग, पोट्ट उदरम, गेट्ट -आटा।

ड्ड—

गाउड्डो-सद्भाव, थउड्ड-भेलावा का वृक्ष, वेड्डा-मूछ-दाढी, मड्डा-बलात्कार, वड्डो-महान् हुड्डा-जुआ, हिड्डो-वामन

अल्ल-इल्ल-उल्ल-उल्ली—

इनकी तुलना प्रा. भा आ के उल (चटुल-मृदुल) से की जा सकती है। पर प्रा भा आ मे भी यह देश-भाषाओ मे ही लिया गया होगा। पाणिनि के उणादि प्रत्ययो मे अनेक देश्य प्रकृति के है। अत यह विशुद्ध 'देसी' प्रत्यय है। रामतर्कवागीश ने वैदर्भी मे उल्ल प्रत्यय का प्रयोग बाहुल्य बताया है—

'वैदर्भिकामल्लघना वदन्ति' 3।3।8

मार्कण्डेय इल्ल-उल्ल बताते है। दे ना मा की शब्दरचना मे इन प्रत्ययो का बाहुल्य देखा जाता है।

अल्ल— उम्मल्ल तृष्णा, उम्मल्लो-नृप, ओल्लो-दीर्घमधुरध्वनि., कल्ला-मद्यम् चिल्ला-शकुनिपक्षी, दरवल्लो ग्राम स्वामी, मूअल्लो मूक, लउअल्लो-वृषभ

इल्ल- नगिल्ल-वचनम्, आल्लिलो-नवीन, एककमाहिल्लो-एकस्थानवाची, एवक्क परिल्लो-देवर, पोरिल्लो-अल्पमध्य,, कडलवल्लो-स्वच्छदचारी वृषभ, नल्लल्लो-मयूर।

उल्ल- वल्लिउल्लो-द्वेष्य, उल्लुल्लो अनुवाद, उप्पुल्ला-पुआ, कडउल्ल-स्तोकम् पाउल्लो वर

उल्ली-पुल्ली-सिना, पक्कुल्लिम-नर्वापितम्

अर्(य)—

मयरहियो पूर्वादिम्नन, अवरिवको अणरहित:, उम्मुवक-रुदन, त्वट्टिवको-कौलिक., महरको-दवुदार आदि।

कर्तृत्ववाचक प्रत्यय—

अण— ओड्डण-उत्तरीयम्, ओहरण-विनिपातनम्, कुट्टणो-रासक कूसण-खट्टा, कुलफनणो-कुल कलक ।

हार-हारी-हर-हरी—

बउहारी, वोहारी-झाड़, वोहहरो-मागध.

अंतहरी-दासी ।

आण— अग्घाणो तृप्त. ।

इज्ज— मगवल्लिज्ज-अन्नवलनम् ।

उज्ज— चुज्ज-आश्चर्यम् ।

प्प— वालप्प-पुच्छ, विडप्पो-राहु, झोडप्पो—चना, टिप्पी-तिलक ।

सम्बन्धार्थक प्रत्यय—

यारी-आर/कार-पेपणआरी-दूती

आल—

आउआली-मिश्रीभाव:, आवाल-जलनिकटम्, कटुआलो-लघुमत्स्य:

ई-इक-कमणी-नमणी (सीढ़ी) कुतली एक प्याला ।

खडक्की/खटक्किका-खिडकी, गाणी/गणिका-गायिका ।

गामणी ग्रामणी-ग्रामाधिपति ।

एणी—देसी प्रत्यय—

गामेणी गाम + एणी—छागी

वती/मती—दुग्धवती—नदी, कुक्खिमई/कुक्षिमती-गर्भिणी ।

स्त्री प्रत्यय—

आ— अडयणा, अडया-असती, कायपिउच्छा-कोकिला, कलिआ-सखी, कीला-नववधू, कुकुला-नववधू, नागेज्जा-नवपरिणीता, चिरचिरा-जलधारा ।

अ/आ— गड्ढ-शैया ।

ई— कल्होडी-वछिया, कुट्टयरी-चण्डी, खडई-असती, गाणी-गायिका, गोवी बाला, भीरा-लज्जा, णादा-गाय ।

णी— गदीणी-चक्षु, स्थगनक्रीडा, णादिणी-गाय, णीसणी-सीढ़ी, दुद्धिणी-दुधहँडी, पच्चुच्छुहणी नवसुरा । रुंचणी—आटे की चक्की ।

एणी—गामेणी—छागी (हिन्दी मे दहँडी) ।

इआ/इका— उत्तरणवरडिआ—नौका, गणणाइआ—चण्डी, घुणघुणिआ—कर्णोप-

कर्णिका, णीमणिआ-नीडी, दुद्दिधिणिआ–दुबहँडी, पडिच्छिआ–प्रतिहारी ।

इणी– दुम्मइणी–कलहशीला स्त्री, दु दुमिणी-रूपवती पुआइणी-पिशाचगृहीता, पुडइणी–नलिनी ।

आया– फेलाया–मातुलानी मयणसलाया–सारिका ।

आई– वणमवाई-कोकिला जाई–सुरा ।

अई– वणई–वृक्षपक्ति, जीवयमई–मृगाकर्षण हेतु व्याधिमृगी

(5) कृदन्तीप्रयोग—

देशीनाममाला की शब्दावली में भूत कृदन्त तथा भाववाची कृदन्त के प्रयोग ही देखने मे आते हैं । इनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं

भूतकृदन्त–

अ आ भा आ –क्त–

अवल्लिअ–प्रतिफलित, अज्झवसिअ–दाढी मूछ से सफाचट, अछिअं–आकृष्ट,- ओग्गिग्गिअ–गतिव्याघात ओमिरिअ–आतम् कडततिअं–दारित इत्यादि ।

इसमें सभी विशेषणपदो मे जो आख्यातज हैं । इस प्रत्यय का व्यवहार देखा जाता है ।

त(क्त–

ओगिन्त (प्रदमिक्त जणउत्तो(जनायुक्त.—ग्राम प्रधानपुरुष । दिअवुत्तो–वार, दिअदुत्त–दोपहर का भोजन ।

भाववाचक अण आ भा आ अन—

उक्खावण उदभावनम् (शूर्पादि से पछोरना), उज्झभण, ओज्झमणवपलायनम् उच्छेवणी मुद-लेपन–तृना, कुट्टिअपेणण–ब्राह्मण का भेजा जाना छिक्कोअणो–पसरन, णिव्वहण-विवाह ।

## "अर्थगत अध्ययन"

ध्वनि और पद यदि किसी शब्द के बाह्य अंग है तो अर्थ उसकी आत्मा है। जिस प्रकार जीवात्मा के बिना शरीर का कोई मूल्य नही उसी प्रकार अर्थ के बिना शब्द की कोई महत्ता नही है। महाभाष्यकार पतंजलि ने 'सिद्धे शब्दार्थ' सबध[1] सूत्र मे यही ध्वनित किया है। शब्द और अर्थ दोनो का शाश्वत सम्बन्ध है। यह कहना तो उपयुक्त नही कि किसी शब्द विशेष का एक ही अर्थ नित्य है उसका अर्थ परिवर्तित हो सकता है, पर शब्द सदैव सार्थक ही होता है। किसी शब्द से उसके किसी अर्थ–विशेष की नित्यता और अनित्यतता के विवाद से परे, सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता रहा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शाश्वत है अर्थात् शब्द सदैव अर्थवान् होता है। वाक् और अर्थ के इसी शाश्वत सम्बन्ध की चर्चा कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंशम् के प्रारम्भिक श्लोक मे की है–

"वागर्थाविव सपृक्तो वागर्थप्रतिपत्तये" आदि। अब एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है–आखिर शब्द से अर्थ के सम्बन्ध का नियामक कौन है ? महाभाष्यकार पतञ्जलि इस सम्बन्ध का नियामक लोक को मानते हैं। लोक मे शब्दो का व्यवहार ही किसी शब्द से उसके अर्थ का नियामक होता है। अत. लोकव्यवहार को ध्यान मे रखकर ही किसी शब्द के अर्थ की परीक्षा की जानी चाहिए। यही व्यवस्था निरुक्तकार यास्क ने 'अर्थनित्य परीक्षेत' कह कर दी। 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध गुरुत्वाकर्षण नियम के अनुसार प्राकृतिक नही है। यदि ऐसा होता तो किसी शब्द के उच्चारण करते ही अनायास सर्वत्र सर्वदा एक अर्थ की ही प्रतीति हो जाती। शब्दार्थ सम्बन्ध देशकालावच्छिन्न न होकर भी, किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर न होकर, समाज पर आधारित है। ध्वनियो का अर्थों से कोई प्राकृतिक सम्बन्ध नही, फिर भी ध्वन्यानुकरणात्मक, भावाभिव्यजक शब्दो मे ध्वनि का प्रभाव आ ही जाता है और किसी भी भाषा मे ऐसे शब्दो की नगण्य मात्रा नही होती। उनकी अर्थ बोधन प्रक्रिया पर विचार करना ही चाहिए। शब्द वस्तुत अर्थों के सकेत है। जब सकेतो से सकेतित अर्थों की बोधनक्षमता कथचित घट जाती है या नही रहती तो सकेत परिवर्तित कर दिये जाते है या सकेत का नये अर्थ से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। यही वागर्थप्रतिपत्ति है–शब्द से अर्थ का प्रतिपादन है।"[2]

डा वीरेन्द्र श्रीवास्तव का यह कथन उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करता है। शब्दो से अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान पूर्णत लोक व्यवहार पर आधारित है। लोक-

---

1. महाभाष्य प्रथम आह्निक।
2. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन–डा. वीरेन्द्र श्रीवास्तव, पृ 243

व्यवहार को ध्यान में रखते हुए शब्दार्थ सम्बन्ध का निर्धारण और उसके अर्थ विकास का विचार ही अर्थ-विज्ञान का विषय है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर देशीनाममाला की शब्दावली का अर्थगत अध्ययन यहां अभीष्ट है। इस कोश में संकलित शब्दावली का रूप तो पूर्णतया लोकव्यवहार ज्ञान पर आधारित है। दे. ना. मा. की शब्दावली का सम्बन्ध अनादि प्रवृत्त प्राकृत भाषा (लोक भाषा) से है। इसमें संचित शब्द युग युगों से लोकभाषाओं में प्रचलित रहे हैं। शास्त्रों में प्रयुक्त न होने के कारण इनका अध्ययन व्युत्पत्ति पद्धति पर नहीं किया जा सकता। इनकी महत्ता केवल अर्थगत अध्ययन की दृष्टि से है। यह अर्थनिर्धारण भी पूर्णतया शब्दों के लोकव्यवहार पर आश्रित है। देखने में इस कोश के अनेकों शब्द संस्कृत और प्राकृत (साहित्यिक) से लगते हैं, पर इनका अर्थ संस्कृत और प्राकृत के अर्थविकास से नहीं जुड पाता। इनके अर्थ का नियामक तो लोक ही है। लोक में प्रचलित इनके प्रयोगों को देखकर ही इनके अर्थ का निर्धारण किया जा सकता है। यही कारण है कि आचार्य हेमचन्द्र इन शब्दों को किसी एक युग विशेष की भाषिक सम्पत्ति न मानते हुए इनका सम्बन्ध अनादिप्रवृत्त लोकभाषा से बताते हैं—

..... —"तस्मादनादि प्रवृत्तप्राकृतभाषाविशेष एवाय देशीशब्दो नोच्यत इति नातिव्याप्ति..।[1]

इन अज्ञातव्युत्पत्तिक शब्दों का अध्ययन केवल अर्थ की ही दृष्टि से किया जा सकता है। स्वरूपात्मक और पदात्मक दृष्टि से दी गयी इनकी व्युत्पत्ति अत्यत भ्रामक एवं हास्यास्पद भी लगती है, अतः अर्थ-विज्ञान की विविध दिशाओं को आधार में रखकर ही इनका अध्ययन किया जाना उपयुक्त होगा।

अज्ञात अतिपरोक्षशब्द की व्याख्या परोक्षवृत्ति का आश्रय लेकर प्रत्यक्षवृत्ति से करनी चाहिए। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य इस प्रक्रिया का एक उदाहरण भी देते है, वे स्वय 'निघण्टु' शब्द को अतिपरोक्षवृत्ति शब्द मान पहले परोक्षवृत्ति 'निगन्तव' शब्द से इसे व्युत्पन्न करते है और फिर 'निगमयितार' जैसे प्रत्यक्ष क्रिया वाले शब्द से इसे व्युत्पन्न कर लेते हैं।[1]

निरुक्त या व्युत्पत्तिशास्त्र भाषा विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अ ग है। किसी भी भाषा मे व्यवहृत शब्द को समझने के लिए उसकी निरुक्ति आवश्यक है। दे ना मा. की शब्दावली भी निरुक्ति की अपेक्षा रखती है। परन्तु इस निरुक्ति के लिए प्रकृति-प्रत्यय का निर्धारण किया ही जाये, यह आवश्यक नही। शाकटायन[2] या नैरुक्त सम्प्रदाय की भाति सभी शब्दो का प्रकृति-प्रत्यय विवेचन अनिवार्य माने बिना भी गार्ग्य की भाति मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है। शाकटायन और यास्क ने सभी शब्दो की व्युत्पत्ति मे प्रकृति–प्रत्यय निर्धारण आवश्यक माना था, परन्तु गार्ग्य–समझते है कि सभी शब्दो की व्युत्पत्ति दे पाना सम्भाव्य नही, अत अज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दो के अर्थ अवधारण मात्र से स तोष कर लेना उपयुक्त है, उनकी दृष्टि मे निर्वचन सभाव्य शब्दो की ही व्युत्पत्ति अन्वेषणीय है। देशीनाममाला के शब्दो मे भी यही सिद्धान्त लागू किया जाना चाहिए। इसमे सकलित अनेको शब्द ऐसे हैं, जिनकी शास्त्रसम्मत व्युत्पत्ति दी जा सकती है, पर यह व्युत्पत्ति ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक समानता तक ही सीमित होगी अर्थविज्ञान की दृष्टि से उपयुक्त नही होगी। एक उदाहरण लिया जाये–दे ना. मा 4 'अमयणि–ग्गमो शब्द आया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द सस्कृत का 'अमृतनिर्गम 'शब्द है। इसमे ध्वनिगत विकार (वर्ण विकार) ध्वनिविज्ञान का विषय है, इसका रूपात्मक अ श रूप विज्ञान का विषय है, परन्तु अर्थविज्ञान की दृष्टि से दोनो मे अन्तर आ जाता है। 'अमयणिग्गमो' का अर्थ चन्द्रमा है, परन्तु 'अमृतनिर्गम' शब्द पूरे सस्कृत साहित्य मे कही भी चन्द्रमा के अर्थ मे व्यवहृत नही है। ऐसी स्थिति मे इसकी व्युत्पत्ति अधूरी रह जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शब्द और अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध है। यदि शब्द है तो उसका कुछ अर्थ भी होगा और अर्थ का निर्धारक लोक होता है। अत किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति देते समय अर्थ को ध्यान मे रखना आवश्यक हो जाता है। स्वय निरुक्तकार

---

1 त्रिविध ही शब्दव्यवस्था-प्रत्यक्षवृत्तय परोक्षवृत्तय, अतिपरोक्षवृत्तयश्च। तत्रोक्तक्रिया प्रत्यक्षवृत्तय अन्तर्लीनक्रिया. परोक्षवृत्तय अतिपरोक्षवृत्तिषु शब्देषु निर्वचनाभ्युपाय.। तस्मात्परोक्षवृत्तिमापाद्य प्रत्यक्षवृत्तिना शब्देन निर्वक्तव्या तद्यथा निघण्टव इत्यतिपरोक्षवृत्ति. निगन्तव इति परोक्षवृत्ति, निगमयितार इति प्रत्यक्ष वृत्ति.। –निरुक्त 1।1।5 पर वृत्ति।

2. निरुक्त–1।12

यास्क ने भी प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया था, पर इस झोंक मे वे जितने ही शब्दों की ऊटपटाग व्युत्पत्तिया दे गये हैं। यही कारण है कि हेमचन्द्र समर्थ होते हुए भी देश्यपदों की व्युत्पत्ति (प्रकृति–प्रत्यय निर्धारण) के चक्कर मे नहीं पड़े। उन्होंने लोक को प्रमाण मानकर, अनादिप्रवृत्तप्राकृत भाषा (लोकभाषा) के शब्दों का अर्थनिर्धारण मात्र कर दिया है। इस कोश के अधिकाश शब्द ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक गठन की दृष्टि से म भा आ का अनुगमन करते हैं, परन्तु अर्थ की दृष्टि से वे बिल्कुल भिन्न प्रतीत होते हैं—जैसे 'अम्बोच्ची'[1] को लीजिए–इसका अर्थ है 'फूल चुनने वाली'। इसकी व्युत्पत्ति 'आम्राणि उच्चिनोति' इस रूप मे संस्कृत से दी जा सकती है, फिर भी यह शब्द संस्कृत का नहीं है क्योंकि संस्कृत मे न तो इसका प्रयोग ही हुआ है और न व्युत्पन्न कर लेने पर ही इसका अर्थ 'फूलचुननेवाली' होता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होगा 'आम का फूल चुनने वाली'। परन्तु इस अर्थ मे, लोक मे इसका व्यवहार नहीं होता–अतः ये 'देशी' शब्द हैं। हेमचन्द्र स्वय भी कहते हैं यदि इसका अर्थ 'आम का फल चुनने वाली' ही होगा तब यह देशी नही होगा—

'यदाम्रपुष्पाण्येवाच्चिनोति तदा न देशी।'[2]

इस प्रकार 'देशी' शब्दों का प्राचीन परिपाटी मे किया गया व्युत्पत्तिगत अध्ययन किसी काम का नहीं सिद्ध होता। इनका केवल अर्थ की दृष्टि से किया गया अध्ययन ही उपयोगी होगा। साराश रूप मे यह कहा जा सकता है कि 'देशी' शब्दों का अध्ययन प्रधानतया अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र मे पड़ता है। व्युत्पत्ति के अन्य अंग-वर्णागम, वर्णविकार, वर्णविपर्यय, वर्णविनाश और धातु का अतिशय योग इन शब्दों की प्रकृति के निर्धारक भले ही हों, उनसे इन शब्दों के 'देशीपन' मे कोई अन्तर नही आता। देशीनाममाला मे एक दो नहीं–अनेकों ऐसे शब्द हैं, जिन्हे सुधी विद्वानों ने संस्कृत का या फिर संस्कृत से विकृत तद्भव शब्दावली का अंग बतलाया है। ऐसे स्थलों पर उनका संस्कृत-भाषा-मोह ही उभर कर सामने आता है। ऐसे स्थलों पर वे सम्भवतः यह भूल जाते हैं कि संस्कृत स्वय प्राकृतों (लोकभाषाओं) की ऋणी है। संस्कृत के कितने ही शब्द प्राकृतों (लोकभाषाओं) की सम्पत्ति हैं। प्रत्येक शब्द को संस्कृत तक घसीट ले जाने की होड़ मे वे वास्तविक तथ्यों की ओर से आख बन्द कर लेते हैं। आचार्य हेमचन्द्र विद्वानों द्वारा की जाने वाली खींचतान से अच्छी तरह परिचित थे इसीलिए उन्होंने देशीनाममाला के प्रारम्भ मे ही यह स्पष्ट कर दिया

है कि देश्य शब्दो की निरुक्ति किसी प्रकार भी सम्भव नही है। पूरे कोश मे सकलित शब्दावली को वे तीन वर्गो मे बाटते है—

(1) जो लक्षण से असिद्ध है—अर्थात् जो शब्दानुशासन के नियमो से अव्युत्पन्न हैं, जिनमे वर्णागम आदि चतुर्विध निरुक्तियो का समावेश नही तथा जिनमे प्रकृति प्रत्यय विवेचन का कथचित् अवकाश नही और जो सर्वथा लोक मे रूढ हैं वे देशी हैं। देशीनाममाला के अधिकाश शब्द इसी कोटि के है जैसे–अक्को-दूत, अगिला-अवज्ञा, अडयणा-अगली, अणड-जार, अरिअल्लो–व्याघ्र, आहु-उल्लू, कली-शत्रु, करडो-व्याघ्र, कोलो-ग्रीवा, ढेंका-पानी की चर्खी, ढेंकी-धान कूटने की चक्की, कोल्हुओ-कोल्हू, तहरी शराब, तुगी-रात्रि, थट्टी-पशु, थरी–कपडा बुनने का यत्र, थूणो-अश्व, दारो-कटिसूत्र आदि।

(2) ऐसे शब्द जो सस्कृताभिधान ग्रन्थो मे प्रसिद्ध नही है, अर्थात् प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध होते हुए भी सस्कृत कोशो मे सकलित नही हैं (इन्हे सस्कृताभ शब्द भी कहा जा सकता है)। जैसे अम्बोच्ची-फूल चुनने वाली, अमयणिग्गमो-चन्द्रमा, छिन्नोब्भवा छिन्नोद्भवा दूर्वा, अइराणी अधिराज्ञी–इन्द्राणी, वइरोअणो -वेरोचन वुद्धः आदि।

(3) गौणलक्षणा शक्ति से भी जो शब्द सिद्ध नही है—जैसे वहल्ल—वैल मूर्ख या गगा—गगातट जैसे शब्दो का सकलन नही किया गया।[1]

देशी शब्दो का यह वैलक्षण्य आचार्य हेमचन्द्र ने स्वय ही बता दिया है। जहा कही व्युत्पत्तिलभ्य शब्द का सकलन उन्होने किया भी है, उसके देशी माने जाने का औचित्य भी प्रतिपादित कर दिया है। इतना सब होने पर भी डा. बूलर जैसे विद्वान् को दे ना मा के सभी शब्द सस्कृत से व्युत्पत्ति ग्राह्य लगे।[2] शब्दो के स्वरूप को देखकर उन्होने एक झटके से कह तो दिया कि सभी शब्द सस्कृत से व्युत्पत्ति-लभ्य हैं पर व्युत्पत्ति उन्होने एक भी नही दी। उनकी ही परिपाटी का अनुसरण श्री रामानुजस्वामी ने किया। देशीनाममाला की भूमिका मे तथा इसकी ग्लासरी (शब्दसूची) मे उन्होने कितने ही 'देशी' शब्दो की व्युत्पत्ति सुझायी है, पर व्युत्पत्ति देते समय वे शब्द के अर्थ पर ध्यान नही दे सके, अधिकतर उनका ध्यान ध्वन्यात्मक साम्य पर ही गया है। उनकी बहुत सारी व्युत्पत्तिया निरुक्तकार 'यास्क' की व्युत्पत्तियो की याद ताजा कर देने वाली हैं। यह ठीक है कि देशीनाममाला की

---

1 दे ना मा 1।3 कारिका और उसकी वृत्ति।

2. प्राइअलच्छीनाममाला की भूमिका–बूलर, पृ. 14

शब्द बताते है ?………………पुन कुछ और शब्द संस्कृत मूल तक पहुचते है, यद्यपि वे प्राकृत वैयाकरणो द्वारा स्थापित किये गये ध्वनि नियमो से व्युत्पन्न नही किये जा सकते ।………… इस तरह उदाहरण स्वरूप–कल्ला, चूग्रो, दुल्ल, हेरिंबो शब्द क्रमश संस्कृत के शब्दो कल्य,चूचुक, दुकूल और हेरब से निकटतया सम्बन्धित है । इसके विपरीत कुछ शब्द जैसे गडीव, णदिणी, आदि थोडे अर्थपरिवर्तन के साथ धनु और धेनुः का ही सकेत देते हैं और मदसणी, बूलघोणी, घूमद्दारं, मेहच्छीर परिहार, रत्तिघघा, मुहरोमराई और इन्ही से मिलते जुलते शब्द संस्कृत के शब्दो से व्युत्पन्न किये जा सकते हैं यद्यपि (सस्कृत के) ये शब्द इनके पर्यायवाची नही है तब भी ये क्रमशः चोर, सूकर, गवाक्ष उदक, ऋतुमती, भ्रू आदि का ही सकेत देते हैं । देशीनाममाला के अधिकाश शब्द इसी प्रकृति के हैं, परन्तु कुछ निश्चित सख्या ऐसे भी शब्दो की है, जो आर्येतर से हैं और जो इन शब्दो का सस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं से निश्चित सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं । इनमे से अनेको शब्द द्राविड भाषा से अपना निकट का सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं । कुछ विशेष उल्लेखनीय शब्द यहां उद्धृत किये जा रहे हैं ।

करो (द्र. कुरु)–कन्धा, चिक्का (क. चिक्का)–छोटा, छाणी (त. चाणि या छाणि)–गोबर, छिन्न (ते. निल्लि) – सूराख, दारो (ते. दारमु) –सूत्र या कटिसूत्र, पसढि (ते पसिण्डि) – स्वर्ण, पडुजुवई (ते पाडुचु) – अधेड स्त्री, पोट्ट (ते पोट्ट)–उदर, पुल्ली (द्र पुलि)–व्याघ्र, भाओ (त. बाव)–बहिन का पति, (त - मट्टै)–सीग रहित या गजा (हेमचन्द्र आलसी) मम्मी (त मामी) – मातुलानी, वंग (ते वङ्ग) एक फल, वड्डो (ते ओड्डु) – वडा, सूला (क सूले) – वेश्या । ये और इसी तरह के अन्य शब्दो की ओर शब्दकोश मे सकेत कर दिया गया है । श्री के. अमृतराव ने (इण्डियन एटीक्विरी –पृ 33 पर) यह बताया है कि देशीनाममाला मे कई शब्द अरबी और पर्सियन के है । सर जार्ज ग्रियर्सन ने (जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसायटी–पृ 235 पर) एक अन्य अरबी के शब्द (खिलाल) का सग्रह इस कोश मे दिखाया हैं । इस प्रकार हेमचन्द्र का देशी, केवल सस्कृत के ही शब्दो को नही अपितु सस्कृतेतर भारतीय एव विदेशी दोनो ही प्रकार की भाषाओ के शब्दो का समाहार करता है । यहा सस्कृताभ शब्दो से तात्पर्य है जो शब्द सस्कृत से तो व्युत्पन्न किये जा सकते है, पर जो प्राकृत व्याकरण मे बताये गये नियमो के अनुकूल न हो, इनको देशी शब्दो की परिधि से निकाल देने का पर्याप्त करण भी है क्योकि प्राकृत व्याकरणकारो द्वारा बनाये गये नियम स्वय लचर हैं । यदि हेमचन्द्र प्राकृत 'लट्ठी' और हेट्ठ' शब्द को क्रमश' सस्कृत यष्टि और अधः से व्युत्पन्न कर सकते हैं तो हम नही समझ पाते कि वे सभी सस्कृताभ देशी शब्दो को जिनका

संकेत ग्रहण किया गया है—संस्कृत से क्यो नही व्युत्पन्न कर सकते।"[1]

इस तरह श्री रामानुजस्वामी की सम्मति मे, देशीनाममाला के अन्तर्गत संस्कृत से सर्वथा अव्युत्पन्न देशी शब्दो की संख्या बहुत कम रह जाती है। जो शब्द बचे भी है उनका आधार विभिन्न समयो मे भारत मे प्रवेश करने वाली आर्यधाराओ द्वारा लोक मे समाविष्ट परन्तु साहित्य में अगृहीत शब्द हैं या हेमचन्द्र के समय मे प्रचलित कुछ फारसी अरबी शब्द है। इसके साथ आभीर-गुर्जर आदि अनार्य जातियो को भी जोड़ सकते हैं जो अपभ्रंश के प्रचलन से ठीक पूर्व या आसपास भारत मे आयी और उन्होंने न केवल जन-जीवन को ही प्रभावित किया बल्कि राजसत्ता हाथ मे लेकर शासन भी किया और आर्यों मे ही पूरी तरह घुलमिल गयी। पशुपालन और गोसंवर्द्धन मे सम्बद्ध अनेक शब्द इसके साक्षी है।

देशीनाममाला की शब्दावली की, इस प्रकार की गयी आलोचना कोई विशेष महत्त्व नही रखती। रामानुजस्वामी की यह आलोचना पूर्णतया शब्दो के ध्वन्यात्मक साम्य पर आधारित है दे ना मा. के शब्दो मे, संस्कृत के कुछ शब्दो की ध्वनिगत समानता देखकर उन्हे संस्कृत से व्युत्पन्न कर लेना उपयुक्त नही। दे ना मा की शब्दावली का अध्ययन पूर्णतया अर्थ-विज्ञान का विषय है। प्रकृति प्रत्यय-निर्वारण द्वारा किया गया इस शब्दावली का अध्ययन समस्याओ पर समस्याएं खडा करता जायेगा। फिर तो 'देशी' शब्दो को तद्भव या तत्सम सिद्ध करने के लिए एक अलग व्याकरण की निर्मिति करना होगा। किसी शब्द मे संस्कृत की धातुओ का संकेत पाकर, उसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के शब्द से देकर शब्द को संस्कृताभ बना देना स्वस्थ दृष्टि-कोण नहीं कहा जा सकता। यह पहले ही बताया जा चुका है कि शब्द और अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध है, ध्वनि या पद के अंगो का नहीं। ऐसी स्थिति मे दे. ना मा. की शब्दावली का अध्ययन अर्थ की दृष्टि से किया जाना चाहिए ध्वनिगतसाम्य के आधार पर नहीं। दे ना मा की शब्दावली का अर्थ की दृष्टि से अध्ययन करना अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। इस तथ्य पर बल देते हुए डा वीरेन्द्र श्रीवास्तव का कथन उल्लेखनीय है—

स्तर से चालू रहकर अपभ्रंश में और उनके साहित्य में समाविष्ट हो गये तो उन्हें 'देशी' ही समझना चाहिए। स्वयं हेमचन्द्र ने अनेक शब्दों में संस्कृत व्युत्पत्ति की संभावना समझते हुए भी देशी होने का आधार अर्थ-परिवर्तन ही समझा है। उदाहरणार्थ 'अघवु' शब्द कूपवाची दिया गया है (1-18)। हेमचन्द्र लिखते हैं। –अन्धश्चासावन्धुश्चेतिविग्रहे नन्दर भवो अंधवु शब्द. केवल सोऽन्धकूपावाची। अयतु कूपमात्रवाचीतीह निबद्ध। येस्त्वौणादिकमधवु शब्दमिच्छन्ति तैरपि संस्कृते प्रयोगादर्शनादयमग्राह्य एव।" कहने का तात्पर्य है कि यदि अन्ध अन्धु में कर्मधारय समास और परस्मात् नत्वा अनुस्वार का ध्वनिविकार मान कर अंधवु शब्द को पूर्णतः तद्भव शब्द स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी उसका अंधा कुआ (जलरहित कूप) यह विशेष अर्थ ही होगा। अपभ्रंश में इसका अर्थ सामान्य कूप है, अतः इसे देशी मानना चाहिए। अर्थविस्तार का यह उदाहरण है। यदि वैयाकरण उणादिगण में अंधवु शब्द को सिद्ध कर लेते हैं तो भी इस शब्द का संस्कृत भाषा में प्रचलन में नहीं, अतः देशी शब्द में ग्रहण करना चाहिए। इसी तरह अपभ्रंश में अइराहा–विद्युत, है। स्वयं हेमचन्द्र लिखते हैं—"अइराहा इति त्वचिराभाशब्दभव" अर्थात् अइराहा अचिराभा वर्णव्यत्यय द्वारा निष्पन्न तद्भव होता है। यह शब्द देशी इसलिए है कि संस्कृत-कोश में नहीं और न विद्युत अर्थ में संस्कृतभाषा में प्रयुक्त है। एक और उदाहरण अवोच्ची है। इस शब्द का अर्थ 'पुष्पलावी' (फूल चुनने वाली) है। 'आम्राणि उच्चिनोति' इस व्युत्पत्ति से यह संस्कृताभ शब्द या तद्भव शब्द बड़ी आसानी से बन सकता है, फिर भी संस्कृत शब्द नहीं, क्योंकि 'फूल चुनने वाली' अर्थ संस्कृत में नहीं है। हेमचन्द्र तो इतने सतर्क हैं कि वे कहते हैं, 'यदाम्र पुष्पाण्येवोच्चिनोति तदा न देशी' अर्थात् अवोच्ची का 'आम्रपुष्प ही चुननेवाली' यह अर्थ कर लिया जाय तो इसे देशी नहीं कहना चाहिए। हेमचन्द्र संस्कृताभ से व्याकुल नहीं होते। संस्कृत भाषा में सामान्य फूल चुनने वाली, यह अर्थ-विस्तार नहीं था, अतः इस शब्द को देशी समझा गया। अनेक बार संस्कृत कोश में किसी शब्द को देखकर भ्रान्ति हो जाती है कि वह संस्कृत शब्द है। यद्यपि वह अन्य भाषा या प्राकृत से आया हुआ होता है। भ्रमर के पर्यायवाची शब्दों में रोलव दिया हुआ है (दे ना 7-2)। हेमचन्द्र टिप्पणी करते हैं—

"... रोलम्ब शब्द केचित् संस्कृतेऽपि गतानुगतिकया प्रयुञ्जते" अर्थात् गतानुगतिक पद्धति पर रोलव शब्द संस्कृत में चला गया है अन्यथा देशी शब्द है।..... ........'अण्णाण' देशी शब्द का अर्थ दहेज है, पर मुर्खतावाची 'अण्णाण' शब्द अज्ञान का तद्भव है (दे ना. मा. 1।7 पर वृत्ति), एक सी वर्णानुक्रमणी होने से दोनों एक

प्रतीत होते है ।[1]

केवल ध्वनिसाम्य के आधार पर शब्दो की व्युत्पत्ति कभी-कभी बडी भ्रामक हो जाती है । दे. ना मा की ग्लासरी (शब्द-कोश) मे श्री रामानुजन् ने ध्वनि-साम्य के आधार पर कुछ ऐसी व्युत्पत्तिया दी हैं जो अत्यन्त भ्रामक होने के साथ ही हास्यास्पद भी हो गयी हैं । वे उजड शब्द को संस्कृत उज्ज्वल शब्द से व्युत्पन्न करते हैं । हिन्दी का 'उजडा' पद 'उजड' का ही विकसित रूप है । इसका स. उज्ज्वल शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता । इसी प्रकार 'असुरो' शब्द को, जिसका अर्थ दानव है, वे स. असुर शब्द से व्युत्पन्न करते हैं, अच्छा था वे इसे 'अकाय.' शब्द से व्युत्पन्न करते हैं, दानव भी कभी-कभी अशरीरी होते है । इसी तरह अगहणो-कापालिक को वे स. 'अगघ्न' शब्द से व्युत्पन्न करते हैं । कापालिक को कौन ग्रहण करना चाहेगा । इसी प्रकार अनेकों काल्पनिक एवं ध्वनिसाम्य पर आधारित व्युत्पत्तियो की ग्लासरी मे भरमार है । इस तरह की व्युत्पत्तिया निरुक्तकार यास्क के समय मे ठीक लगती थीं, उनका एक सिद्धान्त भी था, वे सभी शब्दो को आख्या-तज मानकर चले थे । परन्तु आज, जब कि भाषा-शास्त्र बहुत आगे बढ चुका है, पता नहीं कितनी प्राचीन मान्यताएं भ्रामक सिद्ध हो चुकी है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति सुझाना कहा तक उपयुक्त होगा । इस स्थल पर दे. ना. मा की ग्लासरी मे दी गयी कुछ व्युत्पत्तियो का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा—

अइरन = प्रवृद्ध ∠आदान्त ।
अच्छिहल्लो = द्वेष्य. (शत्रु) ∠अक्षिहर ।
अजुअलवण्णा = अग्निगावृक्ष∠अयुगलपर्ण ।
अट्ट = कृश ∠अट्ट ।
अणरिक्को=क्षणरहित ∠न-रिक्त ।
अणुवंधिअं = हिक्का∠अनुबंध ।
अण्णमय = पुनरुक्त∠अन्य मय ।
अप्फुल = नप्तृ∠अम्फुन ।
अणुदत्तिगी = मनोरथाधिफलप्राप्तिः∠अनुदश्री
अव्वक्खो = नागर ∠अपक्ष ।

अलिआ = सखी∠आली ('आली' शब्द संस्कृत मे स्वयं ही प्राकृत से आया हुआ लगता है)

अवअणिओ = असघटित∠अव-गणित ।

अवडो = कूप या बगीचा∠ अवट, अवत ।

अवत्तय = विसस्थुलित (ढीला-ढाला)∠ अ-वृत ।

अवरत्तओ = पश्चात्ताप∠अवरक्त ।

अवरिक्को = क्षणरहित∠अवरिक्त ।

अवरिज्जो = अद्वितीय∠अवर ।

अवरुण्डिअं = परिरम्भ ∠अवरुद्ध ।

अवहट्टो = गर्वित:∠अवघृष्ट ।

अवहड = मुसल∠अवघृत ।

अवारी = आपण∠अपार ।

अविहाविअ = दीनम्∠अविभावित ।

असंगिओ = अश्वः∠असंगितः ।

अह = दुःख∠अघ ।

अहरो = असमर्थ∠अभर ।

अहिसिअं = ग्रहणकारुदित∠अभि-सद् ।

अहिहर = देवकुल∠अहिगृह ।

अहिहाण = वर्णना∠अभिधान ।

आउरं = सग्राह∠आतुर ।

आउलं = अरण्य∠आकुल ।

आऊ = जल∠आप । हिन्दी प्याऊ इसी से ।

अडोविअ = आरोपित∠आटोपित ।

आढिअं = इच्छित∠आढ्य ।

आणुअं = आकृति∠आनन ।

आमेलो = जूडा∠आपीड ।

आरणाल = कमल∠आरात्-नाल ।

आरेइअं = मुकुलित∠आरेचितम् ।

आलवं = कुकुरमुत्ता∠(आलम्ब) ।

आवट्टिआ-नववधू7आवृत ।

आवडिअ = सगठित∠आपतित ।

आसवण = गृह∠आवास (वर्ण विपर्यय) ।

आहुड = सीत्कार∠आ-हृत ।

इंदमहकामुओ = कुत्ता < इन्द्रमहकामुक।

इंदमहो = कुमारी का पुत्र < इन्द्रमह।

उग्घाओ = संग्रह < उद्घात।

उग्घुण्ठ = साहस < उद्घृष्ट।

उच्चोडो = विस्तृत < उच्चट्।

उच्छिन्न = विक्षिप्त < उत्क्षिप्त-अच्छा या 'विक्षिप्त' से ही इसे निष्पन्न किया जाता।

उज्जल्ला = बलात्कार < उज्ज्वल।

उत्तुणो = दृप्त < उद्वदन।

उत्थल्लपत्थल्ला = पार्श्वद्वयेनपरिवर्तन < उत्स्थलप्रस्थला।

उद्धन्धो = निराश < वृथा-अर्थ।

उप्पीडो = संग्रह < उद्-पीड् या पिण्ड।

उब्भाओ = शान्तः < उत् भाव।

उम्मुहो = दृप्त < उन्मुख।

उलुहंतो = काकः < उलूक-हन्त।

उल्लुटिअ = पिसा हुआ चूर्ण < उत्-लुट्।

उल्लेहडो = लम्पट < उत्-लिह्।

उवसग्गो = मन्दः < उप-सृ।

उव्वत्त = रसहीन < उत्वृत्त।

उव्वाओ = खिन्न < उत्-वै।

उव्वाहुल = औत्सुक्य < उत् व्याकुल।

ऊसन्थो = जंभाई < [illegible]।

ऊसविअ = उद्भ्रान्त < (उत्-श्रपयति।

ऊसुक्किअ = विमुक्त < उत्-शुल्क।

ऊसुंभिअ = गद्गदरोदनं < उत्-शुम्भ।

एक्कग्ग = चन्दन < एक-अ गम्।

[illegible] = [illegible] < [illegible]।

एक्कक्कपुप्फिल = विरलविन्दुवर्ष < एक-स्फुर्।

ओग्गारो = [illegible] < उद्गार।

ओज्झं = अपवित्र < [illegible]।

ओयरं = अनुरक्त < [illegible]।

ओव = [illegible] < [illegible]।

ओरी = [illegible] < [illegible]।

ओलुग्गो = सेवक ∠अवरुग्ण। होता कि 'अवलग्न' शब्द से इसे व्युत्पन्न किया जाता।

ओसक्की = अपसृत ∠अप-सक्त।

ओमण्ण = त्रुटित7अवसन्न ।

ओसिग्गो = अवल ∠अप-श्रि-क ।

ओमीस = अपवृत्त (पीछे घूमना) ∠ उत्-शीर्ष।

कक्कडो = पीन ∠कर्कश'।

कडप्पो = निकर ∠कलाप या कर्पट।

कप्परिअ = दारित∠खर्पर।

कलवू = तुम्बीपात्र∠अलावू ।

कलिग = नीलोत्पल∠कली।

कलेरो = कंकाल ∠कराल ।

कविलो = पूया∠कपिल।

कविग = शराव∠कपिश।

कालट्ठ = धनु ∠काल-वर्त ।

कालिआ = शरीर∠काल।

किरिइरिया = कर्णोपकर्णिका ∠ किरिकिरि।

कुड्डगिलोई = छिपकली∠कुट्-गिल।

कुसुभिलो = पिशुन ∠कुसुम्भ।

कूल = सैन्यस्य पश्चाद्भाग ∠कूल

केआलू = नि सह ∠खेदालू।

गत्ताडी = वेश्या∠गात्री।

गयणरई = मेघ ∠गगनरति।

गहकल्लोलो = राहु ∠ग्रहकल्लोल।

गुम्मइओ = सचलित ∠गुल्म।

घरयदो = दर्पण∠गृहचन्द्र ।

चूओ = स्तनाग्र∠चूचुक — यह शब्द प्राकृत से ही सस्कृत मे गया हुआ लगता है।

छेधो = स्थासक ∠छेद।

झपणी = पक्ष्म∠क्षप्।

झाड = लतागहन∠झाट-यह शब्द भी प्राकृत की सम्पत्ति लगता है।

डाली = शाखा∠दल ।

तणमोल्ली = मल्लिका <तृणशूल्य ।

तबा = गौ <ताम्रा ।

तामर = रम्य <तामरस ।

तोमरिओ = शस्त्रप्रमार्जक <तोमर-जातिवाची "तोमर" पद निश्चित रूप से प्राकृतो की सम्पत्ति है इसका संस्कृत शब्दावली से कोई सम्बन्ध नही है ।

तोस = धन <तोष ।

थिण्णो = निर्दय <स्तीर्ण ।

थूरी = तन्तुवायोपकरण <तुरी-यह-शब्द भी संस्कृत मे प्राकृतो से आया होगा ।

थेरामण - कमल <स्थविरासनम् ।

थेवो = विन्दु <स्तेप या स्तोक ।

थोरो = क्रमपृथुवर्तु ल <स्थूल ।

दलिअ = निकूणिताक्ष, <दारु, दलिक

दुग्ग = नितम्ब <दुःख-अच्छा था यदि इसे दुर्गम से व्युत्पन्न किया जाता ।

दुच्चटिओ = दुर्ललित- <दुर-चण्डिक ।

दूमन्ो = अभागा <दुर्मग ।

दोहणहारी = पनिहारिन, मालिन <दोहन-हृ ।

धणिअं = गाढ <स्तन ।

धुअगाओ = भ्रमर <ध्रुवराग ।

घूणो = गज <स्थूण या स्थूल या धातु घू ।

घूणीवट्टो = अश्व <घुणीयवर्त ।

पडिमुत्ती = प्रतिकूल <प्रतिस्रोत ।

पडिसूरो = प्रतिकूल <प्रतिक्षर ।

पत्थरा = चरणाघात <प्रस्तर ।

पयन्नाओ = हर (शंकर भगवान्) <पदन्नाय ।

परमुहन्नो = वक्ष <परमुपत्व ।

परिमन्नो = निषिद्ध, भीरु < परभक्त-अच्छा था कि इसकी व्युत्पत्ति परिभीन. या परिभ्रान्त. से दी जाती । दोनो में कुछ तो अर्थसाम्य होता ।

परिहपो = भृगं <चपलहृदय ।

पसूअ = कुसुमं <प्रसूनम् ।

पायप्पहणो = कुक्कुट ∠पादग्रहण ।

पासाणिग्रो = साक्षी ∠पार्श्वनीत ।

पिच्छी = चूडा (चोट) ∠पुच्छ–स्वयं पुच्छ शब्द की ही संस्कृत मे नदिग्ध स्थिति है ।

पुडइणी = नलिनी ∠पुटकिनी ।

पुश्राइणी = पिशाचगृहीता ∠पिशाचिनी या पूयादिन् ।

पुश्राई = तरुण उन्मत्त, पिशाच ∠पिशाच ।

पंग्राल = प्रमाण (माप) ∠प्राय ।

बुक्कणो = काक ∠बुक्कन ।

बुंदीरो = महिषः ∠ वृद्ध ।

बोक्कडे = छाग ∠बर्कर ।

भारोच्छ्य = तालफल ∠भार–उच्छ्रय ।

भल्लू = ऋक्ष ∠भल्लूक – यह शब्द निश्चित रूप से संस्कृत की सम्पत्ति नही है ।

भुक्कणो = श्वा, मद्यादिमान ∠बुक्कन ।

मट्टो = ग्रलस ∠मृज् त–हिन्दी की बोलियो मे आज भी मट्ठर, ग्रालसी अर्थ मे प्रचलित है । शब्द के प्रयोग का वातावरण ही बताता है कि यह लोक-भाषा का शब्द रहा होगा ।

मम्मक्का = उत्कण्ठा ∠मर्म ।

मयलवुत्ती = रजस्वला ∠ (मलिनपुत्री) ।

मरालो = ग्रलस ∠मराल ।

मुहालक्खो = तरुण ∠महालक्ष्य ।

मेली = सघ या सभा ∠मेल या मेला ।

रिट्ठो = काक ∠ग्ररिष्ट ।

रोमराइ = जघन (नितम्ब) ∠रोमराजि ।

रोट्ट = तन्दुलपिण्ट ∠रुच्य ।

लयापुरिवो = यत्रपद्माकारवधूर्लिख्यते ∠लतापुरुष ।

वइरोडा = जार ∠पति-रोट

वइवेला = सीमा ∠वेला ।

वग्रो = गृध्रपक्षी ∠वृक ।

वहुधारिणी = नववधू ∠वधू ।

वैग्रल्ल = मृदु ∠वैकल्य ।

समाहरण=अनुगमन∠सम-सावन ।
सगोल्ली = समूह∠सघातः ।
हुलित्र =शीघ्र∠लघु ।

श्री रामानुज स्वामी द्वारा दी गई ये व्युत्पत्तिया पूर्णतया ध्वनिसाम्य पर आधारित हैं देशी शब्दो मे सस्कृत शब्दो की एक-दो ध्वनियो की भी छाया उन्हे मिली कि वे उन्हें संस्कृत के शब्दो मे व्युत्पन्न कर लेते हैं। व्युत्पत्ति का तात्पर्य केवल ध्वनिसाम्य खोजना नहीं होता। शब्द मे ध्वनियो का उतना महत्त्व नही होता, जितना उसके अर्थ का। इन व्युत्पत्तियो मे शब्दो के अर्थ पर ध्यान दिये बिना ही ध्वन्यात्मक साम्य का निदर्शन कर दिया गया है। देशीनाममाला मे ध्वन्यात्मक प्रयोग की दृष्टि से तत्सम और तद्भव शब्द बहुतायत से सकलित हैं। परन्तु उनकी व्युत्पत्ति देते समय उनके अर्थों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक हो जाता है। श्री रामानुज स्वामी इस तथ्य को ध्यान मे नही रख सके हैं। कहीं-कहीं तो उनका सस्कृत-भाषा-प्रेम अतिहास्यास्पद स्थिति पैदा कर देता है। सस्कृत को सभी प्राकृतों का मूल मानकर जब तक शब्दो की व्युत्पत्तिया दी जाती रहेंगी, तब तक इसी प्रकार की भ्रान्तिया उठती रहेंगी। अच्छा तो यह हो कि अनादिप्रवृत्त प्राकृतो (लोक भाषाओ) की शब्दावली (देशी पदो) को ध्यान मे रख कर, स्वयं सस्कृत भाषा की जाच की जाये। इस दृष्टि से किया गया प्रयत्न महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने लायेगा। सस्कृत भाषा ने कितने ही लोकरूढ शब्दो को आत्मसात कर लिया है।

जहा तक देशी शब्दो और सस्कृत के शब्दो मे ध्वनिगत समानता का प्रश्न है यह अत्यन्त स्वाभाविक है। दोनो ही प्रकार के शब्दो का सम्बन्ध भारतीय आर्य-भाषाओ से है। यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि देशी-शब्द युग युगो मे सामान्य जनता के बीच व्यवहृत होते थे ये शब्द हैं, इसके विपरीत सस्कृत के तत्सम शब्द साहित्यिक भाषा की सम्पत्ति है। साहित्यिक भाषा और जनभाषा मे जहा कुछ मौलिक भेद होते हैं, वही कुछ समानताए भी होती है। दोनो समानान्तर यात्रा करती रहती है, परन्तु दोनो की अर्थाभिव्यक्ति प्राय समान नही होती। कभी कभी अनजाने ही जनभाषा के शब्द साहित्यिक भाषा मे आ जाते हैं और साहित्यिक भाषा उन्हे आत्मसात कर लेती है। यही प्रक्रिया जन भाषाओ मे भी चलती है। भारत विभिन्न जातियो और सस्कृतियो का देश है। आर्यों के यहा आने के पहले और बाद मे भी अनेको जातिया आयी उनकी अपनी भाषा रही होगी। अपने पूर्व आयी हुई जातियो से शब्द ग्रहण करना, आर्य-जनभाषा के लिए स्वाभाविक बात थी। इसी प्रक्रिया से इसमे द्राविड[1] और आग्नेय कुल (कौल, सथाल, मुण्डा आदि) की भाषाओ के शब्द आये होगे। आर्यों के बाद भारत मे आकर बसने वाली जातियो से भी जनभाषा ने शब्द ग्रहण किया होगा। अरबी-फारसी के शब्द इसी प्रक्रिया से आये होगे। आचार्य हेमचन्द्र ने इस कोश का सकलन 12 वी शताब्दी मे किया था। उस समय तक आर्य जनभाषाए विभिन्न आर्येतर एव विदेशी शब्दावली का प्रभाव ग्रहण कर चुकी रही होगी। ये आर्येतर भाषाओ के तथा विदेशी शब्द, दोनो ही, देशी शब्दो की अपनी प्रकृति प्रत्ययगत विशेषताओ से सयुक्त होकर व्यवहृत हुए है। 12 वी सदी तक लोक-भाषा मे जितने भी शब्द प्रचलित थे, हेमचन्द्र ने सभी (प्राप्य) का सकलन इस कोश मे कर दिया होगा। इसका विस्तृत विवरण आगे दिया जायेगा।

उपरोक्त तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए देशीनाममाला की शब्दावली को निम्नलिखित विभागो मे वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) अनादिप्रवृत्त प्राकृत भाषा (लोकभाषा) के वे शब्द जिनकी व्युत्पत्ति नही दी जा सकती। देशीनाममाला के अधिकाश शब्द इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे शब्दो का स्रोत भारत मे भिन्न-भिन्न समयो मे आने वाली जातियो की भाषा मानी जा सकती है।

---

1. (अ) दे ना मा की ग्लासरी मे द्राविड भाषाओ से गृहीत कई शब्दो की ओर सकेत किया गया है।
   (ब) इ डियन एटीक्विरी–जिल्द 46 मे के. अमृतराव के एक लेख 'दि द्रवीडियन एलीमेट इन प्राकृत' में भी कई शब्दो की ओर सकेत किया गया है।

(2) संस्कृताभिधान में अप्रसिद्ध प्रा. भा. आ. या उससे भी पूर्व की भारोपीय भाषा से संबद्ध शब्द—जैसे—

अणुवइ < अचिर युवति = नववधू, अइराणी < अविराज्ञी = इन्द्राणी, अक्कदो < [illegible] = [illegible], अगुज्झहरो < अगुह्यधर = रहस्यभेदी, अणुसूआ < अनुसूता = आसन्नप्रसवा, उच्छुअरण्ण < इक्षुअरण्य = इक्षुवाटिका आदि ।[1]

(3) द्राविड परिवार की तमिल, तेलुगु-कन्नड भाषाओं के शब्द—

श्री रामानुजस्वामी ने दे. ना. मा. की ग्लासरी में कई शब्दों को द्राविड परिवार की भाषाओं से संबद्ध बताया है। 'देशी' शब्दों में इस परिवार की शब्दावली का पाया जाना भारत की द्राविडी (विभाषा) की समस्या को भी हल कर देता है। प्राचीनकाल में द्राविड भाषा भाषी आज की भांति केवल दक्षिण तक ही सीमित नहीं थे। आर्यों के भारत आने पर उनका प्रथम संपर्क द्राविड भाषा-भाषियों से ही हुआ होगा। उस सम्पर्क के बीच शब्दावली का आदान-प्रदान अत्यंत स्वाभाविक बात थी। मध्यदेश में कभी द्राविड भाषा-भाषियों का निवास था इसका प्रमाण आज भी मिलता है। बलोचिस्तान की 'ब्राहुई' तमिल की ही एक शाखा है। हरियाणा में तो बोली जाने वाली भाषाओं में तमिल का तृतीय स्थान पाया जाता है। अतः प्राचीनकाल से ही द्रविडों और आर्यों का संपर्क रहने के कारण कुछ शब्द यदि आर्यजनभाषाओं में आ गये तो यह अत्यन्त स्वाभाविक है। दे. ना. मा. में आये हुए कुछ द्राविड शब्द[2] इस प्रकार हैं—

अणु-शालिभेदः द्र.-अनुमु ।
अप्पो-पिता-द्र.-अप्पा ।
पुल्ली शार्दूल द्र.-पुलि ।
[illegible]-द्र. इल्लु ।
इल्लो दरिद्र- द्र. इल्ल ।
उडिदो माषधान्य-त. उन्दुन्दु-क. उद्दु ।
उम्बरो अधिक-द्र. उम्बु ।
उम्मरो गृहदेहली त. उम्मारपदि ।
[illegible] ।
[illegible] ।

गी है ।

कट्टारी-क्षुरिका-द्र क (ट्) ठारी।

कण्णवाल कर्णस्याभरण कुण्डलादि-कर्ण द्र. वाल।

कंदी-मूलशाकम् ते कन्द।

करडो-व्याघ्र -द्र, करडि

कल्ला-मद्यम्-द्र. कल्लु।

किरो-शूकरः-द्र. किरु।

कीरो-शुकः-द्र किलि।

कुरुडो-निर्दयः, निपुण-द्र कुरुल।

कुल्लो-ग्रीवा, असमर्थः ते. कुल्लु।

कोलित्तं -उल्मुक-द्र कोढिढ।

खडक्की-लघुद्वार-ते किटिकि।

खड्ड-श्मश्रु-द्र गड्ड या कट्ट।

खण्ण-खातम्-ते कन्नमु।

खुड्ड-लघु त कुट्टै।

गड्डी-गन्त्री-क गाडि।

गुत्ती-वधन, इच्छा, वचन-ते. गुत्ति।

गुफमुमिग्र-सुगन्धि-ते गुमगुम।

गोडी-मजरी-क. गोण्डे।

घारो-प्राकार-ते गोड।

चिक्का-अल्पवस्तु-द्र चिरु, चिक्का।

चिच्ची—हुताशन द्र. शिक्कु चिक्कु।

छाण-धान्यादिमलन-द्र चानि, शानि।

छिप्प-भिक्षा-द्र चिप्पा (छिप्पा)।

छिल्ल-छिद्रम्-ते चिल्लि।

जगडिग्रो-विद्रावित, कदर्थित -ते जगडमु

जोण्णलिग्रा-धान्य-ते जोन्न।

झडी निरतरवृष्टि-द्र जडि।

झेंडुग्रो-कन्दुक -द्र. चण्डु, जण्डु झण्डु भी उच्चारण हो सकता है

डोग्रो-दारुहस्त'—ते डोकि।

तट्टी वृत्ति -द्र तट्टि।

तडमडो-क्षुभित-ते तड-बडु।

तट-पृष्ठम्-ते तुण्टि।

नग्गाय-आर्द्रम् ते.-तण्णि ।
तलागे-नगर रक्षकः-द्र तलेयारि ।
तुप्पो-कौतुक, स्निग्ध -द्र. तुप्पा ।
दारो-कटिसूत्रम्-त दारमु ।
पमटि-कनकम्-ते पमिदि ।
पावो-सर्प -द्र पामु या पावु ।
पिल्ल-लघुपक्षिरूप-ते पिल्ल ।
पुल्ली-व्याघ्र द्र - .पुलि ।
पेड-षण्डम-द्र पेण्डर ।
पोट्ट-उदरम् द्र पोट्ट ।
फिट्टो-वामन-ते पोट्टि ।
बलिग्गो पीन -बलिमिना ।
बुब्बुला-बुद्बुद-ते बुलबुला ।
बोंदी-रूपम् द्र बोन्दि ।
मड्डी-शिरीषवृक्ष -द्र वण्डि या वण्डि ।
माम्रो-ज्येष्ठभगिनीपति -द्र बाव या भाव ।
मगुसो-नकुल -द्र मुंगिस ।
मज्जिग-अवलोकितम् ते मज्जिग ।
मट्टो-गृहीत मोट्ट ।
मट्टो-अलस -द्र मट्टि ।
मडो-षण्ड--ते मेड ।
मडी-निशाहिता-ते मण्डि-गा ।
मत्था-निर्देशतः द मते ।
मार्ड-गोमय (चालदार) त मायिर या मशिर ।
मारिश्र -सूक्ष्म्-क माटि-त. माटम ।
मामा-मातुलानी-द्र मामा ।
मामी-मातुलानी-द्र (अम्) मामि ।
मुड्डी-चुम्बितम् ते मुद्दु ।
मेरा-मर्यादा-ते मेरा ।
मोग्गरो-मुकुलम्-द्र मोग्ग-ते मोगर
म्हेर्ड-प्रधानम् द्र म्हेड्डी ।
रण-दुर्गमम्-द्र रण ।

वट्टिव–परकार्यम्–ते वेट्टि ।
वड्डो–महान् ते ओड्डु ।
वहुण्णी–ज्येष्ठभार्या–द्र वदिन, मदिनि ।
विल्ल–अच्छ–द्र, वेल्ल ।
सरा–माला–ते सरमु ।
सिप्प–भूसी क–सिप्पे ।
सूला–वेश्या–क सूले ।
हिड्डो–वामन –ते. पोट्टि ।

देशीनाममाला की शब्दावली मे द्राविड भाषा के इन सभी शब्दो का मिलना कोई आश्चर्यजनक बात नही है । जहा तक इन शब्दो के दक्षिणी भाषाओ से सबद्ध होने का प्रश्न है, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि ये शब्द दक्षिणी भाषाओ की अपनी ही सम्पत्ति है । प्राकृत व्याकरणकारो की भाति द्राविड भाषाओ के व्याकरणकार भी इस कोटि के शब्दो को 'देशी' ही मानते है । उनका मन्तव्य है कि ये शब्द युग युगो से भाषा मे व्यवहृत होते चले आ रहे हैं, और उनका मूल उद्‌गम अत्यन्त रहस्यात्मक है । इस सदर्भ मे द्राविड व्याकरणकारो की मान्यताओ का उल्लेख आवश्यक है ।

प्राकृत व्याकरणकारो की भाति द्राविड व्याकरणकारो ने भी भाषा मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो को तीन वर्गों मे विभाजित किया है—(1) तत्सम (2) तद्‌भव (3) देश्य । सस्कृत से ज्यो के त्यो ले लिये गये शब्दो को वे तत्सम कहते हैं-जैसे–ते –विद्या-पिता, क –वन, घन, वस्त्र–त कमल, कारण इत्यादि । सस्कृत के वे शब्द जो द्राविड भाषाओ मे जाकर ध्वनिपरिवर्तनादि से सयुक्त हो या द्राविड भाषाओ की प्रकृति–प्रत्यय आयोजनाओ के अनुरूप होकर प्रयुक्त होते है–तद्‌भव कहे गये हैं—जैसे —

ते आकासमु (स. आकाश), मेगमु (स मृग), वक्र (स वक्र) । क-पयाण (स. प्रयाण), वीदि (स वीथी) वीणे (स वीणा) । त शुत्तम (स शुद्धम्), शट्टि (स षष्टि), पिच्चे या बिच्चै (स भिक्षा) । ऐसे शब्द जो इन दोनो वर्गो के शब्दो से सर्वथा भिन्न है और भाषा मे युग–युगो से प्रयुक्त होते आ रहे हैं, देश्य कहलाते हैं-जैसे—

ते ऊरु-कस्बा, इल्लु-घर, क -मने-घर, होल-मैदान, नेल-फर्श, त ऊर-कस्बा-, मने-घर, तरे-फर्श आदि । द्राविड व्याकरणकारो ने सस्कृत से असबद्ध लगभग सभी शब्दो को 'देश्य' मान लिया है । ऐसे शब्दो के मूल उद्‌गम के विषय मे

नहीं चुन है। प्राकृत व्याकरणकारों के समान ही उनका भी मत है कि इन शब्दों का मूल उद्गम एक गूढ़ रहस्य है। ये अनादिकाल में देश की भाषाओं में व्यवहृत होते आये हैं। इसी परम्परा में कवियों ने इन्हें अपनी रचनाओं में भी व्यवहृत किया है।

दे ना मा की अधिकांश शब्दावली भी अनादिप्रवृत्त प्राकृत भाषा (लोकभाषा) की शब्दावली है। इसमें मिलने वाले द्राविड भाषाओं के देश्यपद हेमचन्द्र की 'देशी' शब्द विचार से सम्बन्धित मान्यताओं की ही पुष्टि देते हैं। ऊपर द्राविड भाषा के जो शब्द संकेतित किये गये हैं, वे द्राविड व्याकरणकारों के अनुसार 'देश्य' हैं और अनादिकाल में प्रचलित देशभाषा से संबद्ध हैं। क्या इससे यह ध्वनित नहीं होता कि द्राविड भाषाओं के ऐसे शब्द निश्चित रूप से किसी अन्य देशभाषा से लिए गए शब्द होंगे। जिस तरह ये शब्द द्राविड भाषाओं में गये होंगे, उसी प्रकार आर्य भाषाओं में भी आ सकते हैं। इस वर्ग के शब्द जनता की व्यावहारिक बोल-चाल की भाषा में प्रचलित रहते हैं, ये किसी एक भाषा की सम्पत्ति बनकर नहीं रहते। इनका प्रसार नित्य भिन्न-भिन्न भाषाओं में होता रहता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दे. ना मा में प्राप्त होने वाली द्राविड भाषाओं की शब्दावली भी 'देश्य' ही है। इसमें दक्षिणी भाषाओं की सम्पत्ति न कहकर युग युगों में प्रचलित देश-भाषा या जन-भाषा की सम्पत्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा। आचार्य हेमचन्द्र की भी यही मान्यता है, उन्होंने एक सीमित क्षेत्र की देश्य' शब्दावली का संकलन इस कोश ग्रन्थ में किया है। यदि वे भारत के सम्पूर्ण प्रान्तों और सभी भाषाओं की देश्यशब्दावली का संकलन करते तो [illegible] बीत पड़ते। यही बात उन्होंने दे. ना मा 1।4 में कही है।

(4) विदेशी शब्द

के अमृतराव[1] और जार्ज ग्रियर्सन[2] प्रभृति विद्वानों ने दे ना मा की देश्य शब्दावली में सम्मिलित कुछ अरबी-फारसी के शब्दों की ओर संकेत किया है। इस [illegible] में इन शब्दों का होना कोई चौंकाने वाली बात नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र से बहुत पहले से ही मुसलमान व्यापारी भारत आने लगे थे। 711 ई. में मुहम्मद कासिम सिन्ध का शासक हो गया और उसके उत्तराधिकारी तब तक शासन करते रहे जब तक कि राजपूतों ने उन्हें उखाड़ नहीं दिया। आगे महमूद गजनवी

1 [illegible] हिस्ट्री—जिल्द 46, के अमृतराव का लेख 'दि द्रवीडियन एलीमेंट [illegible]'

2 [illegible] हेमचन्द्र—जर्नल-जनरल आव रायल एशियाटिक [illegible] (1919) पृ. 235

के एक वजीर ने व्यापारिक कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए फारसी लिपि प्रचलित की और उसके सहारे व्यापारिक फारसी शब्द भी चल पड़े। हेमचन्द्र के समय तक अनेको अरबी-फारसी के शब्द सामान्य जनभाषाओ मे घुलमिल चुके थे। सम्भवतः इन विदेशी शब्दो का इतना प्राकृतीकरण हो गया और तत्कालीन जन-भाषाओ मे इतने सामान्य हो गये थे कि आचार्य हेमचन्द्र इन्हे पहिचान न सके होगे। अत' कोश मे कुछ फारसी-अरबी शब्दो का आ जाना अधिक आश्चर्यजनक नही। ऐसे कुछ शब्दो के उदाहरण यहा दिये जा रहे है—

1 अगुत्थल (दे. ना 1।31) - अगुलीयम् - अगूठी। फारसी–अगुश्तरी, पहलवी – अगुस्त, जन्द-अगुश्त (स्त का वर्ण विकार त्थ है जैसे हस्त हत्थ) स छाया–अगुष्ठ। यहा एक तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। कोई एक समय था जब भारतीय और ईरानी आर्य एक ही प्रकार के भाषा-भाषी थे। दोनो अलग हुए तो दोनो की भाषाओ और सस्कृतियो मे भी अन्तर आता गया। दोनो की भाषाओ मे अनेको ऐसे शब्द होगे जो आज भी समान रूप और अर्थ वाले हैं। पारसियो का जन्द-अवेस्ता तो थोड़े ध्वनि परिवर्तनो के साथ सस्कृत मे रूपान्तरित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे अगुस्त और अगुष्ठ शब्द दोनो एक ही स्रोत से उद्भूत लगते है। जहा तक अगुत्थल शब्द के फारसी शब्द होने की सम्भावना है यह यदि अगुस्त से निष्पन्न किया जा सकता है तो अगुष्ठ से भी निष्पन्न करने मे कोई कठिनाई नही दिखती—अगुष्ठ7 अगुट्ठ7 अगुत्थ। यह शब्द तद्भव माना जाना चाहिए–विदेशी नही। फारसी मे इसकी उपस्थिति देखकर इसे विदेशी शब्द कह देना उपयुक्त बात नही है।

2 दत्थरो (दे ना 5।34)-हस्तशाटक'—रूमाल, फारसी–दस्तार7दत्थर (जैसे–प्रस्ताव पत्थव)। यह शब्द निश्चित रूप से फारसी का होगा। जनभाषा मे यह ध्वनिविकार के साथ प्रचलित हो गया होगा। फारसी का ज्ञान न होने के कारण, ध्वनिगत विशेषताओ को देखते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने इसे प्राकृत की शब्द सम्पत्ति समझ लिया होगा।

3. बधो (दे ना 6–88)-भृत्य –नौकर, फारसी–बन्दह, पहलवी-बन्दक, प्राचीन फारसी-बन्दक, सस्कृत छाया–बन्धक। फारसी भाषा-भाषी समाज मे गुलाम रखने की परम्परा के बाहुल्य को देखते हुए, इस शब्द का सम्बन्ध भले ही फारसी से जोड दिया जाये पर जो स्थितिया–अगुत्थल शब्द के सम्बन्ध मे बतायी जा चुकी हैं, बहुत कुछ इस शब्द पर भी सत्य प्रतीत होती हैं। संस्कृत बन्धक शब्द फारसी के बन्दह या बन्दक से अधिक प्राचीन लगता है। फिर दासो को, भाग जाने के डर से,

उन्हें कर्ज आदि देकर बांध रखने की परम्परा भारतीय आर्य समाज में भी अप्राप्य घटना नहीं है। ऐसी स्थिति में इस शब्द को भी तद्भव माना जाना चाहिए, विदेशी नहीं।

4 परक्क (दे ना 6–8)–अल्प स्रोत –छोटी नदी, फारसी परक–एक नदी का नाम। "व्यक्तिवाचक संज्ञा जातिवाचक संज्ञार्थ प्रयुक्त होती है। जैसे संस्कृत गाण्डीव (अर्जुन का धनुष) फारसी में गाण्डीव सामान्य धनुषवाची शब्द है। गंगा शब्द नदीवाची रहा है।"[1] फारसी-भाषी व्यापारियों के माध्यम से यह शब्द जन जीवन में थोड़े अर्थ परिवर्तन के साथ प्रचलित रहा होगा। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे प्राकृत शब्द समझ कर संकलित कर लिया होगा।

5 बोक्कडो (दे ना 6–96)–छाग –बकरा फारसी के माध्यम से प्राप्त मूल अरबी शब्द बकर–बैल, हिब्रू में बकर पशु (प्राकृतानुरूप ध्वनिविकार–अकार को ओकार जैसे पद्म को पोम्म, र का ड में परिवर्तन) सं छाया बोक्कर। रामानुजस्वामी, इसे तद्भव मान सं. के "बर्कर" शब्द से व्युत्पन्न करते हैं। परन्तु संस्कृत में 'अवि' और 'अजा' जैसे शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। अतः यह शब्द अरबी का ही होना चाहिए।

6 जवण (दे ना 3–40) हय सनाह —जीन, फारसी-जीन, पहलवी-जीन, जन्द-जइनि, संस्कृत छाया जयनम्। श्री रामानुजस्वामी इस शब्द को तद्भव मानते हैं। प्राकृत में यह शब्द संस्कृत के ही माध्यम से आया होगा। जन्द में जइनि और संस्कृत में जयन शब्द का साथ साथ मिलना, दोनों को किसी अन्य संयुक्त भाषा से सम्बद्ध करता है। यह आर्यों की उस समय की भाषा का शब्द माना जाना चाहिए जब दोनों साथ-साथ रहते पर बोलते रहे होंगे। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा संकलित यह शब्द संस्कृत के 'जयनम्' शब्द का ही प्राकृत भाषा में व्यवहृत रूप होगा।

की यह परिपाटी बिल्कुल ही कामचलाऊ है। देशीनाममाला के हजारो शब्दो को 'देश्य' मान लेने मे आपत्ति नही है, तो फिर एक शब्द को खीचतान कर विदेशी भाषा तक ले जाने का मोह कितना भ्रामक है। मेरी दृष्टि मे यह शब्द पूर्णतया 'देशी' है और भारतीय आर्य-भाषा का है। परन्तु ग्रियर्सन जैसे विद्वान् की हा मे हा मिलाने के कारण सभी विद्वानो ने इसे विदेशी शब्द मान लिया है।

दे ना मा के कुछ ऐसे ही शब्द है, जिन्हे विद्वानो ने विदेशी शब्द सम्पत्ति से सम्बन्धित बनाया है। जहा तक हेमचन्द्र के दृष्टिकोण का प्रश्न है, वे इन शब्दो के विदेशी होने की स्थिति से बिल्कुल अनभिज्ञ है। उन्होने लोक-भाषाओ मे प्रचलित देखकर ही इन्हे सकलित कर दिया होगा। सस्कृत मे पारसियो के माध्यम से कितने ही शब्द भारत आ गये है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता है कि ये शब्द विदेशी हो गये। इसके विपरीत स्वय ईरानी आर्यशाखा की भाषाए-भारतीय आर्य भाषाओ ने बहुत अधिक प्रभावित है। बहुत प्राचीनकाल से ही भारत के आर्य, ईरान जाकर उन्हे अपनी शासनपटुता से प्रभावित करते रहे है। इतिहासकार स्मिथ का विचार है कि पल्हव दूसरी शताब्दी मे भारत के पश्चिमी भाग मे विजेता बनकर फारस मे आ गये थे। 641 ई० मे फारसी वश के समाप्त हो जाने पर जरथुस्त्र के उपासक भारत मे आ बसे, जो आज भी पारसी कहलाते हैं। जरथुस्त्र के इन उपासको मे अधिकाश भारतीय आर्यवशज ही हैं। ऐसी स्थिति मे, भारतीय आर्यभाषा की इतनी प्राचीन परम्परा मे देशी शब्दो की व्युत्पत्ति न खोजकर, विदेशी भाषाओ मे जाना उपयुक्त नही है।

(5) ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द—

प्रारम्भ से ही मनुष्य अनुकरणशील प्राणी रहा है। वह पशुपक्षियो की अव्यक्त ध्वनिया सुनता है, अन्य वस्तुओ के गिरने, हिलने-डुलने आदि से उत्पन्न आवाजे, सुनता है और भावावेश मे आकर स्वय या अन्य द्वारा विहित भावाभिव्यजक विभिन्न नादो को कर्णगोचर करता है। वह इन सभी का अनुकरण करता है। इसी अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण भाषा मे अनेक धातुप्रकृतिया, नाम और विस्मयादि-बोधक शब्द, व्यवहृत होने लगते है। दे ना की शब्दावली मे इस कोटि के शब्द भी पर्याप्त मात्रा मे है। इस कोश की शब्दावली का सम्बन्ध लोकजीवन से है, अत ध्वन्यनुकरणात्मक शब्दो का मिलना अतिस्वाभाविक है। दे ना मे आये हुए ध्वन्यनु-करणात्मक शब्दो का विवरण इस प्रकार है—

(1) लोकोद्भूत ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द -जैसे-

खम्मक्खमो-सग्राम, खिक्खिरी डोम के हाथ मे रहने वाली फटे बास की छडी (खिर खिर शब्द करने के कारण), खुट्ट-त्रुटितम् (किसी वस्तु के टूटने

कुंभिनो-चौर — संस्कृत मे यह शब्द 'घडियाल' एक जलजन्तु विशेष का अर्थ देता है। पानी मे चौर की तरह छिपकर रहने के कारण हो सकता है कि लोक मे इसका अर्थ लक्षणया 'चौर' हो गया हो।

कुररी-एक पशुविशेष-इस शब्द का सस्कृत मे भी यही अर्थ है, पर यह शब्द लोकभाषाओ से ही सस्कृत मे गया हुआ प्रतीत होता है।

कोलाहलो — खगरुतम्-चिडियो का कलकल निनाद। यहा भी सामान्य कोलाहलवाची शब्द को एक विशिष्ट अर्थ मे सीमित कर दिया गया है।

छाया-कीर्ति:,भ्रमरी।

तिमिंगिलो-मीन:।

तुच्छ-अवशुष्क।

पाली दिक् या दिशा।

पालीबंधो-तडाग:।

पूरण शूर्प:।

इसी प्रकार दे ना मे जितने भी तत्सम शब्द है, उनका अर्थ संस्कृत के शब्दो से भिन्न हैं। अर्थगत वातावरण और इनके लोक जीवन मे बहुतायत से व्यवहृत होने को ही ध्यान मे रखकर आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दो का सकलन 'देशी' शब्दो के बीच किया होगा। ऐसे शब्दो का सकलन जहां कही भी वे करते हैं—स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेते हैं कि अमुक शब्द सस्कृत मे भी प्रयुक्त होता है, परन्तु अर्थगत वैषम्य के कारण मैंने इसे 'देशी' शब्दो के बीच सकलित कर दिया है। आचार्य हेमचन्द्र की इतनी स्पष्टवादिता पर यदि सुधी विद्वानो को सदेह हो तो, इसके लिए स्वय हेमचन्द्र दोषी नही है, वल्कि दोष उन पूर्वाग्रहग्रस्त विद्वानो का ही है, जिनके ऊपर सम्कृत हावी है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि शब्द और अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध है, शब्द और ध्वनि का नही। शब्दो का अर्थ लोक व्यवहार पर आधारित होता है, उनके ध्वनि प्रयोग पर नही। इस कोटि के शब्दो का सकलन करते समय हेमचन्द्र ने इसी दृष्टिकोण का समक्ष रखा था। सुधी आलोचको से कही अधिक, सस्कृत के जानकार, हेमचन्द्र थे, अत इस कोटि के शब्दो को कोश मे स्थान देना उनकी भ्रान्ति नही कही जा सकती।

**(ख) धातुओ के अर्थातिशय योग से युक्त देशी शब्द या तथाकथित तद्भव —**

दे ना पर जितने भी विद्वानो ने विचार किया है लगभग सभी का यह मत रहा है कि-इस कोश मे तद्भव शब्दो का बाहुल्य है। पीछे रामानुज स्वामी द्वारा तद्भव बताये गये कुछ प्रमुख शब्दो के उदाहरण दिये जा चुके हैं। ध्वनिगतविकारो

जो लक्षित कर ही इन शब्दों को तद्भव कह दिया गया है, जबकि स्थिति कुछ और ही है। तत्सम शब्दों की भांति आचार्य हेमचन्द्र ने ऐसे शब्दों का प्रयोग भी अर्थ की दृष्टि से ही देशी शब्दों के बीच किया है। यहां भी उनका ध्यान शब्दों के लोक-स्वरूप की ही ओर गया है, साहित्यिक प्रयोगों की ओर नहीं। इस वर्ग के शब्दों में अधिकांश धातुमूल शब्द हैं। इन शब्दों मे धातुगत अर्थातिशय योग सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। संस्कृत में ही उपसर्गों के योग से धातुगत अर्थ बदलते हुए देखा जाता है। प्रहार, विहार, आहार, संहार—सभी का अर्थ अलग है। दे. ना. की तथाकथित तद्भव शब्दावली में भी यही अर्थातिशय योग देखा जा सकता है। सभी प्राकृत व्याकरणकारों ने प्राकृत की धातुओं को आदेश द्वारा तद्भव स्वीकार कर लिया है। दे. ना. के शब्दों में ऐसी अनेकों धातुओं का प्रयोग हुआ है।[1] परन्तु अर्थातिशय योग से उनका अर्थ भिन्न हो गया है। जैसे—

आअड्डिअ-पञ्चशतविनम् मृदवान् आअड्ड है–जिसका अर्थ व्या-पृ- अर्थात् लगाना है। यहां अर्थ भिन्न हो गया है।

आमग्गा-इच्छा। आमग्ग-प नु 'सवच' या सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।

तुरु—तूरना के स्थान पर हनना।

हरा—हिना के स्थान पर श्रवण करना।

इसी प्रकार आविद्ध का अर्थ प्रेरितम् है, आमग्गिओ (आश्रित) का अर्थ-सम्पूर्ण पाया गया है, आलविग्र का अर्थ लगड़ा है न कि सजा हुआ। ऐसे अनेक तत्सम शब्द पूरे कोश में देखे जा सकते हैं, जो स्वरूप से तो तद्भव लगते हैं, पर अर्थ की दृष्टि से पूर्णतया देशी है। आचार्य हेमचन्द्र जहां भी ऐसे शब्दों का संकलन करते हैं, स्पष्ट रूप से कह देते हैं कि यह शब्द तद्भव भी हो सकता है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से देशी है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर वे अपने पूर्व के देशीकारों के अनेकों शब्दों को देश्य नहीं मानते हैं उनके द्वारा गिनाये गये अनेकों तद्भव शब्दों को देशी मान लेते हैं। इन शब्दों पर सर्वत्र वे अर्थ की ही महत्ता देते देखे जाते हैं' स्वरूप, व्युत्पत्ति और व्याकरण विकारों की वे बिल्कुल परवाह नहीं करते।

टिप्पणी—

मे यह कहा जा सकता है कि देशीनाममाला की शब्दावली के सकलन का आधार पूर्णतया लोकव्यवहार मे प्रयुक्त शब्दो का अर्थ है । इसी दृष्टि से इसका अध्ययन भी किया जाना चाहिए । देशीनाममाला के शब्द अनादिकाल से सामान्य जनजीवन की भाषा मे व्यवहृत होने वाली शब्दावली के अ श है । इनका साहित्यिक भाषाओ से प्राय दूर का ही सम्बन्ध रहा है । इनका ज्ञान पूर्णतया लोकज्ञान पर आधारित है । हेमचन्द्र इसी तथ्य की ओर 'लोकतोऽवगन्तव्य' कहकर सकेत देते है । इनकी व्युत्पत्ति ढू ढना एक दुरूह ही नही असम्भव सा कार्य है, फिर भी इनकी व्युत्पत्ति की जितनी भी सभावनाए हो सकती हैं, सभी की ओर सकेत कर दिया गया है । देशीनाममाला की अधिकाश शब्दावली वातावरण की दृष्टि से ग्रामीण है । आज भी ग्रामीण भाषाओ मे इसकी शब्दावली का व्यवहार पर्याप्त मात्रा मे मिलता है । ये शब्द सतत वर्तमान रहने वाली उन जनभाषाओ के अ श हैं जो समय-समय पर सदैव साहित्यिक भाषाओ को शब्द-सम्पत्ति प्रदान करती रही है ।

—— ——

# सहायक ग्रन्थ-सूची


1 अथर्ववेद

2 अनेकार्थसंग्रह—हेमचन्द्र

3. अपभ्रंश भाषा—वीरेन्द्र श्रीवास्तव

4 अपभ्रंश साहित्य—हरिवंश कोछड़

5 अभिधानचिन्तामणि—हेमचन्द्र

6 अमरकोश - अमरसिंह

7 अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन—डा. कपिलदेव द्विवेदी

8 अष्टाध्यायी— पाणिनि।

9 आर्य संस्कृति के मूलाधार—बलदेव उपाध्याय

10 आर्यासप्तशती—गोवर्धनाचार्य

11 इन्ट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव फिलालाजी—पी. डी. गुणे

12 इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत—वूलनर, ए. सी.

13 उक्तिव्यक्ति प्रकरण—दामोदर पंडित (सं. मुनिजिनविजय)

14 उक्तिरत्नाकर—सं. मुनिजिनविजय

15 ऋक्प्रातिशाख्य

16 ऋग्वेद

17 ए कम्पेरेटिव ग्रामर आव गौडियन लैंग्वेजेज—हार्नले

18. ए कम्पेरेटिव मराठी ग्रामर—आर. बी. जोशी

19. ए कम्पेरेटिव ग्रामर आव सिन्धी लैंग्वेज—ट्रम्प

20. ए कम्पेरेटिव ग्रामर आव बेंगाली लेंग्वेज-[illegible]।

21 ए गामर ग्राव प्राकृत लैंग्वेज–डी सी सरकार
22. एवल्यूशन ग्राव ग्रवधी–डा बाबूराम सक्सेना
23. ए वैदिक वर्ड कन्कार्डेन्स–विश्वबन्धु शास्त्री
24 ग्रोरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ग्राफ बेंगाली लेंग्वेज-सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
25 कबीर की भाषा–डा मातावदल जायसवाल
26 कर्पूरमंजरी–राजशेखर
27 कम्पेरेटिव ग्रामर ग्राव माडर्न ग्रार्यन लेंग्वेजेज–बीम्स, जे.
28 कम्पेरेटिव ग्रामर ग्राव द्रवीडियन लेंग्वेजेज–काल्डवेज ग्रार
29 कामसूत्र–वात्स्यायन
30 काव्यादर्श–दण्डी
31. काव्यानुशासन–हेमचन्द्र–स. रसिकलाल सी पारिख
32 काव्यालंकार–रुद्रट
33 कीर्तिलता ग्रौर ग्रवहट्ठ भाषा–शिवप्रसाद सिंह
34 कुमारपाल चरित–हेमचन्द्र
35 कुमारपालप्रतिबोध-सोमप्रभसूरि
36 कुमारपालप्रतिबध–जिनमण्डन उपाध्याय
37 कुवलयमाला कहा–उद्योतन सूरि
38 खजुराहो ग्रार्ट–उर्मिला ग्रग्रवाल
39 गउडवहो-वाक्पतिराज
40 गाहासत्तसई–हाल
41 ग्रामर ग्राव ईस्टर्न हिन्दी–हार्नले
42 ग्रामीण हिन्दी–डा धीरेन्द्र वर्मा
43 गुजराती लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर–दिवटिया, एन बी.
44 छन्दोऽनुशासन–हेमचन्द्र
45 डोयत्से-लिसरातूरत्साइटुंग–जीगफीड गोल्डस्मिथ
46 णायकुमारचरिउ–पुष्पदत–स हीरालाल जैन
47 णेमिणाहचरिउ- लखमेव (लक्ष्मणदेव)
48 तरंगवईकहा–पादलिप्त
49 ताण्ड्यब्राह्मण–
50 दक्खिनी हिन्दी–डा. बाबूराम सक्सेना
51. द्वात्रिंशिका (स्तोत्र) -हेमचन्द्र
52 दि कल्चरल हैरिटेज ग्राव इण्डिया–मजूमदार

53 दि संस्कृत लैंग्वेज—टी. बरो

54 देशीनाममाला—हेमचन्द्र, सं. पिशेल

55 देशीनाममाला—हेमचन्द्र—सं. मुरलीधर बनर्जी

56 देशीनाममाला—हेमचन्द्र—गुजराती सभा, बम्बई से प्रकाशित।

57 दोहाकोश—राहुल सांकृत्यायन

58 नाट्यशास्त्र—भरत

59. निघण्टु—हेमचन्द्र

60 निरुक्तम्—यास्क—टीका पं. उमाशंकर शर्मा

61 नीतिशतक—भर्तृहरि

62 परमात्मप्रकाश एण्ड योगसार आव जोइन्दु—उपाध्ये ए. एन.

63 परिभाषेन्दुशेखर—नागेशभट्ट

64 पाइअलच्छीनाममाला—धनपाल, सं. बूलर

65 पालि इंग्लिश डिक्शनरी—कीलहार्न

66 पाहुडदोहा—मुनि रामसिंह

67 पालिप्रकाश—[illegible]

68 पालिव्याकरण—जगदीश काश्यप

69 पालिव्याकरण—भिक्षु धर्मरक्षित

70 पुरातनप्रबन्ध संग्रह—संकलन

71 पुरानी हिन्दी—गुलेरी

85. प्राकृत द्व्याश्रयकाव्य—हेमचन्द्र
86 प्राकृतविमर्श – डा. सरयूप्रसाद अग्रवाल
87 प्राकृत भाषाओं का रूप-दर्शन–आचार्य नरेन्द्रनाथ ।
88. प्राकृत लक्षण—चण्ड
89 प्राकृतव्याकरण—मधुसूदनप्रसाद मिश्र
90 प्राकृत भाषा—डा प्रबोध वेचर दास पंडित
91 प्राकृतभाषा और उसका साहित्य–डा. हरदेव बाहरी
92 प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा नेमिचन्द्र
93 प्राकृतव्याकरण - पी एल वैद्य
94 प्राकृतप्रकाश—कावेल
95 प्राकृतभाषाओं का व्याकरण–पिशेल-हिन्दी अनुवाद-हेमचन्द्र जोशी
96 प्राकृतपेङ्गलम् –भोलाशंकर व्यास
97 प्राकृत-विमर्श—डा सरयूप्रसाद अग्रवाल
98 पृथ्वीराजरासो की भाषा—डा नामवरसिंह
99 प्री आर्यन एण्ड प्री द्रवीडियन इन इण्डिया—पी सी बागची
100 व्रजभाषा व्याकरण—डा धीरेन्द्र वर्मा
101 व्रजभाषा—डा धीरेन्द्र वर्मा
102 वालरामायण—राजशेखर
103 विहारी-सतसई--टीका-जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
104 भविसयत्तकहा – धनपाल
105. भारतीय आर्य भाषा—हि० अनु०–डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
106 भारत का भाषा सर्वेक्षण—हि० अनु० डा० उदयनारायण तिवारी
107 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी - सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
108 भाषाविज्ञान और हिन्दी—डा सरयूप्रसाद अग्रवाल
109 भाषा-विज्ञान—डा श्यामसुन्दर दास
110 भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा उदयनारायण तिवारी
111 मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण—
सुकुमार सेन, हि. अनु डा. महावीर प्रसादलखेरा
112 महाभारत—
113 महाभाष्य—पतञ्जलि
114 मृच्छकटिक—शूद्रक
115 मोहराजपराजय—यशपाल

116 योगशास्त्र—हेमचन्द्र

117 राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ

118 राजपूताने का इतिहास—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

119 रामायण (पउमचरिउ)—स्वयंभू

120 लाइफ आव हेमचन्द्र —बूलर

121 लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया—ग्रियर्सन सभी जिल्दें

122 लिंग्विस्टिक सर्वे—ग्रियर्सन, जी ए

123 लीलावईकहा कोऊहल

124 वर्णरत्नाकर— ज्योतिरीश्वर ठाकुर

125 वाक्यपदीय—भर्तृहरि

126 विल्सन फिलालाजिकल लेक्चर्स (1914)—भण्डारकर

127 वीतरागस्तुति —हेमचन्द्र

128 वैयाकरणभूषणसार — भूषण

129 वैराग्यशतक —भर्तृहरि

130 शतपथ ब्राह्मण—

131 शृंगार प्रकाश - भोज

148 हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग–नामवर सिंह
149 हिन्दी व्याकरण–कामताप्रसाद गुरु
150. हिन्दी निरुक्त-किशोरीदास वाजपेयी
151. हिन्दीशब्दानुशासन–किशोरीदास वाजपेयी
152 हिस्टारिकल लिंग्विस्टिक्स इन इण्डोआर्यन—एस एम. कत्रे
153. हिस्टारिकल ग्रामर आव इन्स्क्रिप्शनलप्राकृत—एम ए. महेन्दले
154 हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश–जी वी तगारे
155 हेमचन्द्राज प्राकृतग्रामर-वैद्य पी एल.
156 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित–हेमचन्द्र

कोशग्रन्थ

1 अभिधानराजेन्द्र
2 अभिनव हिन्दी कोश—हरिशंकर शर्मा (गयाप्रसाद एण्ड संस आगरा)
3 अमरकोष—अमरसिंह
4 अवधीकोष—रामाज्ञा 'समीर'
5 अंग्रेजी हिन्दी डिक्शनरी–डा हरदेव बाहरी
6 इटिमालाजिक गुजराती इंग्लिश डिक्शनरी–एम एन बालसरे
7. ए कम्प्रेरेटिव एण्ड इटिमालाजिकल डिक्शनरी आव पालि लेंग्वेज—आर. एल टर्नर
8 ए डिक्शनरी आव पालि लेंग्वेज—आर सी. चाइल्डर्स
9 ए डिक्शनरी आव हिन्दी लेंग्वेज रे जे डी बाटे
10 तमिल लेक्सिकन–सभी जिल्दे-मद्रास यूनिवर्सिटी-प्रकाशन
11. नालन्दा विशालशब्दसागर–नवलजी(न्यू इम्पीरियल बुक डिपो नई सडक, दिल्ली
12. पाइअसद्दमहण्णवो–हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ
13 बिहारी डिक्शनरी (अपूर्ण) हार्नले ग्रियसर्न।
14 भाषा विज्ञान कोश—डा. भोलानाथ तिवारी
15. वाचस्पत्यम्
16 वैजयन्ती कोश-यादवप्रकाश कृत।
17 शब्दार्थकौस्तुभ—प्रकाशित रामनारायण लाल अग्रवाल, प्रयाग
18 शब्दकल्पद्रुम-स्याररराजा राधाकान्त देव
19 सूरब्रजभाषा कोश—टण्डन
20 संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी–मोनियर विलियम्स।
21. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी–वी० एस० आप्टे।

22 हिन्दीशब्दार्थ पारिजात–चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा (रामनारा० अग्रवाल, इलाहाबाद)

23 हिन्दीशब्द सागर-श्यामसुन्दरदास, ना प्र सभा, काशी

24 हिन्दी शब्दसंग्रह–मुकन्दीलाल श्रीवास्तव (ज्ञान म०, काशी)

25 हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश–विश्वेश्वर नारायण श्रीवास्तव इण्डि प्रेस, इलाहाबाद

26 हिन्दी लोकोक्ति-कोश–विश्वम्भरनाथ खत्री, हरीशन रोड, कलकत्ता

27 हिन्दी मुहावराकोश–डा० भोलानाथ तिवारी

28 हिन्दी मुहाविरा कोष-सरहिन्दी

29 हिन्दी तमिल कोष-दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, हैदरा०

30 हिन्दुस्तानी डिक्शनरी प्लैटसजान

31 हिन्दी पर्यायवाची कोष–श्रीकृष्ण शुक्ल

32 हिन्दी कन्नड कोष–श्रीकृष्ण शुक्ल

33 हिन्दी तमिल कोष–श्रीकृष्ण शुक्ल

34 हिन्दी तेलगु कोष-श्रीकृष्ण शुक्ल

## जर्नल्स

1 इण्डियन लिंग्विस्टिक्स।

2 इण्डियन एण्टीक्वेरी।

17 दि बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरिएण्टल स्टडीज। (युनिवर्सिटी आफ लण्डन)

18 न्यू इण्डियन एण्टीक्विटरी।

19 बुलेटिन आफ दि डकन कालेज-रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना।

20 मैमायर्स आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल।

21 सरस्वती स्टडीज--बनारस